समराइच्चकहा एक सांस्कृतिक अध्ययन

लेखक
डॉ० झिनकू यादव

भारती प्रकाशन
वाराणसी-१

प्रकाशक
भारती प्रकाशन
बी २७/९७ दुर्गाकुण्ड रोड,
वाराणसी–१

प्रकाशन वर्ष
सन १९७७
(भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद् द्वारा आर्थिक सहायता प्राप्त)

मुद्रक
वर्द्धमान मुद्रणालय
जवाहर नगर कालोनी वाराणसी

परमपूज्यगुरुवर्याणा
भारतीयसस्कृतिपुरातत्वविषयाधिगतविशेषवैदुष्याणा
प्रतिभावताम्, श्रीमता लल्लनजी गोपाल महाभागाना
करकिसलयो सादरार्पितम्
इद पुस्तक प्रसूनम् ।

प्राक्कथन

इतिहास-सरचना की अपना सीमायें और विशेषतायें ह। इतिहासकार अतीत मे प्राप्त सामग्री के माध्यम से घटनाओ एव स्थितियो के स्वरूप का निर्धारण करता है। उसके प्रमाण ही उसकी सीमायें हैं। जिन घटनाओ और स्थितियो क विषय में सयोग स कोई ऐतिहासिक प्रमाण शेष नही बचा ह उनके बारे में इतिहास प्राय मौन हो रहता ह। इतिहासकार का कार्यक्षेत्र उपलब्ध प्रमाणों की सीमा स घिरा ह। वह अतीत का प्राप्त प्रमाणो की आँखो से ही देखता ह। किन्तु प्रमाणो का मूल्याकन करके इतिहास सरचना करने में उसे तर्क एव कुछ मात्रा में कल्पना का सहारा लेना पडता ह। प्रमाण जिस रूप में उपलब्ध होते हैं इतिहासकार उन्हें उसी रूप में श्रद्धा एव भक्ति क साथ स्वीकार नही कर सकता। प्रमाणो के प्रति श्रद्धाभाव इतिहासकार का अवगुण माना जाता ह। जो प्रमाण अतीत क अवशेष या पदार्थ के रूप में उपलब्ध होने ह व स्वाभाविक ही मौन होते हैं। किन्तु इतिहासकार को इसके कारण विशेष असुविधा नही होती। ये प्रमाण मुखर तो नहीं हो पाते किन्तु इनका साक्ष्य अधिक वैज्ञानिक होता ह। इनके विषय में यह आशका नही रहती कि किसी ने विशेष उद्देश्य से प्रयास-पूर्वक एकपक्षीय उल्लेख किया है। ऐसी आशका लिखित प्रमाणो क विषय में अधिक घटित होती ह। लिखित सामग्री, वह अभिलेख के रूप में हो अथवा ग्रन्थ के रूप में, इस प्रकार के दोष स ग्रसित हो सकती ह।

रचनाओ में उनके लेखको क व्यक्तित्व और उनक उद्देश्यो की स्पष्ट छाप दिखलाई पडता ह। लेखक का व्यक्तित्व अनेक तत्वो के प्रभाव से निर्मित होता ह। जाने या अनजाने ये तत्व उसकी रचनाओ के स्वरूप को निर्धारित करते ह। जीवन और समाज पर धर्म का गहरा प्रभाव देखते हुए हम कह सकते ह कि लेखक का निजी धर्म उसके व्यक्तित्व के निर्माण में प्रमुख तत्त्वो में से रहा होगा। अनेक ग्रन्थों की रचना में लेखक के निजी धर्म के किसी विशेष तत्व की पुष्टि ही उद्देश्य के रूप में स्पष्ट उल्लिखित हुई ह।

अतीत क किसी तथ्य के विषय में यदि विभिन्न दृष्टिकोणों स विवरण उपलब्ध ह तो तुलनात्मक विवेचन के द्वारा उसके सही स्वरूप का निर्धारण किया जा सकता ह। प्राचीन भारत के धार्मिक और सामाजिक जीवन का जो विवरण ब्राह्मण ग्रन्थो में मिलता ह वह प्राय आदर्श पक्ष को ही प्रस्तुत

करता है। इन संस्थाओं के स्वरूप का मूल्यांकन करने के लिए यह आवश्यक है कि इनके आलोचकों के विचारों का भी अवलोकन किया जाय। कभी-कभी आदर्श व्यवस्था के साथ ही यथार्थ को समझने के लिए भी अन्य लेखकों द्वारा दिये गये विवरण उपयोगी होते हैं।

प्राचीन भारतीय साहित्य में से जैन ग्रन्थों को इतिहास-संरचना में उनका उचित स्थान नहीं मिल सका है। ऐसा क्यों हुआ इसकी विवेचना हम नहीं करना चाहेंगे। जैन प्रमाणों का अपना महत्त्व है। अनेक विद्वानों ने यह स्वीकार किया है कि जैन परम्परा में अनेक तथ्य अति प्राचीन हैं। ये अन्य ग्रन्थों से प्राप्त सामग्री के सही मूल्यांकन में तो सहायक हैं ही कुछ विषयों के संबंध में तो हमें कदाचित् केवल इन्हीं का सहारा है।

जैन साहित्य मुख्यतः प्राकृत एवं अपभ्रंश में है। इन ग्रन्थों के प्रामाणिक प्रकाशन एवं ऐतिहासिक मूल्यांकन की दिशा में कुछ प्रयास तो हुए हैं किन्तु प्रगति की गति संतोषजनक नहीं है। स्वाभाविक है कि प्रारंभ में शोध-कार्य ग्रन्थ अथवा लेखक विशेष के द्वारा प्रस्तुत सामग्री के विश्लेषण के रूप में सम्पादित होगा। जब इस प्रकार की सामग्री प्रभूत मात्रा में उपलब्ध हो जायगी तो उसके समग्र विवेचन और मूल्यांकन की ओर प्रयास किया जा सकता है। डा० झिनकू यादव का प्रस्तुत प्रयास इस दृष्टि से सराहनीय है। उन्होंने इतिहासकारों द्वारा उपेक्षित प्रायः प्राकृत एवं अपभ्रंश ग्रन्थों की सामग्री को इतिहास-संरचना में उचित महत्त्व दिलाना ही शोध का अपना कार्यक्षेत्र स्वीकार किया है।

जैन प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य पूर्वमध्यकालीन इतिहास के लिए विशेष रूप से उपयोगी है। इसमें राजस्थान, गुजरात और समीपवर्ती क्षेत्रों के इतिहास और सामाजिक तथा धार्मिक जीवन की वास्तविकता के विषय में बहुमूल्य सूचनाओं का भंडार निहित है। हरिभद्रसूरि की रचना समराइच्चकहा का इसमें पूर्व उपयोग यत्र-तत्र ही हुआ था। पूरे ग्रन्थ की सामग्री का संकलन और सांगोपांग विवेचन डा० यादव ने अपने प्रस्तुत ग्रन्थ में उपस्थित किया है। उन्होंने अन्य समकालीन प्रमाणों से तुलनात्मक विवेचन कर उपलब्ध तथ्यों का ऐतिहासिक मूल्यांकन किया है। इस प्रकार किसी भी तथ्य का पूर्व इतिहास प्रस्तुत करके उन्होंने उसका उचित इतिहास-क्रम में आंका है।

हरिभद्रसूरि आठवीं शताब्दी ईसवी में हुए थे। आठवीं शताब्दी कई अर्थों में संक्रान्ति काल था। प्राचीन काल की व्यवस्थायें शिथिल होकर विराम की ओर परिवर्तन की ओर बढ़ रही थीं किन्तु मध्यकाल की अवस्थायें अपना संपूर्ण रूप में प्रकट नहीं हुई थीं। इस संधि अवस्था में प्राचीन और मध्यकालीन व्यवस्थायें

परस्पर मिली-जुली दिखलाई पड़ती हैं। समराइच्चकहा में आमत प्रथा के जो विवरण मिलते हैं वे समकालीन स्थिति का परिलक्षित करते हैं। समराइच्चकहा में राजप्रासाद मंत्री न्याय-व्यवस्था दण्ड-व्यवस्था और पचकुल आदि के विषय में महत्वपूर्ण सामग्री मिलती है। पारंपरिक वर्ण-व्यवस्था के साथ ही हरिभद्रसूरि ने जाति-सबधी समकालीन वास्तविकता का भी अंकन किया है। विवाह की विधि का विवरण धर्मशास्त्रों में प्राप्त संक्षिप्त निर्देश का पूरक है और तत्कालीन सामाजिक जीवन के एक महत्वपूर्ण पक्ष का सच्चा चित्र प्रस्तुत करता है। व्यापार और उद्योगों के विषय में भी प्रचुर उपयोगी उल्लेख हैं। सास्कृतिक जीवन के विभिन्न पक्षों पर भी इस ग्रंथ से समुचित प्रकाश पड़ता है। हरिभद्रसूरि ने जैन धर्म और दर्शन के विषय में प्रामाणिक सामग्री के साथ ही समकालीन धार्मिक कृत्यों और विश्वासों की ओर भी निर्देश किया है।

मुझे आशा है कि पूर्वमध्यकालीन समाज और जीवन की वास्तविकताओं को समझने में प्रस्तुत शोध प्रबंध सहायक होगा। इसका प्रकाशन जैन साहित्य के अध्ययन के मार्ग पर अग्रसर होने में डॉ० यादव के उत्साह का वर्धक हो ऐसी मेरी शुभकामना है।

लल्लनजी गोपाल
प्रमुख कलासंकाय एव
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष प्राचीन भारतीय इतिहास सस्कृति एव
पुरातत्व विभाग
६ ३ ७७ काशी हिन्दू विश्वविद्यालय।

दो शब्द

समराइच्च कहा श्वेताम्बर जनाचाय श्रीहरिभद्र सूरि की एक महत्वपूण प्राकृत रचना ह। हरिभद्र सूरि का काल आठवी-नौवी शताब्दी में माना जाता ह। कथा का प्रमुख उद्देश्य धमकथा सुना कर लोगो का जन धम में दीक्षित कर मोक्ष की तरफ अग्रसर करना था। समराइच्च कहा में आदश और यथाथ का सघष दिखा कर अत में आदश की प्रतिष्ठा करायी गयी है। इस ग्रन्थ में जनसाधारण से लेकर राजा महाराजाओ तक क चरित्र का विस्तार एव सूक्ष्मता क साथ चित्रित किया गया ह। पूव मध्यकालीन प्राकृत कथाओं में समाज एव व्यक्ति की विकृतिया पर प्रहार करक उनमें सुधार लाने का प्रयास किया गया ह। इन प्राकृत कथाकारों ने लोक प्रचलित कथाओ क द्वारा लोक प्रचलित जनभाषा में अपने सदश लोगो तक पहुँचाने क प्रयास किये ह। इसी प्रकार समराइच्च कहा में भी समाज के विभिन्न वर्गों क वास्तविक जीवन का चित्र प्रस्तुत किया गया ह। यह ग्रन्थ अपने समय की भौगोलिक आर्थिक, प्रशासनिक, सामाजिक धार्मिक आदि विभिन्न स्थितिया क अध्ययन का एक महत्वपूण श्रोत ह। इस ग्रन्थ का रचनाकाल भारतीय इतिहास में सक्रांति का काल माना जाता ह। वदिककाल स चली आ रही प्राचीन परपराएँ जजरित हो गयी थी तथा नयी चेतनाएँ पुष्पित हो रही थीं। इस प्रकार की स्थितिया का विवरण कथाकार ने अपनी कथाओ के माध्यम स प्रस्तुत किया ह यह पूव मध्यकालीन भारतीय इतिहास एव संस्कृति का एक सबल प्रमाण स्रोत ह।

समराइच्च कहा को अपने शोध विषय का आधार प्रदान करने की सलाह मुझ प्रोफेसर लल्लनजी गोपाल से मिली। मैंने उनसे काफी विचार विमश करने के पश्चात इस ग्रन्थ का सम्पूण अध्ययन करके उसकी प्रचुर सामग्रिया पर एक सांस्कृतिक अध्ययन प्रस्तुत करने का निश्चय किया। तत्पश्चात् उन्ही के निर्देशन में मैंने जनवरी १९७० में पी० एच० डी० के लिए इसी विषय पर शोध काय प्रारम्भ किया।

प्रोफेसर लल्लनजी गोपाल जो मेरे गुरु हैं उनकी पत्नी डा० श्रीमती कृष्ण काति गोपाल तथा डा० रघुनाथ सिंह जी (भूतपूव ससद सदस्य) के सानिध्य में मैंने अपने जीवन का प्रमुख उद्देश्य अध्ययन एव अध्यापन ही निश्चित किया। प्रोफेसर लल्लनजी गोपाल क मधुर व्यवहार एव विद्वत्तापूण निर्देशन का ही परिणाम था कि मैं अपना शोधकाय तमाम कठिनाइयो के होते हुए भी पूरा कर

मका। उनके अपूर्व स्नेह तथा विद्वत्तापूर्ण सुझावों के लिए मैं उनके प्रति आजीवन आभारी रहूँगा। डा० श्रीमती कृष्ण कांति गोपाल तथा डा० रघुनाथ सिंह जी से मुझे समय-समय पर महत्त्वपूर्ण सुझाव तथा कार्य करने की प्रेरणा मिली मैं उनके प्रति हृदय से आभार प्रकट करता हूँ।

प्रस्तुत ग्रन्थ को पूरा करने में मुझे प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग के पुस्तकालयाध्यक्ष श्री सुरेशचन्द्र घिण्डियापाल से पुस्तकों की पूरी पूरी सहायता प्राप्त हुई जिसके लिए मैं उनके प्रति आभार प्रकट करता हूँ। इसी प्रकार पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान के अध्यक्ष डॉ० मोहनलाल मेहता वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के पुस्तकालयाध्यक्ष तथा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के गायकवाड ग्रन्थालयाध्यक्ष के प्रति भी आभार प्रकट करता हूँ जहाँ से मुझे पुस्तकीय सहायता मिली।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन के लिए भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद् के अध्यक्ष प्रोफेसर राम शरण शर्माजी का मैं हृदय से आभारी हूँ जिन्होंने समुचित सुझाव देकर इसके प्रकाशनार्थ अनुदान स्वीकृत किया। मैं इस पुस्तक के प्रकाशन में भारती प्रकाशन वाराणसी के श्री प्रकाश पाण्डेय के तथा वर्द्धमान मुद्रणालय का भी आभारी हूँ जिनकी सहायता से ही यह पुस्तक इस रूप में प्रकाशित हो सकी।

प्रूफ पठन में कुछ अशुद्धियाँ अनजाने में रह गयी जिसके लिए मैं पाठकों से क्षमा प्रार्थी हूँ। प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति के अध्ययन की दिशा में मेरा यह अल्प प्रयास सफल हो यही मेरी ईश्वर से प्रार्थना है।

वाराणसी

मार्च २२ १९७७। झिनकू यादव

सकेताक्षर सूची

आदि०—आदि पुराण
इपि० इडि०—इपिग्रफिया इंडिका
इडि० ऐंटी०—इडियन ऐंटीक्वरी
इडि० इपि०—इडियन इपिग्र फिकल ग्लासरास
इडि० हिस्टा० क्वाट०—इडियन हिस्टारिकल क्वाटरली
काम०—कामन्दकनीतिसार
गौतम०—गौतम स्मृति
गौतम०—गौतम धमसूत्र
नीतिवाक्या०—नीतिवाक्यामृत
पराशर०—पराशर स्मृति
पृ०—पृष्ठ
बृह०—बृहस्पति स्मृति
मनु०—मनुस्मृति
याज्ञ०—याज्ञवल्क्य स्मृति
वशिष्ठ—वशिष्ठ स्मृति
सम० क०—समराइच्च कहा
स०—सपादक

विषय-सूची

पृष्ठ संख्या



प्रथम-अध्याय

हरिभद्र सूरि का काल निर्धारण

समराइच्च कहा का शोध प्रबन्ध का आधार बनाने से पूर्व उसके रचयिता का समय निर्धारण कर लेना आवश्यक है। समराइच्चकहा और धूर्ताख्यान आदि प्राकृत कथाओं के रचयिता हरिभद्र सूरि थे जो एक जैन श्वेताम्बराचार्य के नाम से प्रख्यात थे। इनका समय निर्धारण अधोलिखित ढंग से किया जा सकता है।

कुवलयमाला कहा के रचयिता उद्योतन सूरि ने हरिभद्र सूरि को अपना गुरु माना है[1] तथा उन्होंने कुवलयमाला कहा को शक संवत ७०० (७७८ ई०) में समाप्त किया था।[2] जिससे स्पष्ट होता है कि हरिभद्र की तिथि ७७८ ई० के पूर्व ही रही होगी।[3] मुनि जिन विजय ने हरिभद्र के समय निर्णय नामक निबन्ध में हरिभद्र द्वारा उल्लिखित आचार्यों की नामावली उनके तिथि क्रम के अनुसार इस प्रकार दी है—धर्म कीर्ति (६०० ६५० ई०), वाक्यपदीय के रचयिता भर्तहरि (६०० ६५०) कुमारिल (६२० ७०० ई०) शुभगुप्त (६४० ७०० ई०) और शान्त रक्षित (७०५ ७३२ ई०)।[4] हरिभद्र सूरि द्वारा उल्लिखित इस नामावली से स्पष्ट होता है कि हरिभद्र का समय ई० सन ७०० के बाद ही रहा होगा। अतः उद्योतन सूरि के कुवलयमालाकहा के आधार पर हरिभद्र सूरि का अभ्युदय काल ७०० ई० से ७७८ ई० तक माना जा सकता है।

प्रो० आभ्यंगर ने हरिभद्र के ऊपर शंकराचार्य का प्रभाव बतलाकर उन्हें शंकराचार्य के बाद का विद्वान माना है।[5] किन्तु मुनि जिन विजय ने हरिभद्र को शंकराचार्य का पूर्ववर्ती माना है। उनके अनुसार शंकराचार्य का समय ७७८ ई०

---

१ कुवलयमाला अनुच्छेद ६ पृ० ४—'जो इच्छई भवविरहं को ण वंदए सुयणा। समय सय सत्थ गुरुणा समरमियका कहा जस्स ॥'

२ वही अनुच्छेद ४३० पृ० २८२— सा सिद्धतेण गुरुजुत्ती सतयेहिं जस्स हरिभद्दा। बहु सत्थ गथ वित्थर पत्थारिय पयड सव्वत्था ॥

३ इसका समर्थन डा० दशरथ शर्मा तथा एम० सी० मोदी ने भी किया है। दखिए—दशरथ शर्मा—अर्ली चौहान डाइनेस्टीज पृ० २२२ तथा एम० सी० मोदी—एम० क० इन्ट्रोडक्शन।

४ मुनि जिन विजय—हरिभद्राचार्यस्य समय निर्णय।

५ विंशतिविंशिका—प्रस्तावना।

में ८२० ई० तक स्वीकार किया जाता है और तर्क में बताया है कि हरिभद्र ने अपने पूर्ववर्ती सभी विद्वानों का उल्लेख किया है किन्तु शंकराचार्य का[1] नहीं जिससे हरिभद्र का काल शंकराचार्य के पूर्व निश्चित होना अभीष्ट है।

उपमितिभवप्रपंचा कथा के रचयिता सिद्धर्षि ने अपनी कथा की प्रशस्ति में हरिभद्र को अपना गुरु मान कर उनकी वंदना की है।[2] प्रो० आयंगर ने हरिभद्र को सिद्धर्षि का साक्षात् गुरु मान कर उनका समय विक्रम संवत् ८०० ९५० माना है परन्तु जिन विजय के अनुसार आचार्य हरिभद्र द्वारा रचित ललितविस्तरावृत्ति के अध्ययन से सिद्धर्षि का कुवासनामय विष दूर हुआ था। इसी कारण सिद्धर्षि ने उसके रचयिता को धर्मबोधक गुरु माना है।[3]

ऊपर के विवरण को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि जो हरिभद्र कुवलयमाला कहा के रचयिता उद्योतन सूरि के गुरु रह चुके थे (जिन्होंने ७७८ ई० में कुवलयमाला कहा की रचना की थी) वह सिद्धर्षि (जिनका समय दसवीं शताब्दी के प्रारम्भ का माना जाता है) के गुरु कदापि नहीं हो सकते और न तो उन पर शंकराचार्य का प्रभाव ही सिद्ध किया जा सकता है।

हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय श्लोक ३० में जयन्त भट्ट की न्यायमंजरी के कुछ[4] पद्य ज्यों के त्यों प्राप्त होते हैं। पण्डित महेन्द्र कुमार ने जयन्त की न्याय मंजरी का रचना काल ई० सन् ८०० के लगभग मानकर हरिभद्र का समय ८०० ई० के बाद का स्वीकार किया है[5]। किन्तु यह तिथि मान लेने पर हम उन्हें उद्योतन सूरि का गुरु नहीं मान सकते। नेमिचन्द्र शास्त्री के अनुसार सम्भवतः हरिभद्र और जयन्त इन दोनों ने किसी एक ही पूर्ववर्ती रचना से उक्त पद्य को उद्धृत किया है।[6]

सन्मतितर्क के रचयिता मल्लवादी का निर्देश हरिभद्र ने अनेकान्तजय

---

१ मुनि जिन विजय—हरिभद्राचार्यस्य समय निर्णय।

२ वही पृ० ५।

३ नेमि चन्द्र शास्त्री—हरिभद्र के प्राकृत कथा साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन पृ० ४४।

४ न्यायमंजरी विजय नगर संस्करण पृ० १२९—गम्भीर गर्जितारम्भ-निर्भिन्न गिरिगह्वरा। रोलम्बगवल व्यालतमालमलिनत्विषः॥ त्वङ्गत्तडिल्लतासङ्गपिशङ्गोत्तुङ्गविग्रहाः। वृष्टिं व्यभिचरन्तीह नैवं प्रायाः पयोमुचः॥ सिद्धिविनिश्चय टीका की प्रस्तावना, पृ० ५२॥

५ नेमिचन्द्र शास्त्री—हरिभद्र के प्राकृत कथा साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन पृ० ४६॥

पनाका की टीका में किया है। नेमिचन्द्र शास्त्री के अनुसार हरिभद्र सूरि मल्लवादी के समसामयिक विद्वान थे जिनका काल ८२७ ई० के आस पास माना गया है[1]। अत कुवलयमाला कहा के रचयिता उद्योतन सूरि के शिष्यत्व को ध्यान में रखते हुए हरिभद्र का समय ७३० ई० से ८३० ई० तक माना है।[2]

इन उपरोक्त तर्कों को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि हरिभद्र सूरि ७०० ई० के बाद से लेकर ८२७ ई० के कुछ बाद तक जीवित रहे। चूंकि ऊपर हरिभद्र द्वारा उल्लिखित अपने पूर्व आचार्यों की सूची में ज्ञात रचित धर्मकाल ७०५ ई० से ७२२ ई० तक बताया गया है। अत स्पष्ट है कि यदि गान रचित का तिथि सही है तो हरिभद्र ७०५ ई० के बाद ही हुए होंगे। मुनि जिन विजय ने इनका जो काल निर्धारण ७०० से ७७० ई० तक किया है वह ७०५ ई० के बाद का ही तक संगत प्रतीत होता है और हरिभद्र सूरि का मल्लवादी की समकालीनता का ध्यान में रखते हुए उनकी तिथि ७३० ई० के बाद से लेकर ८३० ई० के लगभग मानी जा सकती है।

हरिभद्र सूरि का जीवन वृत्तात

हरिभद्रसूरि की ही रचनाओं से उनके जीवन वृत्तान्त सम्बन्धी कुछ विवरण प्राप्त होते हैं। आवश्यकसूत्र टीका प्रशस्ति के आधार पर यह कहा जा सकता है कि हरिभद्र श्वेताम्बर सम्प्रदाय के विद्याधरगच्छ के शिष्य थे। गच्छपति आचार्य का नाम जिन भट्ट और दीक्षा गुरु का नाम जिनदत्त था। इनकी धममाता याकिनी महत्तरा थी।[3] मुनिचन्द्र द्वारा रचित उपदेशपद टीका प्रशस्ति (११७४ ई०) जिनदत्त का गणधरसार्धशतक (११६८ से ११२१ ई०) प्रभाचन्द्र का प्रभावकचरित (वि० सम्वत १३३४) राजशेखर द्वारा रचित प्रबन्धकोष एवं सुमतिगणि द्वारा रचित 'गणधरसार्धशतक बृहद् टीका (वि० स० १२८५) आदि के आधार पर हरिभद्र सूरि का जीवन वृत्तान्त स्पष्ट होता है। ये राजस्थान के चित्रकूट (चित्तौड) नामक स्थान में जन्म लिये थे। इनका जन्म एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था और अपनी विद्वता के कारण ही वहा के राजा जीतारि के राज पुरोहित नियुक्त हुए थे। बाद में इन्होने दीक्षा ग्रहण कर

---

१ नेमिचन्द्र शास्त्री—हरिभद्र के प्राकृत कथा साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन पृ० ८६।

२ वही पृ० ४७॥

३ नेमिचन्द्र शास्त्री—हरिभद्र सूरि के प्राकृत कथा साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन, पृ० ४८॥

जन श्रमण के रूप में अपना जीवन राजपूताना और गुजरात में व्यतीत किया। समराइच्च कहा की कथा में उल्लिखित जनपदों एवं नगरों आदि के वर्णन के आधार पर कहा जा सकता है कि हरिभद्रसूरि ने समस्त उत्तर भारत का भी भ्रमण किया था। किन्तु उनकी रचनाओं में दक्षिण भारत का विशेष वर्णन नही मिलता है जिससे प्रतीत होता है कि हरिभद्र ने मुख्यतया उत्तरी भारत, राजपूताना और गुजरात में ही श्रमण के रूप में भ्रमण किया होगा।

हरिभद्र सूरि के जीवन की महत्वपूर्ण घटना उनका धर्म परिवर्तन है। उनकी यह प्रतिज्ञा थी कि जिसका वचन मैं स्वयं न समझूं उनका शिष्य हो जाऊं। संयोगवश हरिभद्र सूरि एक बार एक बिगड़े हुए हाथी से बचने के लिए याकिनी महत्तरा नाम की साध्वी के आश्रम में पहुँचे। वहां उन्होंने उस साध्वी द्वारा "हरिपणग चक्कीण केसवो चक्की। केसव चक्की केसवदुचक्की केसव चक्की य"[1] कहे गये गाथा का अर्थ न समझने पर साध्वी से उसका अर्थ पूछा। साध्वी ने उन्हें गच्छ पति आचार्य जिनभट्ट के पास भेजा और आचार्य से अर्थ सुनकर वे उन्हीं के द्वारा दीक्षित हो गये। कालान्तर में वह उन्हीं के पट्टधर आचार्य बन गये।

हरिभद्र सूरि ने अपने को याकिनी सूनु कहा है क्योंकि याकिनी महत्तरा के ही प्रभाव से इन्होंने अपना धर्म परिवर्तित कर जैन धर्म में दीक्षा ग्रहण की थी। मुख्य रूप से उन्होंने याकिनी को अपनी धर्म माता स्वीकार किया। हरिभद्र सूरि भवविरह सूरि अथवा विरहांक कवि के रूप में भी जाने जाते थे जिसका उल्लेख उद्योतन सूरि के कुवलयमाला कहा तथा हरिभद्र की स्वयं की रचनाओं में आया है। हरिभद्र ने अपने ग्रन्थों की अन्तिम गाथा तथा श्लोक में कभी भव विरह और कभी विरहांक कवि आदि का प्रयोग किया है।

हरिभद्र सूरि जिनभट्ट आचार्य के पास जब गये तो उनसे धर्म का फल पूछा। आचार्य ने धर्म के दो भेद बतलाये—सस्पृह (सकाम) और निस्पृह (निष्काम)। सकामधर्म का आचरण करने वाला स्वर्गादि सुख का भागी बनता है तथा निष्काम धर्म का आचरण करने वाला भव विरह मार्ग (जन्म जरा मरणादि से छुटकारा पाना) का अनुगामी होता है। हरिभद्र ने भव विरह का ही श्रेय समझ कर ग्रहण किया[2]। अतः किसी के द्वारा नमस्कार या वन्दना किए जाने पर वे उसे भव विरह करने में उद्यमवन्त होओ कहकर आशीर्वाद

---

१ जैकोबी द्वारा लिखित समराइच्चकहा की प्रस्तावना पृ० ८॥

२ नेमिचन्द्र शास्त्री—हरिभद्र सूरि के प्राकृत कथा साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन पृ० ५०॥

देते थे। भक्त लोग भव विरह सूरि चिरजीवी हो कहते हुए प्रस्थान कर देते थे। इस प्रकार 'भव विरह' रूप में लोक प्रिय होने के कारण हरिभद्र ने स्वय भव विरह शब्द को ग्रहण किया और उसी नाम से कवि अथवा आचार्य कहे जाने लगे।[1]

रचनाए

आचार्य हरिभद्र सूरि द्वारा लिखे गये ग्रन्थो की सूची के विषय में विद्वानो में मतभेद है। अभयदेव सूरि ने पचाशक की टीका में मुनि चन्द्र ने उपदेश पद की टीका में और वादिदेव सूरि ने अपने स्यादवाद रत्नाकर में हरिभद्र को १४०० प्रकरणो का रचयिता बताया है राजशेखर सूरि ने अपनी अर्थ दीपिका में तथा विजय लक्ष्मी सूरि ने अपने उपदेश प्रासाद में इनको १४४४ प्रकरणो का प्रणयनकर्ता माना है।[2] राजशेखर सूरि ने अपने प्रबन्ध कोश में इनकी रचनाओ की सख्या १४४० बतायी है[3]। लेकिन अब तक के उपलब्ध ग्रन्थो की सूची देखते हुए लगभग १०० ग्रन्थो के नामो का पता लगा है जो हरिभद्र सूरि द्वारा रचित कहे जा सकते है। डा० नेमिचन्द्र शास्त्री ने हरिभद्र सूरि की रचनाओ की एक तालिका दी है[4] जिनमें आगम ग्रन्थो और पूर्वाचार्यो की कृतियो पर टीकाओं की सख्या १६ है स्वरचित ग्रन्थो में टीका सहित मौलिक ग्रन्थ ७ है एव टीका रहित मौलिक ग्रन्थ जिनमें समराइच्च कहा धूर्ताख्यान षड्दर्शन समुच्चय आदि ग्रन्थ भी सम्मिलित है की सख्या २७ है तथा कुछ सन्दिग्ध रचनाये भी है जिनकी सख्या ४३ है।

समराइच्चकहा की सक्षिप्त कथावस्तु

समराइच्चकहा की कथा नौ भव में कही गई है। इन नौ भवो में समरादित्य के नौ जन्मो की कथा आई है। प्रथम भव में गुणसेन और अग्नि शर्मा की कथा कही गई है। अग्नि शर्मा अपने बाल्यावस्था के सस्कार और हीनत्व की भावना के कारण ही गुणसेन द्वारा पारण के दिन भूल जाने के कारण उसके ऊपर क्रुद्ध हो जाता है और जन्म-जन्मान्तर तक बदला लेने की भावना लेकर मृत्यु को प्राप्त होता है। परिणामत वह अनन्त ससार की ओर अग्रसर होता

---

१ नेमिचन्द्र शास्त्री—हरिभद्र सूरि के प्राकृत कथा साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन पृ० ४५॥

२ वही पृ० ५१॥

३ वही पृ० ५१॥

४ वही पृ० ५२–५४॥

है। इधर गुणसेन पश्चाताप की अग्नि में जलते हुए अपने सात्विक गुणों के कारण धर्म की ओर उन्मुख होता है। अन्त में दोनों मर कर दूसरे जन्म में पिता और पुत्र रूप में उत्पन्न होते हैं। गुणसेन सिंह कुमार के रूप में तथा अग्नि शर्मा आनन्द के रूप में जन्म लेते हैं जिनकी कथा दूसरे भव में कही गई है। आनन्द अपने पिता सिंह कुमार द्वारा दिये गये राज्य से संतुष्ट न होकर पूर्वजन्म के संकल्प के अनुसार पिता को बन्दी बना लेता है और अन्त में मार डालता है। तृतीय भव में अग्नि शर्मा की आत्मा जालिनी और गुणसेन की आत्मा शिखिन के रूप में चित्रित किये गये हैं। इस भव में भी माता जालिनी अपने पुत्र शिखिन को अपने पूर्व जन्म के प्रण का लक्ष्य बनाती है और विषमिश्रित लड्डू खिला कर मार डालती है। चतुर्थ भव में वही गुणसेन और अग्नि शर्मा क्रमशः धन और धनश्री (पति-पत्नी) रूप में दिखाये गये हैं और अंत में धन भी धनश्री के पूर्वजन्म के कोप का भाजन बनता है। पंचम भव में जय और विजय की कथा कही गई है। इस भव में विजय कुमार पूर्व जन्म के कुत्सित संस्कार के ही फलस्वरूप जय को षड्यंत्र से मार डालता है। छठे भव में धरण और लक्ष्मी की कथा कही गई है जो परस्पर पति और पत्नी के रूप में चित्रित किये गये हैं। इस भव में भी लक्ष्मी (पत्नी) का वैर भावना प्रज्वलित होता है और धरण को मार डालने का षड्यंत्र करता है। सप्तम भव में सेन और विषेण की कथा कही गया है और अंत में सेन श्रमण धर्म का आचरण करते हुए भ्रमण करते हैं तथा विषेण उस पूर्व भव के विकार से उत्पन्न क्रोध के कारण मारने का प्रयास करता है किन्तु क्षेत्र देवता के प्रभाव से असफल रहता है। आठवें भव में गुणचन्द्र और वानमंतर की कथा आती है। गुणचन्द्र अपने पूर्व जन्मों के सत्कर्मों के प्रभाव से शुद्ध आत्मा तथा वानमंतर दुष्कर्मों द्वारा उत्पन्न विकार के फलस्वरूप दुश्चरित्र बनता है। इस भव में भी वानमंतर गुणचन्द्र को मारने का निरंतर प्रयास करता है लेकिन वह गुणचन्द्र के अन्दर उत्पन्न सात्विकी प्रभाव के कारण असफल रह जाता है। अंत में नवें भव में समरादित्य और गिरिषेण की कथा कही गयी है। समरादित्य अपने पूर्व जन्मों के सत्कर्मों के प्रभाव से संसार से निवृत्त हो जाता है और मोक्ष प्राप्त करता है। जबकि गिरिषेण अपने दुष्कर्मों के परिणाम स्वरूप संसार गति को प्राप्त होता है।

समराइच्चकहा अपने समय की संस्कृति एवं सामाजिक रीति रिवाजों का एक प्रमुख स्रोत है। इस ग्रन्थ में प्राचीन भारत के अन्त तथा पूर्व मध्यकाल के प्रारम्भ के सामाजिक आर्थिक राजनैतिक एवं धार्मिक सम्बन्धों का नया रूप मिलता है। सम्पूर्ण प्राचीन भारत में सभी ओर यहाँ भारतीय

परम्पराओं का ह्रास तथा नयी चेतना का विकास इस ग्रन्थ की विशेषता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन भारतीय सामाजिक परम्पराओं का क्रमिक ह्रास तथा नये सामाजिक संगठनों का प्रारम्भ किस प्रकार हुआ इसका प्रमाण और विवेचन हमें समराइच्चकहा में देखने को मिलता है।

इस ग्रन्थ के रचयिता श्वेताम्बर जैनाचार्य हरिभद्र सूरि हैं। वैदिक धर्म का आचरण करने वाले तपस्वी एवं मुनिजनों के आचार एवं विचार का यत्र तत्र वर्णन करते हुए जैन विचारों की विशेषता बता कर जैन धर्म में लोगों की प्रवृत्ति पैदा करना इस ग्रन्थ का लक्ष्य है। समराइच्चकहा एक जैन ग्रन्थ होने के साथ-साथ आठवीं शताब्दी के भारत की सम्प्रदायों एवं प्रचलित विचार धाराओं की सूचना का एक प्रामाणिक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ की सूचनायें जैन धर्म से प्रभावित जान पड़ता है जिसकी दृष्टि प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के अध्यायों में यथोचित की गयी है।

समराइच्चकहा तत्कालीन समाज की आर्थिक अवस्था का एक प्रधान स्रोत है। देश के अन्दर तथा देश के बाहर के द्वीपों के साथ जलमार्गों द्वारा व्यापार का जितना सुविस्तृत उल्लेख समराइच्चकहा में मिलता है उतना अन्यत्र विरल है। उस समय के व्यापारियों के सामने स्थल एवं जल मार्गों में उत्पन्न कठिनाइयों का विस्तृत वर्णन समराइच्चकहा में देखने को मिलता है। इस ग्रन्थ की एक अन्य विशेषता यह है कि इसके अधिकतर पात्र व्यापार एवं वाणिज्य करते हुए दिखलाये गये हैं और इन्हीं नायकों को अन्त में जैन धर्म में प्रवृत्त हुआ दिखलाया गया है। सम्भवतः जैन धर्मावलम्बियों के सिद्धान्त में कृषि कर्म को प्राथमिकता न देकर व्यापार-वाणिज्य को अधिक प्रश्रय दिया गया है जो अहिंसावादी जैन धर्म के प्रभाव के कारण प्रतिपादित जान पड़ता है।

समराइच्चकहा के प्रत्येक भव की कथा शिल्प वर्ण्य विषय, चरित्र स्थापत्य संस्कृति निरूपण एवं सन्देश आदि विभिन्न दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। यहाँ आदर्श और यथार्थ का संघर्ष दिखा कर अन्त में आदर्श की प्रतिष्ठा की गयी जान पड़ती है। कुछ अन्य विचारकों ने भी यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्राकृत कथा साहित्य बहुत ही उपयोगी है। जनसाधारण से लेकर राजा महाराजाओं तक के चरित्र का जितने विस्तार एवं सूक्ष्मता के साथ प्राकृत कथाकारों ने चित्रित किया है उतना अन्यत्र दुर्लभ है।[१] प्रायः सभी प्राकृत कथाओं में यह

१ नेमिचन्द्र शास्त्री—हरिभद्र के प्राकृत कथा साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन पृ० ३९९।

स्पष्ट रूप से देखने को मिलता है कि वे पाठकों के समक्ष जगत का यथार्थ उपस्थित कर आत्म कल्याण की ओर प्रवृत्त करने वाला सिद्धान्त उपस्थित करते हैं।[1] समराइच्च कहा के हर भव में प्रायः ये सारी विशेषताएँ पायी जाती हैं।

यह प्राकृत कथाएँ आगम काल से ही प्रारम्भ होकर पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी तक विकसित होती रहीं। इन प्राकृत कथाओं में समाज और व्यक्ति की विकृतियों पर प्रहार कर उनमें सुधार लाने का प्रयास किया गया है। प्राकृत कथा साहित्य की प्रमुख विशेषता यह है कि कथाकारों ने लोक प्रचलित कथाओं को लोक प्रचलित जन भाषा में व्यक्त किया और उन्हें अपने धार्मिक ढाँचे में ढाल कर धर्म प्रचारार्थ एक नया रूप दिया। विंटरनित्ज ने भी प्राकृत कथा साहित्य की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए—लिखा है कि जैनों का कथा साहित्य वास्तव में विशाल है। साहित्य की अन्य शाखाओं की अपेक्षा हमें जन साधारण के जीवन की झाँकियाँ स्पष्ट रूप से देखने को मिलती हैं। जिस प्रकार इन कथाओं की भाषा और जनता की भाषा में अनेक साम्य हैं उसी प्रकार उनका वर्ण्य विषय भी विभिन्न वर्गों के वास्तविक जीवन का चित्र हमारे सामने प्रस्तुत करता है।[2] उन्हीं के विचार में जैन आचार्यों ने जन सामान्य के हित को ध्यान में रखते हुए प्राचीन जैन आगम ग्रन्थ तथा उनपर प्रारम्भिक टीकाएँ प्राकृत भाषा (मागधी और महाराष्ट्री) में लिखा जो सर्वसाधारण की भाषा थी।[3] समराइच्च कहा आठवीं-नौवीं शताब्दी की जनप्रचलित भाषा में अंकित एक बृहद् कथा साहित्य है जिसमें राजा महाराजाओं से लेकर समाज के निम्नस्तर तक के व्यक्तियों का सही स्वरूप प्रस्तुत किया गया है। इसमें तत्कालीन भारतीय समाज में प्रचलित रीति रिवाजों रहन-सहन के ढंग, सामाजिक संगठन राजनीतिक आर्थिक एवं धार्मिक स्थिति का स्पष्ट चित्रांकन किया गया है। प्राकृत कथा साहित्य में इसका अपना विशिष्ट स्थान है जो प्राकृत कथाओं की सम्पूर्ण विशेषताओं का भण्डार स्वरूप जान पड़ता है।



---

१ नेमिचन्द्र शास्त्री—हरिभद्र के प्राकृत कथा साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन पृ० १०० ।
२ विंटरनित्ज—हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर भाग २, पृ० ५७१ ।
३ वही पृ० ५७३ ।

द्वितीय-अध्याय

भौगोलिक उल्लेख

समराइच्च कहा में भारत की भौगोलिक सीमा के अन्तर्गत पूर्व में कामरूप आसाम पश्चिम में हस्तिनापुर, दक्षिण में सौराष्ट्र और उत्तर में हिमालय तक के प्रदेशों का उल्लेख है। इस सीमा के बाहर कुछ द्वीपों यथा—चीन द्वीप सिंहल द्वीप रत्न द्वीप, महाकटाह आदि का उल्लेख है। विभिन्न द्वीपों और नगरों के साथ-साथ अनेक वन पर्वत और नदियों का भी उल्लेख है जिनके आधार पर हरिभद्र द्वारा उल्लिखित भारत की भौगोलिक दशा का वर्णन किया जा सकता है।

द्वीप

समराइच्च कहा में निम्नलिखित द्वीपों का उल्लेख मिलता है।

जम्बू द्वीप[1]—समराइच्च कहा में जम्बू द्वीप की स्थिति आदि के बारे में विस्तृत उल्लेख नहीं है। किन्तु जैन परम्परा में इस द्वीप का विशेष महत्व बताया गया है। जम्बू वृक्ष के नाम के कारण ही इस द्वीप का नामकरण हुआ। इसका आकार गोल है और इसके मध्य में नाभि के समान मेरु पर्वत स्थित है। जम्बू द्वीप का विस्तार १००००० योजन है और परिधि ३ १६२२७ योजन ३० कोस १२८ धनुष १२॥ अंगुल बतायी गयी है।[2] इसका घनाकार क्षेत्र ७९० करोड़ ५६९४१५० योजन है।[3]

जम्बू द्वीप (एशिया) हिमवन (हिमालय) महाहिमवन, निषध, नील रुक्मि और शिखरी—इन छः पर्वतों के कारण भरत हैमवत, हरि विदेह रम्यक हैरण्यवत और ऐरावत नाम के सात क्षेत्रों में विभाजित है।[4] भरत क्षेत्र ५२६६/१९ योजन विस्तार वाला है जो क्षुद्र हिमवन्त के दक्षिण में तथा पूर्वी और पश्चिमी

---

१ सम० क० १, पृ० ७५ २ पृ० १३०, ३, पृ० १६२ ४ पृ० ३६३, ६, पृ० ५७६, ७ पृ० ६१२ ७१३ ८, पृ० ७३१।

२ हरिवंश पुराण ज्ञानपीठ संस्करण, ५।४५।

३ वही ५।६७।

४ जगदीश चन्द्र जैन—जैनागम साहित्य में भारतीय समाज परिशिष्ट १ पृ० ४५६।

समुद्र के बीच स्थित है। इस क्षेत्र के बीचोबीच वैताढ्य पर्वत स्थित है। गंगा सिंधु आदि नदियों तथा इस वैताढ्य पर्वत के कारण यह क्षेत्र छ भागों में विभाजित है।[1] विदेह क्षेत्र पूर्व विदेह, अपर विदेह, देवकुरु और उत्तर कुरु नामक चार भागों में विभक्त है। इसी प्रकार पूर्व विदेह और अपर विदेह अनेक विजयों में विभक्त है।[2]

जम्बू द्वीप के बीचोबीच सुमेरु पर्वत है[3] जिसकी उंचाई एक लाख योजन बतायी गयी है। यह द्वीप चारों तरफ लवण समुद्र (हिन्द महासागर) से घिरा है।[4]

चीन द्वीप[5]—समराइच्चकहा में चीन द्वीप की भौगोलिक स्थिति का उल्लेख नहीं है। अपितु भारतीय व्यापारियों द्वारा व्यापार के निमित्त उक्त द्वीप की यात्रा का वर्णन है। निशीथ चूर्णी में भी चीन द्वीप का उल्लेख है।[6] चीनी रेशम के लिए यह द्वीप प्रसिद्ध था। यह वर्तमान पूर्व एशिया का मध्यवर्ती सुप्रसिद्ध एवं विस्तृत देश है। पार्जिटर के अनुसार चीन द्वीप के अन्तर्गत तिब्बत तथा हिमालय की पूरी शृंखलाएँ सम्मिलित थी।[7] इस विस्तृत देश के पूर्व में चीन सागर एवं पीला सागर, दक्षिण पूर्व में उप द्वीप, पश्चिम में तिब्बत तथा उत्तर में प्रसिद्ध चीन की प्राचीर (दीवाल) है।

महाकटाह द्वीप—हरिभद्र कालीन भारतीय व्यापारियों के जलयान महा कटाह द्वीप को भी आया-जाया करते थे।[8] प्राचीन कटाह को ही आधुनिक केडाह नाम से जाना जाता है जो मलाया प्रायद्वीप के पश्चिमी तट पर स्थित है।[9]

भारत के प्रसिद्ध बन्दरगाह ताम्रलिप्ती से भारतीय जहाज महाकटाह की तरफ

---

१ जम्बू द्वीप प्रज्ञप्ति १।१०।
२ जगदीश चन्द्र जैन—जैनागम साहित्य में भारतीय समाज परिशिष्ट १ पृ० ४५६।
३ वा० सा० ला—इंडिया डिस्क्राइब्ड पृ० ४।
४ जगदीश चन्द्र जैन—जैनागम साहित्य में भारतीय समाज परिशिष्ट १ पृ० ४ ६।
सम० क० ६ पृ० ५४० ४१ ५४२ ५२ ५५।
६ निशीथचूर्णी २ पृ० ३००।
७ मार्कण्डेय पुराण पार्जिटर द्वारा अनूदित—पृ० १०।
८ सम० क० ४ पृ० २५० ५ पृ० ४२६ ७ पृ० ७१३।
९ आर० सी० मजूमदार— सुवर्णद्वीप पृ० ५१।

प्रस्थान करते थे। कटाह द्वीप का स्थानीय नाम कडाह द्वीप था।[1] कथासरित्सागर में कटाह को सम्पन्न एवं उन्नतिशील द्वीप बताया गया है।[2] प्रसिद्ध कहानी "दवमित" में गुहासन द्वारा ताम्रलिप्ति बंदरगाह से कटाह द्वीप तक की यात्रा का उल्लेख प्राप्त होता है।[3] यह कटाह द्वीप ही महाकटाह द्वीप के नाम से प्रसिद्ध था।

रत्न द्वीप—समराइच्चकहा में व्यापारियों के जलयान द्रव्य संग्रह के निमित्त अन्य द्वीपों के साथ-साथ रत्न द्वीप को भी जाते थे।[4] संभवत यह भाग भारत और चीन के बीच एक टापू था जहाँ रत्नों की प्राप्ति का संकेत प्राप्त होता है। तत्कालीन चीन द्वीप को प्रस्थान करने वाले भारतीय व्यापारियों के जलयान रत्न द्वीप में भी रुकते थे जो रत्न गिरि नामक पर्वत के पास स्थित था।[5]

सिंहल द्वीप—समराइच्चकहा में व्यापारिक जलयान ताम्रलिप्ति से सिंहल द्वीप आते जाते दिखाई देते हैं।[6] गरुड पुराण तथा वायु पुराण में भी इस द्वीप का नाम आया है।[7] यह द्वीप भारत के दक्षिण में स्थित है और रामेश्वर तथा सेतुबंध नामक पर्वत तथा जलमग्न स्थलमार्ग द्वारा भारत के साथ मिला हुआ है। इस तरह से गाल और द्वीप श्रेणी के रहने पर भी उसके अन्दर से नाव तथा जहाज के जाने का मार्ग है।

सुवर्ण द्वीप—समराइच्चकहा में सुवर्ण द्वीप का भी उल्लेख प्राप्त होता है।[8] स्वर्ण प्राप्ति का स्रोत समझकर लोग सुवर्ण भूमि भी कहा करते थे। यह द्वीप आधुनिक सुमात्रा के नाम से जाना जाता है। मलय उप-द्वीप और चीन सागर को हिन्द महासागर से पृथक रखकर सुमात्रा भैनग की एक समानान्तर रेखा में आरम्भ होकर वण्टम की समानान्तराल रेखा तक विस्तृत है। इसकी लम्बाई ९२५ मील और चौड़ाई ९० मील के करीब है। कथासरित्सागर में भी

---

१ के० ए० नीलकान्त शास्त्री—दी चोलाज, पृ० २१८।

२ आर० सी० मजूमदार—सुवर्ण द्वीप पृ० ५१।

३ वही पृ० ५१।

४ सम० क० २, पृ० १२६—दव्व सगह निमित्त गया रयणदीव। विढत्ताइ रयणाइ कया सजुत्ती पयट्टा निययदेसमागन्त।

५ वही ६ पृ० ५४५।

६ सम० क० ४ पृ० २५४ ५ पृ० ३९९ ४०३ ४०७ ४२०

७ आर० सी० मजूमदार—सुवर्ण द्वीप पृ० ५१।

८ सम० क० ५ पृ० ३९७ ३९८, ६ पृ० ५४० ५४४।

भारतीय व्यापारियों के जलयान व्यापार के निमित्त सुवर्ण द्वीप को आते-जाते दिखाए गए हैं।[1] इस द्वीप का प्रसिद्ध नगर कालसापुर था जो व्यापारिक सामग्रियों के क्रय विक्रय का केन्द्र था।[2] इसके साथ-साथ सुवर्ण द्वीप का उल्लेख ग्रीक लैटिन अरबी और चीनी लेखों एवं साहित्य में भी मिलता है।

जनपद

द्वीपों की भांति समराइच्च कहा में कुछ अधोलिखित जनपदों के भी उल्लेख प्राप्त होते हैं जिनसे हमें हरिभद्रसूरि कालीन भारत की स्थिति एवं समृद्धि आदि की जानकारी प्राप्त होती है।

अवन्ति—समराइच्च कहा में इसे एक जनपद के रूप में बताया गया है[3] किन्तु इसकी स्थिति आदि पर प्रकाश नहीं डाला गया है। यह प्राचीन भारत के सोलह महाजनपदों में से एक था।[4] पौराणिक परम्परा के अनुसार इस जनपद को मध्य देश के अन्तर्गत बताया गया है।[5] रैप्सन के अनुसार उज्जैन अथवा उज्जयिनी जो कि अवन्ति की राजधानी थी तथा शिप्रा नदी के तट पर स्थित थी आधुनिक मध्य भारत अथवा ग्वालियर में स्थित उज्जैन है।[6] बौद्ध साहित्य में उज्जयिनी से माहिष्मती तक के प्रदेश को अवन्ति जनपद के अन्तर्गत माना गया है[7]। दीघनिकाय के अनुसार माहिष्मती कुछ समय तक अवन्ति की राजधानी थी[8]। इस जनपद में अत्यधिक अन्न पैदा होता था तथा वहां के लोग धनी समृद्ध एवं खुशहाल थे।[9] जैन ग्रन्थ निशीथचूर्णी में भी अवन्ति को एक जनपद के रूप में उल्लिखित किया गया है जिसकी राजधानी उज्जयिनी थी।[10]

प्राचीन अवन्ति दो भागों में बटा था उत्तरी भाग जिसकी राजधानी उज्जैन

---

१ आर० सी० मजुमदार—सुवर्ण द्वीप पृ० ३७ ६४।
२ कथा सरित्सागर तरंग ५४ पंक्ति ९७।
३ सम० क० ९ पृ० ९५९ अन्नयाय समागओ अवन्ति जणवय।'
४ बी० सी० ला—हिस्टारिकल ज्योग्राफी आफ एन्शियन्ट इण्डिया पृ० ३५८ ३६२॥
५ मत्स्य पुराण प्रथम खण्ड अ० ४१ श्लोक ६॥
६ रैप्सन—एन्शियन्ट इण्डिया पृ० १७४॥
७ नमिचन्द्र शास्त्री—आदि पुराण में प्रतिपादित भारत पृ० ८६॥
८ दीघनिकाय २ २३०॥
९ अंगुत्तर निकाय ४ २५२–२५६–२६२॥
१० निशीथ चूर्णी १ पृ० १ १०२॥

थी तथा नम्गिा भाग (न्िशिपथ अवन्ति) जिसकी राजधानी माहिष्मती थी।[1] यह जनपद वतमान मालवा का वह भाग है जिसकी राजधानी उज्जयिनी थी।

उत्तरापथ—समराइच्च कहा में इसे जम्बूद्वीप के भारतवष में स्थित एक विषय (जनपद) के रूप में बताया गया है[2]। उत्तरापथ का उल्लेख निशीथचूर्णी में भी आया है[3]। यह पृथूदक का उत्तरी भाग था जिसका (पथूदक का) वतमान नाम पिहोवा है तथा जो सरस्वती नदी के तट पर स्थित है। यह वतमान मथुरा जिले का भूभाग यह है[4]। इस जनपद की जलवायु या तो अधिक गम रहती थी या तो अधिक ठंड तथा वहा वर्षा खूब होती थी।[5]

करहाटक—समराइच्च कहा में इसका उल्लेख एक जनपद के रूप में हुआ है।[6] महाभारत से ज्ञात होता है कि पाण्डव कुमार सहदेव ने करहाट को जीता था।[7] आदि पुराण में भी इस जनपद का उल्लेख है[8] जिसके दक्षिण में वनवनी तथा उत्तर में कोहना की स्थिति बतायी गयी है। नेमिचन्द्र शास्त्री ने इसकी पहचान सतारा जिले के कराड से की है।[9]

कलिंग—समराइच्च कहा में इसे भी एक विषय (जनपद) के रूप में उल्लिखित किया गया है।[10] अष्टाध्यायी में भी कलिंग जनपद का उल्लेख है[11]। महावंश में कलिंग और वग देश के राजाओं के बीच ववाहिक सबधो का वणन है।[12] कलिंगराज खारवेल के हाथी गुम्फा अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसने

---

१ ज्योग्राफिकल इन्साइक्लोपीडिया आफ ऐंसियन्ट एण्ड मेडिवल इंडिया पृ० ४०–४१।

२ सम० क० ७ प० ७११—अत्थि इहव जम्बुद्दीव भारहेवासे उत्तरावहे विसये—गया।

३ निशीथचर्णी १ प० २० ५२ ६७ ८९ १५४, २ प० ८२, ९५ ३ प० ७९ ४ प० २७।

४ मधनारग—एक चरल्स्टडी आफनिशीथ चूर्णी प० ४०६।

५ वही, प० ४०६।

६ सम० क० ४ प० ३०८—इओ म करहाडय विसये घन्नऊरय सन्निवसमि।

७ महाभारत—सभा पव अध्याय ३१।

८ आदि पुराण, १६।१५४।

९ नेमिचन्द्र शास्त्री—आदि पुराण में प्रतिपादित भारत पृ० ५१।

१० सम० क० ४ प० ३१८—ना कलिंग विसये समुप्पन्नो तथा प० ३२६।

११ अष्टध्यायी ४।१।१७०।

१२ बी० सी० ला—ज्योग्राफी आफ अर्ली बुद्धिज्म प० ४४–९५।

अंग एवं मगध मे जिन प्रतिमा को लाकर यहां स्थापित की थी। कलिंग की राजधानी कंचनपुर (भुवनेश्वर) थी[1]। कनिंघम के अनुसार कलिंग जनपद की प्रथम राजधानी चिकाकोट थी जो कलिंग पाटम से २० मील दक्षिण-पश्चिम में स्थित थी। यह जनपद ५००० ली अथवा ८३३ मील विस्तृत था।[2] कलिंग जनपद में तामलि नामक एक महत्वपूर्ण स्थान था जहां तीर्थंकर महावीर ने विहार किया था। यहां पर तामलिप्त नामक एक क्षत्रिय राजा था जो जैन धर्म का प्रेमी था वहां एक सुन्दर जिन प्रतिमा भी विद्यमान था।[3]

कामरूप—समराइच्च कहा में रूप मात्र एक जनपद के रूप में उल्लिखित किया गया है[4] किन्तु इसकी स्थिति आदि पर प्रकाश नहीं पड़ता। कनिंघम के विचार में कामरूप असम का प्राचीन नाम है जो मध्य भारत में पुण्ड्रवर्धन (पवना) से ९० ० ली अथवा १५० मील पूर्व में स्थित था।[5] सम्भवतः यह जनपद १० ००० ली अथवा १६०० मील विस्तृत भूभाग वाला था।[6] इसके उत्तर में भूटान पूर्व में नो गाग तथा नागा जिला दक्षिण में खासी की पहाड़ियां और पश्चिम में ... पर स्थित था[7]। इसकी राजधानी प्रागज्योतिषपुर थी।[8] कामरूप का वृहद् भाग एक लम्बे मैदान के रूप में है जिसके निचले भाग से ब्रह्मपुत्र नदी (पूरब से पश्चिम की तरफ) बहता है। इस नदी के दक्षिण वाला भाग पहाड़ियों के द्वारा अधिक ढका हुआ है।[9] इसकी पहचान आधुनिक गोहाटी से की गया है।[10] ... के समय में वहां का राजा भास्कर वर्मा था।

काशी[11]—समराइच्च कहा में काशी का उल्लेख एक जनपद के रूप में हुआ

---

१ आव नियुक्ति भाष्य ३०।९७।
२ कनिंघम—ऍशियन्ट ज्याग्राफी आफ इंडिया पृ० ५५०।
३ नमिचन्द्र शास्त्री—आदि पुराण में प्रतिपादित भारत पृ० ५१।
४ सम० क० ९ पृ० ९०४—अत्थि कामरूव विसये मयणउरनामनयरं।
५ ज्योग्राफी—हुलगांग पृ० १३६।
६ कनिंघम—ऍशियन्ट ज्याग्राफी आफ इंडिया पृ० ५७२–७३।
७ बा० सा० ला—हिस्टारिकल ज्याग्राफी आफ ऍशियन्ट इण्डिया पृ० २६८।
८ कालिका पुराण अध्याय ३८।
९ बी० सी० एलेन—कामरूप आसाम डिस्ट्रिक्ट गजेटियर भाग ४ अध्याय १।
१० डा० आर सी रायचन्द्र ऐतिहासिक भारत १९०० पृ० २५।
११ सम० क० ८ पृ० ८८५—... पुरिसहिया वाणियविसय ... राया।

है। भारत के पवित्र स्थानों में काशी अथवा वाराणसी सबसे प्रसिद्ध था। प्राचीन भारत के षोडस जनपदों में काशी एक जनपद के रूप में उल्लिखित है।[1] पाणिनि की अष्टाध्यायी पतंजलि के भाष्य तथा भागवत पुराण में भी काशी का उल्लेख है।[2] वाराणसी को काशी नगरी अथवा काशीपुरी भी कहा गया है।[3] जातक में इस नगर को १२ योजन विस्तार वाला बताया गया है।[4]

काशी जनपद के उत्तर में कोशल जनपद, पूरब में मगध और पश्चिम में वत्स जनपद की सीमाएं थी।[5] काशी जनपद में ही वाराणसी के पास सारनाथ में भगवान बुद्ध ने प्रथम धर्मचक्रप्रवर्तन किया था।[6] आदि पुराण से इस जनपद का स्वतंत्र अस्तित्व सिद्ध होता है।[7]

कोसल—समराइच्च कहा में इसे एक जनपद के रूप में उल्लिखित किया गया है।[8] यह जन सूत्रों का एक प्राचीन जनपद था। रामायण तथा महाभारत में भी इस जनपद का उल्लेख है।[10] बृहत्कल्प भाष्य से पता चलता है कि इसी जनपद में अचल गणधर का जन्म हुआ था तथा जीवन्त स्वामी की प्रतिमा भी यहीं विद्यमान थी।[11] कोसल का प्राचीन नाम विनीता था। कहा जाता है कि यहां के निवासियों ने विभिन्न प्रकार की कुशलता प्राप्त की थी इसी कारण विनीता को कुशला नाम से जाना जाने लगा।[12] यह एक स्वतंत्र जनपद के रूप में था

---

१ मौर पुराण अध्याय ८ पंक्ति ५ कालिका पुराण ५१ ५२ ५८ ३५।

२ अंगुत्तर निकाय १ २१३ ४ २५२, २५६, २६०।

३ अष्टाध्यायी ४, २, ११६ महाभाष्य २, १, १, पृ० ३२, भागवत पुराण ९ २२–२३, १० ५७, ३२ १० ६६, १० १० ८४ ५५ १२ १३ १७।

४ स्कन्द पुराण अध्याय १ १९, २३ योगिनितंत्र १ २ २ ४।

५ जातक ४ ३७७ ६ १७०।

६ कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया १ ३१६।

७ दीघ निकाय ३, १४१ मज्झिम निकाय, १ १७० संयुत्त निकाय ५, ४२०।

८ आदि पुराण १६ १५१ २९, ४७।

९ सम०क० ४ पृ० २८८—कोसलाहिवस्स, तथा ४ पृ० ३३९ कोसलाये विसयम्मि ८ पृ० ८२१ ८३१।

१० जगदीशचन्द्र जैन—जैनागम साहित्य में भारतीय समाज पृ० ४६८।

११ रामायण २।६८।१३ महाभारत ११।३०।२३ ३१।१२।१३।

१२ बृहत्कल्प भाष्य ५ ५८२४।

१३ आवश्यक टीका—मलय गिरि पृ० २१४।

भागों में विभक्त था—उत्तर कोसल जिसकी राजधानी श्रावस्ती थी तथा दक्षिण कोसल जिसकी राजधानी साकेत नगरी थी।[1] यह बौद्धकालीन षोडस महाजनपदों में से एक था।[2] यह वर्तमान फैजाबाद जिले का भूभाग है।

कोंकण[3]—*समराइच्चकहा में कोंकण देश का उल्लेख मात्र है। कोंकण में* जैन श्रमणों ने विहार किया था। इस देश में अत्यधिक वृष्टि के कारण जैन श्रमणों को छतरी रखने का विधान था।[4] यहाँ मच्छर बहुत होते थे।[5] कोंकण देश के निवासी फल फूल के बड़े शौकीन होते थे।[6] कोंकण पश्चिमी घाट तथा अरब सागर के बीच का भू भाग था।[7] ह्वेनसांग के अनुसार कोंकण द्राविड़ (कांजीवरम) से २००० ली अथवा ३३० मील उत्तर-पश्चिम में स्थित था।[8] यह जनपद ५००० ली अथवा ८३३ मील भू भाग में विस्तृत था।[9] रघुवंश के चतुर्थ सर्ग में इसे अपरान्त देश कहा गया है।[10] कल्याण तथा बम्बई आदि नगर इसी जनपद के अन्तर्गत थे। शक्तिसंगम तंत्र में कोंकण से पश्चिम सौराष्ट्र और पश्चिमोत्तर आभीर जनपद की स्थिति मानी गयी है।[11] आदि पुराण के अनुसार यह जनपद पश्चिमी समुद्र के तट पर तथा पश्चिमी घाट के पश्चिमी तीर पर अवस्थित था।[12] निशीथचूर्णी में भी इस जनपद का उल्लेख आया है।[13] बम्बई के पास ठाणा जिले के सोपारा नामक स्थान से इसकी पहचान की जा सकती है।

१ ज० सी० सिकदार—स्टडीज इन दी भगवती सूत्र पृ० ५२५।
२ अंगुत्तर निकाय १।२१३ विष्णु पुराण अध्याय ४।
३ सम० क० ६ पृ० ५०१ (सा य कोङ्कणरायपुत्तस्स सिसुवालस्स।
४ आचारांग चूर्णी पृ० ३६६।
५ सूत्र कृताङ्ग टीका ३।१।१२।
६ बृहत्कल्प भाष्य वृत्ति १।१२३९।
७ डा० डी० सी० सरकार—स्टडीज इन दी ज्याग्राफी आफ ऐंशियण्ट एण्ड मेडिवल इण्डिया पृ० ११०।
८ वाटर्स—ह्वेनसांग पृ० १४३।
९ कनिंघम—ऐंशियण्ट ज्याग्राफी आफ इण्डिया पृ० ६ २ ३३।
१० रघुवंश ४ ५८ (अपरान्त महीपाल व्याजेन रघवे करम्)।
११ शक्तिसंगम तंत्र ३ ७ १३ (कोङ्कणात् पश्चिमे भागे समुद्रान्त सौराष्ट्र आभीरास्तत्परि ...)।
१२ नेमिचन्द्र शास्त्री—आदिपुराण में प्रतिपादित भारत पृ० ५६।
१३ निशीथचूर्णी—१ पृ० ५२ १०० १०१ १ ४ ? पृ० २१६।

गान्धार जनपद—समराइच्च कहा में इसकी स्थिति जम्बू द्वीप के विजय क्षेत्र में बताई गयी है।[1] निशीथचूर्णी में भी इसका उल्लेख एक जनपद के रूप में किया गया है।[2] शतपथ ब्राह्मण[3] तथा छान्दोग्य उपनिषद[4] में गान्धार का बराबर उल्लेख आता है। मज्झिम निकाय की अट्ठकथा में गांधार को सीमान्त जनपद कहा गया है।[5] अंगुत्तर निकाय में इसे षोडस जनपदों में से एक बताया गया है।[6] पाणिनि की अष्टाध्यायी में भी इसका उल्लेख है।[7] ह्वेनसाग के अनुसार यह जनपद पूरब से पश्चिम में १००० ली से अधिक तथा उत्तर से दक्षिण में ८०० ली से भी अधिक विस्तार वाला था। यह जनपद अत्यधिक उपजाऊ था। यहाँ अत्यधिक गन्ना पैदा होता था तथा यहाँ की जलवायु गर्म थी।[8] कनिंघम के अनुसार गांधार जनपद की सीमा के पश्चिम में लघान तथा जलालाबाद, उत्तर में स्वेत तथा तूनीर की पहाड़ियाँ पूरब में सिन्धु, तथा दक्षिण में कालाबाग की पहाड़िया स्थित थी।[9] इस जनपद के अंतर्गत रावलपिण्डी तथा पेशावर स्थित था।[10]

पुण्ड्र—समराइच्च कहा में इसे भी एक जनपद के रूप में उल्लिखित किया गया है।[11] इसकी राजधानी विन्ध्यगिरि के पास स्थित सतद्वार थी।[12] महाभारत में भी पुण्ड्र राजाओं का नाम आया है।[13] पुण्ड्रवर्धन का उल्लेख गुप्त

---

१ सम० क० १, पृ० ४५—रिद्धा मये गान्धार जणवयाहिवस्स समरसेणस्स नत्तुओ, १, पृ० ४८—अत्थि इहेव विजये गन्धारो नाम जणवओ, १, पृ० ५६।

२ निशीथचूर्णी, ३, पृ० १४४।

३ शतपथ ब्राह्मण, ११ ४, ११।

४ छान्दोग्य उपनिषद् ६ १४—गीता प्रेस।

५ मज्झिम निकाय २, पृ० ९८२।

६ अंगुत्तर निकाय १, पृ० २१३ ४, पृ० २५२, २५६ २६०।

७ अष्टाध्यायी ४ १ १६८।

८ वाटर्स—आन युवानच्वांग १, १९८–९९।

९ कनिंघम—ऐंसियन्ट ज्योग्राफी आफ इण्डिया पृ० ४८, मैकक्रिण्डिल—ऐंसियन्ट इण्डिया ऐज डिस्क्राइब्ड बाई टालेमी, पृ० ८१।

१० रैप्सन—ऐंसियन्ट इण्डिया, पृ० ८१।

११ सम० क० ४ पृ० २७५—अत्थि इहेव भरहम्मि पुण्ड्रा नाम जणवओ।

१२ जे० सी० सिकन्दार—स्टडीज इन भगवती सूत्र पृ० ५३७।

१३ महाभारत सभा पर्व ७८ ९३।

काल में बुध गुप्त के दामोदर अभिलेख (४८२ ई०)[1] तथा दामोदर ताम्रपत्र अभिलेख (५४३ ई०)[2] में हुआ है। पुण्ड्र जनपद के अन्तर्गत ही पुण्ड्र वर्धन नामक नगर था जो जैन धर्म का प्रमुख केन्द्र रहा है।

वत्स—समराइच्च कहा में वत्स देश के राजा का ही उल्लेख है।[3] महाभारत से पता चलता है कि भीमसेन ने पूर्व दिग्विजय के समय इस जनपद को जीता था।[4] काशिराज प्रतर्दन के पुत्र का पालन गोशाला में वत्सों (बछड़ों) से हुआ था इसी कारण इस जनपद को वत्स कहा जाने लगा।[5] काशी कोशल अवन्ति आदि जनपदों की भाँति वत्स को भी बौद्ध कालीन षोडश महाजनपदों में गिनाया गया है। इसकी स्थिति अवन्ति के उत्तरपूर्व तथा कोशल के दक्षिण यमुना के तट से लेकर इलाहाबाद के पश्चिम तक थी।[6] इस जनपद का उल्लेख अन्य ब्राह्मण[7] जैन[8] तथा बौद्ध[9] ग्रन्थों में हुआ है।

विदेह—समराइच्च कहा में इसे केवल पूर्व विदेह कहा गया है।[10] विदेह निवासिनी होने के कारण महावीर की माता त्रिशला विदेह दिन्ना[11] (विदेह दत्ता) कही जाती थी तथा विदेह निवासिनी चेल्लना का पुत्र कूणिक वज्जि विदेह पुत्र कहा जाता था।[12] इसकी राजधानी मिथिला थी जिसका जैन साहित्य में अत्यधिक महत्त्व है। १९ वें तीर्थंकर मल्लिनाथ तथा २१वें तीर्थंकर नमिनाथ की चरणरज से यह नगरी पवित्र हुई थी।[13] शतपथ ब्राह्मण में विदेह का उल्लेख है।[14] पालि

१ डी० सी० सरकार—सलेक्ट इन्सक्रिप्शन्स पृ० ३३३।
२ वही पृ० ३४७।
३ सम० क० ६ पृ० ५०१—विनाय इमण वच्छगर गुणस्स गिरि विजयस्स।
४ महाभारत सभा पर्व ३०।१०।
५ वही शान्ति पर्व ४९।७९।
६ न० ला० डे—ज्याग्राफिकल डिक्शनरी पृ० १००।
७ शतपथ ब्राह्मण ८।१४।
८ उवासग दसा २ परिशिष्ट १ पृ० ७ निशीथचूर्णी ५ पृ० ५३०।
९ अंगुत्तर निकाय १। २१३।
१० सम० क० ६ पृ० ५७६—ति समागओ पुव्व विदेहे।
११ कल्पसूत्र ५ ११०।
१२ [illegible] प्रज्ञप्ति ७ ९ पृ० ३१५।
१३ विविध तीर्थकल्प [illegible]—[illegible] ५४८ [illegible] ५४९।
१४ शतपथ ब्राह्मण १ ४ १ १०।

नाम ने रघुवंश में भी इसका उल्लेख किया है।[1] इसे ही उत्तर काल में तिरभुक्त या तिरभुक्ति कहा गया है जो आधुनिक तिरहुत के नाम से प्रसिद्ध है। यह जनपद गण्डकी नदी से आधुनिक चम्पारन तक विस्तृत था[2] जो मगध के पूर्वोत्तर में स्थित था। सीता मढ़ी जनक पुर, सीताकुण्ड, तिरहुत का उत्तरी भाग तथा चम्पारन का पश्चिमोत्तर भाग प्राचीन विदेह के अंतर्गत था।[3] मिथिला शरण पाण्डेय के अनुसार प्राचीन विदेह जनपद की सीमा के उत्तर में नेपाल की तराई पूर्व में कोसी नदी दक्षिण में वैशाली जनपद (जो कि गंगा के उत्तर में स्थित था) तथा पश्चिम में मदानीरा (आधुनिक गण्डक) नदी स्थित थी।[4]

नगर

अयोध्या—अयोध्या[5] को साकेत नाम से भी जाना जाता था।[6] साकेत की स्थिति कोसल जनपद के अन्तर्गत थी।[7] इसे प्राचीन अवध भी कहा जाता था जो आधुनिक फैजाबाद से चार मील की दूरी पर स्थित है।[8] यह रामचन्द्र तथा राजा सगर की भी राजधानी बतायी गयी है।[9] स्कन्द पुराण के अनुसार अयोध्या की स्थिति एक मछली के आकार जैसी है[10] तथा यह सरयू नदी से एक योजन दक्षिण तथा तमसा से एक योजन उत्तर दिशा में स्थित था किन्तु वर्तमान अयोध्या सरयू नदी के तट पर ही स्थित है। आदि पुराण में अयोध्या को दो द्वीपों में स्थित बतलाया गया है—धातकी खण्ड और जम्बू द्वीप।[11]

---

१ रघुवंश १२ २६।
२ डा० भी० सरकार—स्टडीज इन ज्याग्राफी आफ एंशियन्ट एण्ड मेडिवल इंडिया, पृ० ९५।
३ नेमिचन्द्र शास्त्री—आदि पुराण में प्रतिपादित भारत पृ०६७।
४ एम० एस० पाण्डेय—हिस्टारिकल ज्याग्राफी एण्ड टापोग्राफी आफ बिहार पृ० ८७ ८८।
५ सम०क० ८, पृ० ७३१—अत्थि स्थ—अओज्झा नाम नयरी पृ० ७३६, ७३८ ७६४ ७६६ ७७४।
६ निशीथ चूर्णी २ पृ० ४६६ ३ पृ० १९३।
७ सम० क० ४ पृ० ३३०— कोसलाए विसये साएए नयरे—।
८ कनिंघम—एंशियन्ट ज्योग्राफी आफ इंडिया प० ३४१।
९ बी० सी० ला—हिस्टारिकल ज्याग्राफी आफ एंशियन्ट इंडिया पृ० ७६।
१० स्कन्द पुराण ३।६४ ६६।
११ आदि पुराण ७।४१, १२।७६।

सातवी शताब्दी पूर्व भाग में पश्चिम विन्ह के गाधिल देश की नगरी को अयोध्या कहा गया है तथा जम्बू द्वीप के अंतर्गत भरत क्षेत्र में यह नगरी तीर्थंकरों के साथ भरत चक्रवर्ती की जन्म भूमि बतायी गयी है। रामायण में इस नगरी की स्थिति सरयू नदी के तट पर बतायी गयी है। कनिंघम के अनुसार इस नगर का विस्तार बारह योजन अथवा १०० मील था जो लगभग २४ मील बागीचों (उपवनों) से घिरा हुआ था।[१] प्राचीन काल में यह धन धान्य से परिपूर्ण एक समृद्धशाली नगर था।

अचलपुर—समराइच्च कहा में इसकी स्थिति उत्तरापथ में बतायी गयी है जो धन धान्य से सम्पन्न एक व्यापारिक केन्द्र था।[२] इस नगर को आभीर देश में स्थित बताया जाता है।[३] कान्हा और बान नाम की दो नदियाँ अचलपुर के पास से होकर बहती थी।[४] यह बरार में अमरावती जिले का आधुनिक इलिच पुर है।[५]

अमरपुर[६]—यह ब्रह्म देश की प्राचीन राजधानी थी। इसकी स्थिति एरावत नदी के पूर्व तट पर बतायी गयी है।[७] आदि पुराण में इसका वर्णन इन्द्र पुरी के रूप में आया है।[८] विष्णु कुण्डी वंश के राजा माधव वर्मा के शिलालेख में ब्रह्म देश की राजधानी अमरावती बतायी गया है।[९] इस नगर के प्राप्त ध्वसावशेषों से पता चलता है कि यह एक सुन्दर स्थान था जिसके कारण इसे अमरपुर कहा जाता था।

आनन्दपुर—समराइच्च कहा के कथा प्रसंग में ही इसकी चर्चा आई है, किन्तु स्थिति आदि का कोई उल्लेख नहीं है। बी० सी० ला के अनुसार इसका

१ कनिंघम—एंशियन्ट ज्योग्राफी आफ इंडिया पृ० ४५९–६०।
२ सम० क० ६ पृ० ५०९।
३ ज्योग्राफिकल डिक्शनरी आफ एंशियन्ट एण्ड मेडियल इंडिया, पृ० ३।
४ वही पृ० ३।
५ इंडि० एन्टि० १ पृ० १३–जनवरी १९३५।
६ सम० क० पृ० ७३१ ६ पृ० ५००।
७ नमिचन्द्र शास्त्री—हरिभद्र के प्राकृत कथा साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन पृ० ३४।
८ आदि पुराण ६।२०५।
९ नमिचन्द्र शास्त्री—आदि पुराण में प्रतिपादित भारत, पृ० ८३।
१० सम० क० ५ पृ० ४००।

आधुनिक नाम आनन्द है जो आनन्द तालुक का प्रमुख नगर है।[१] कुछ विद्वान इसे उत्तर गुजरात का बडा नगर मानते हैं।[२] ह्वेनसांग के अनुसार यह नगर वल्लभी के उत्तर-पश्चिम में स्थित था।[३] यह नगर व्यापार, वाणिज्य का भी प्रमुख केन्द्र माना जाता था। आनन्दपुर प्राचीन अनतपुर के नाम से भी जाना जाता था।[४] आनन्दपुर अथवा वडनगर नागर नाम से विख्यात था जो गुजरात के नागर ब्राह्मणों का मूल निवास स्थान था।[५] यह जैन श्रमणों का भी केन्द्र था जहाँ से वे मथुरा को आते जाते रहते थे।[६]

उज्जयिनी[७]—हरिभद्र के काल में यह नगर जैन श्रमणों का प्रमुख निवास स्थान था। यह तत्कालीन भारत का समृद्धशाली नगर था जिसके बाजार माणिक्य मोती, सुवर्ण आदि से हमेशा सजे रहते थे तथा इसमें आवागमन की सुविधा के लिए चौडी व विस्तृत सडकें एवं सुन्दर मार्ग थे। यह सुन्दर खाइयों एवं जलाशयों से सुशोभित था। अन्य जैन ग्रन्थों से भी पता चलता है कि यह नगर व्यापार-वाणिज्य का प्रमुख केन्द्र था।[८] जीवन्त स्वामी प्रतिमा के दर्शन के लिए उज्जयिनी में राजा सम्प्रति के समकालीन आर्य सुहस्ति पधारे थे।[९] यह दक्षिणा पथ का सर्वप्रथम महत्वपूर्ण नगर था जो उत्तर अवन्ति (मालवा) राज्य का केन्द्र था।[१०] कनिंघम के अनुसार यह आधुनिक उज्जैन था जो शिप्रा नदी के तट पर स्थित था।[११] अतः स्पष्ट होता है कि समराइच्च कहा में

---

१ बी० सी० ला—हिस्टारिकल ज्योग्राफी आफ ऐंसियन्ट इंडिया, पृ० ३२५।

२ मधू सेन—ए कल्चरल स्टडी आफ निशीथ चूर्णी, पृ० ३३९।

३ कनिंघम—ऐंसियन्ट ज्योग्राफी आफ इण्डिया, पृ० ४१६।

४ अलिना का ताम्र पत्र अभिलेख ई० सन् ६४९ और ८५१ का।

५ ज्योग्राफिकल इनसाइक्लोपीडिया आफ ऐंसियन्ट एण्ड मेडिवल इंडिया पार्ट १, पृ० २१ २२।

६ निशीथचूर्णी ५ पृ० ४३५।

७ सम० क० ६, पृ० ५०१–५०३–५६९–७०–७१ ९, पृ० ८५८–९७९।

८ आवश्यक नियुक्ति १२७६ आवश्यक चूर्णी २, पृ० १५४ निशीथ चूर्णी १ पृ० १०२, २ पृ० २६१, ३, पृ० ५९, १३१, १४५–४६।

९ बृहत्कल्प भाष्य १।३२७७।

१० जगदीश चन्द्र जैन—जैनागम साहित्य में भारतीय समाज पृ० ४८०–८१।

११ कनिंघम—ऐंसियन्ट ज्योग्राफी आफ इंडिया, पृ० ४१२।

३० ली के करीब में विस्तृत थी।[1] यह एक पवित्र नगरी थी।[2] यह सम जलवायु वाला उपजाऊ भाग था जहाँ के लोग चावल तथा गन्ना अधिक पैदा करते थे।[3] भगवान् बुद्ध यहाँ ठहरा करते थे तथा भगवान् महावीर ने यहाँ विहार किया था।[4]

घृतगला—जम्बू द्वीप के विजय क्षेत्र में इस नगर की स्थिति बतायी गयी है।[5] इस नगर की पहचान ठीक-ठीक नहीं की जा सकती।

गांधार नगर—समराइच्च कहा में इस नगर की स्थिति गांधार जनपद के अन्तर्गत बतायी गयी है।[6] किन्तु अन्यत्र इसका प्रमाण नहीं मिलता है और न तो वर्तमान पहचान ही की जा सकती है।

गजपुर[7]—समराइच्च कहा के कथा प्रसंग में इस नगर का उल्लेख मात्र है। आदि पुराण में इस नगर की स्थिति विजयार्ध के दक्षिण में मानी गयी है।[8] गजपुर हस्तिनापुर का दूसरा नाम था जो कुरु जनपद की राजधानी थी।[9] गजपुर का दूसरा नाम नागपुर भी था। वासुदेव हिण्डी में इसे ब्रह्मस्थल कहा गया है।[10]

गन्ध समृद्ध नगर—वैताढ्य पर्वत पर स्थित यह विद्याधरों का एक नगर बताया गया है।[11] मोहनलाल मेहता ने इसे अपर विदेह में स्थित गांधार जनपद का प्रधान नगर माना है।[12] नेमिचन्द्र शास्त्री के अनुसार यह मालवा में स्थित रहा होगा।[13]

---

१ बी० सी० ला—हिस्टारिकल ज्याग्राफी आफ एंशियन्ट इंडिया पृ० ११७।
२ विविध तीर्थ कल्प पृ० २३ आवश्यक चूर्णी २ १७९।
३ बी० सी० ला—हिस्टारिकल ज्याग्राफी आफ एंशियन्ट इंडिया पृ० ११७।
४ जगदीश चन्द्र जैन—जैनागम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० ४७५।
५ सम० क० ३ पृ० १७३ ७ पृ० ७०८।
६ वही १ पृ० ४८ ५१।
७ वही ७ पृ० ६१८।
८ नेमिचन्द्र शास्त्री—आदि पुराण में प्रतिपादित भारत पृ० ८६।
• जगदीश चन्द्र जैन—जैनागम साहित्य में भारतीय समाज पृ० ४६०।
१० वासुदेव हिण्डी पृ० १५५।
११ सम० क० ५ पृ० ४११।
१२ मोहनलाल मेहता—प्राकृत प्रापर नेम्स पृ० २२२।
१३ नेमिचन्द्र शास्त्री—हरिभद्र सूरि के प्राकृत कथा साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन पृ० ३५६।

चक्रपुर—यह नगर जम्बू द्वीप के अपर विदेह क्षेत्र में विद्यमान था।[१] नेमिचन्द्र शास्त्री के अनुसार इसे आधुनिक उडीसा का चक्रपुर कहा जा सकता है।[२]

चक्रवालपुर—यह जम्बू द्वीप के विजय क्षेत्र में विद्यमान था।[३] वासुदेव शरण अग्रवाल ने इसे वतमान चक्रवाल कहा है जो जिला झेलम में विद्यमान है।[४]

चम्पापुरी—समराइच्च कहा में इस नगरी का उल्लेख कई बार किया गया[५] है तथा इसे समस्त गुणों का भण्डार बताया गया है। चम्पा अंग देश की राजधानी थी जो पहले मालिनी के नाम से विख्यात थी।[६] यह चम्पा नगरी चम्पा मालिनी चम्पावती चम्पापुरी और चम्पा आदि विभिन्न नामों से जानी जाती थी। महाभारत के अनुसार यह एक प्रसिद्ध तीर्थ स्थान था।[७] औपपातिक सूत्र में इस नगरी को धन धान्य से परिपूर्ण बताया गया है।[८] चम्पा और मिथिला के बीच साठ योजन का अन्तर बताया गया है।[९] बी० सी० ला के अनुसार यह नगर बिहार प्रदेश के वतमान भागलपुर से पश्चिम चार मील की दूरी पर स्थित था।[१०] चम्पापुरी की पहचान भागलपुर के पास वतमान नाथ नगर से की जा सकती है।

जयपुर—इस नगर की स्थिति जम्बू द्वीप के अपर विदेह क्षेत्र में बतायी गयी है।[११] इसे अपरिमित गुणों का निधान तथा पृथ्वी का तिलक स्वरूप बताया

---

१ सम० क० ८ पृ० ८०३।

२ नेमिचन्द्र शास्त्री—हरिभद्र के प्राकृत कथा साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन, पृ० ३५६।

३ सम० क० २ प० ११० ५, पृ० ४५५, ४६३, ८, प० ७३६।

४ वासुदेव शरण अग्रवाल—पाणिनि कालीन भारत प० ८८।

५ सम० क० २, पृ० १०४, १३० ७, प० ६०५, ६१८, ६२३, ६२४ ६५२, ६७० ७१।

६ मत्स्य पुराण अध्याय ४८।

७ महाभारत, वन पव, ८५।१४।

८ बी० सी० ला—जैन कनानिकल सूत्र, प० ७३ बाम्बे ब्रांच आफ रायल एशियाटिक सोसाइटी बाम्बे १९४९।

९ जगदीश चन्द्र जैन—जैनागम साहित्य में भारतीय समाज, प० ४६५।

१० बी० सी० ला—हिस्टारिकल ज्योग्राफी आफ ऐंसियन्ट इण्डिया पृ० २५५।

११ सम० क० २, प० ७५, १५१।

पाटला के नाम से भी जाना जाता था जो सिंधु नदी के मुहाने पर स्थित है।[1] यह सिंधु नदी के निचले भाग में सींचे जाने वाले प्रदेश की राजधानी थी जिसको ग्रीक में पाटलीव कहा गया है।[2]

पाटलिपुत्र[3]—इस नगर का उल्लेख अन्य जैन ग्रन्थों में भी हुआ है।[4] यह नगर राजगृह के पास मगध की दूसरी राजधानी थी। यह आधुनिक पटना है जो विहार प्रदेश की राजधानी है। इस पाटलिपुत्र कुसुमपुर कुसुमध्वज पुष्प पुर तथा पुष्प मय आदि विभिन्न नामों से जाना जाता था।[5] पाटलिपुत्र पहले मगध जनपद का एक गाँव था जो पाटलिग्राम के नाम से जाना जाता था।[6] इसकी स्थिति गंगा नदी के दूसरी तरफ स्थित वाटिग्राम के सामने थी।[7] गौतम बुद्ध के समय मगध के दो मंत्री—सुनिध तथा वस्सकार के द्वारा यहाँ पाटलिपुत्र नामक नगर बसाया गया था।[8] मेगस्थनीज ने पाटलिपुत्र का अच्छा वर्णन किया है। उसके अनुसार अन्दर खाई से २४ फीट की दूरी पर चार-दीवालों से घिरे हुए नगर में ६४ फाटक तथा ५७० मीनारें विद्यमान थे।[9] फाहियान के समय में यहाँ के लोग धनी सम्पन्न एवं खुशहाल थे।[10] ह्वेनसांग ने इस नगर की स्थिति गंगा के दक्षिण तरफ बतायी है।[11]

ब्रह्मपुर—समराइच्च कहा में इस नगर की स्थिति उत्तरापथ में बतायी गयी है।[12] ह्वेनसांग ने ब्रह्मपुर की यात्रा की थी। उसके अनुसार ब्रह्मपुर राज्य

१ बा० सी० ला—हिस्टारिकल ज्याग्राफी आफ एंशियण्ट इंडिया पृ० १२७।
२ वोगल-नोट्स आन टाल्मी १ पृ० ८४।
३ सम० क० ४ पृ० ३३९।
४ भगवती सूत्र १४।८।५२१ आवश्यक चूर्णी २ पृ० १७९ आवश्यक नियुक्ति १२७९।
५ जिनदास—स्टडीज इन दी भगवती सूत्र पृ० ५४५।
६ यम० यस० पाण्डेय—हिस्टारिकल ज्याग्राफी एण्ड टापाग्रैफी आफ बिहार पृ० १३५।
७ बा० सा० ला—हिस्टारिकल ज्याग्राफी आफ एंशियण्ट इण्डिया पृ० २९५।
८ सर्वनिकाय २ ८९ सुमंगल विलासिनी २ पृ० ५४०।
९ मैक्रिण्डल—एंशियण्ट इण्डिया एज डिस्क्राइब्ड बाई मेगस्थनीज एण्ड एरियन पृ० ६७।
१० लेग (Legge)—फाहियान पृ० ७७-८।
११ वाटर्स—आन युवान च्वांग २ पृ० ८७।
१२ सम० क० ८ पृ० ८२७ ९ पृ० ९५६।

४००० ली अथवा ७३१ मील में विस्तृत था।[1] इसके अंतर्गत अलखनन्दा तथा कर्नाली नदियों के बीच का सम्पूर्ण पहाडी भाग रहा होगा जो आजकल गढवाल और कुमायूँ के नाम से प्रसिद्ध है।[2]

भम्भा नगर—समराइच्च कहा में इसका उल्लेख एक नगर राज्य के रूप में हुआ है जिसकी स्थिति जम्बू द्वीप के विजय क्षेत्र में बतायी गयी है।[3] नेमिचन्द्र शास्त्री ने इसकी स्थिति आधुनिक आसाम में बताया है।[4] किन्तु इसकी पहचान ठीक ढंग से नहीं हो पाती।

मदनपुर—समराइच्च कहा में मदनपुर को कामरूप जनपद के अंतर्गत बतलाया गया है। यहाँ का राजा प्रद्युम्न था।[5] कामरूप वर्तमान असम माना गया है जिसकी पहचान गौहाटी के आस-पास वाले भाग से की गयी है। अतः मदनपुर की स्थिति भी गौहाटी के आस-पास मानी जा सकती है।

महासर[6]—इस नगर की पहचान आधुनिक बिहार के शाहाबाद जिले में आरा से ६ मील पश्चिम में वर्तमान कामसार से की जा सकती है।[7]

माकन्दी[8]—समराइच्च कहा में उल्लिखित यह नगर दक्षिण पांचाल की राजधानी थी।[9] इस नगर की स्थिति हस्तिनापुर के आस-पास रही होगी, क्योंकि महाभारत के अनुसार युधिष्ठिर ने दुर्योधन से जो पाँच गाँव माँगे थे माकन्दी उनमें से एक था।[10] यह नगर व्यापार वाणिज्य का केन्द्र था।[11]

---

१ कनिंघम—ऐंशियन्ट ज्याग्राफी आफ इंडिया, पृ० ४०७।
२ डे, नं० लाल—ज्योग्राफिकल डिक्शनरी आफ ऐंशियन्ट एण्ड मेडिवल इण्डिया, पृ० ४०।
३ सम० क० ८ पृ० ८०५।
४ नेमिचन्द्र शास्त्री—हरिभद्र के प्राकृत कथा साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन पृ० ३५८।
५ सम० क० ९ पृ० ९०८।
६ वही ६ पृ० ५०८, ५१८।
७ यम० यस० पाण्डेय—हिस्टारिकल ज्योग्राफी एण्ड टापाग्राफी आफ बिहार, पृ० १५७।
८ सम० क० ६, पृ० ४९३ ५००।
९ जगदीश चन्द्र जैन—जैनागम साहित्य में भारतीय समाज पृ० ४७०।
१० महाभारत ५, ७२ ७६।
११ सम० क० ६ पृ० ५१०।

मिथिला[1]—समराइच्च कहा में उल्लिखित इस नगर का नाम रामायण तथा महाभारत में भी आया है।[2] मिथिला प्राचीनकाल में विदेह जनपद की राजधानी था। पुराणों में निमि के पुत्र जो जनक के नाम से विख्यात थे, इस नगरी के निर्माता थे।[3] इसे आधुनिक नेपाल की सीमा के अन्तर्गत रखा जा सकता है। विविध तीर्थ कल्प में बताया गया है कि मिथिला में अनेक कदली वन मीठे पानी की बावड़ियाँ कुएँ तालाब नदियाँ आदि मौजूद थे। नगरी के चारों द्वारों पर चार बड़े बाजार थे तथा यहाँ के साधारण लोग भी पढ़े लिखे एवं शास्त्रों के पंडित होते थे।[4]

रत्नपुर—समराइच्च कहा में रत्नपुर को विदेह क्षेत्र के गंधिलावती देश का एक नगर बताया गया है।[5] नेमिचन्द्र शास्त्री ने इसे कोसल जनपद का एक नगर बताया है।[6]

रथनूपुर चक्कवालपुर—यह विद्याधरों का एक नगर राज्य था जिसकी स्थिति वैताढ्य पर्वत के निकट बताया गयी है।[7] आदि पुराण में इसे विजयार्ध की दक्षिण श्रेणी का २२ वाँ नगर बताया गया है।[8] इसकी वर्तमान स्थिति भारत के पूर्वी प्रान्त चाइबासा के निकट मानी जा सकती है।[9]

रथवीरपुर—यह जम्बू द्वीप के भरत क्षेत्र का एक नाम था।[10] इसकी वर्तमान स्थिति का ठीक ठीक पता नहीं चलता है।

राजपुर—इस नगर की स्थिति विजयार्ध में बतायी गयी है।[11] यह काश्मीर के दक्षिण में स्थित राजौरी माना जा सकता है। कनिंघम के अनुसार राजपुर

---

१ सम० क० ८ पृ० ७३८ ७८१।
२ रामायण १ ४८ १० ११ महाभारत वनपर्व २५४ ८।
३ भागवत पुराण ९ १३ १३।
४ विविध तीर्थ कल्प पृ० ३२।
५ सम० क० २ पृ० १२०—इह२ विदेहे गंधिलावई विजय रयणउर नयर।
६ नेमिचन्द्र शास्त्री—आदि पुराण में प्रतिपादित भारत पृ० ९२।
७ सम० क० ५ पृ० ४६३।
८ आदि पुराण १९।४६।
९ नेमिचन्द्र शास्त्री—आदि पुराण में प्रतिपादित भारत पृ० ९२।
१० सम० क० २ पृ० १२ ।
११ वही २ पृ० १०१ ७ पृ० ६३२ ६३ ६४२ ६६० ६६५ ६७२ ८, पृ० ८१३।

उत्तर में पीर पाँचाल, पश्चिम में पूनच, दक्षिण में भीमवार तथा पूरब में रिहासी और अक्नूर से घिरा हुआ था।[1]

लक्ष्मी निलय—समराइच्च कहा में इस नगर की स्थिति जम्बू द्वीप के विजय क्षेत्र में बतायी गयी है।[2] लक्ष्मी निलय के पास ही लक्ष्मी पर्वत विद्यमान था। किन्तु इसकी स्थिति तथा वर्तमान पहचान नहीं की जा सकती।

वधनापुर—यह नगर जम्बू द्वीप के उत्तरापथ में स्थित बताया गया है।[3] किन्तु अन्यत्र इसका उल्लेख नहीं है और न तो पहचान ही की जा सकती है।

वसन्तपुर[4]—सूय नियुक्ति में इसे मगध जनपद का एक ग्राम बतलाया गया है।[5] कुछ विद्वानों ने इसे पूर्णिया जिले में स्थित वसन्तपुर ग्राम ही माना है।[6]

वाराणसी[7]—यह काशी जनपद की राजधानी थी। वरुणा और असि दो नदियों के बीच में स्थित होने के कारण ही इसे वाराणसी कहा गया है। यह वर्तमान बनारस (वाराणसी) है जो गंगा के तट पर स्थित है। यह काशी जनपद की एक पवित्र व धार्मिक नगरी थी।[8] इसका वर्णन अन्य जैन[9] बौद्ध[10] तथा ब्राह्मण[11] ग्रन्थों में आया है। वाराणसी सातवें और बारहवें तीर्थंकर भगवान सुपार्श्व तथा भगवान पार्श्वनाथ का जन्मस्थान था।[12] यह ब्राह्मण बौद्ध तथा जैन संस्कृति का विकास क्षेत्र रहा है।

विलासपुर[13]—इस नगर की स्थिति विजयार्ध के दक्षिण में बतायी गयी है

---

१ कनिंघम—ऐंशियन्ट ज्योग्राफी आफ इंडिया पृ० १४८-६९।
२ सम० क० ३, पृ० १६८-१७२-७३-७४-१८४।
३ वही ७ पृ० ७११।
४ सम० क० १ पृ० ११-३३-६३।
५ सूय नियुक्ति २ ६ १९०।
६ डिस्ट्रिक्ट गजेटियर पूर्णिया १९११ पृ० १८५।
७ सम० क० ८ पृ० ८४५।
८ भगवती सूत्र १५।१।५४०।
९ निशीथ चूर्णी २ पृ० ४१७-४६६ पुप्फवत्त सुत्त १।३७ उपासकदशा, पृ० ९०९।
१० दीघ निकाय २ १४६, ३ १४१।
११ विष्णु पुराण अध्याय ३४।
१२ उवासग नियुक्ति ३८२-३८४ १०२।
१३ सम० क० ५ पृ० ४०९-४१२।

सम्भवत यह हिमाचल प्रदेश का विलासपुर नगर है। समराइच्च कहा में इसका वर्णन विद्याधरों के नगर के रूप में हुआ है।[1]

विशालवपन[2]—यह नगर कादम्बरी अटवी के पास स्थित था। कादम्बरी अटवी की स्थिति के अनुसार यह बिहार में भागलपुर और मुंगेर के बीच में वर्तमान रहा होगा।

विशाला[3]—यह अवन्ति जनपद के अन्तर्गत एक प्रधान एवं सम्पन्न नगरी थी। समराइच्च कहा में इसे एक नगर राज्य कहा गया है।[4] यह नगर आजकल उज्जयिनी के नाम से जाना जाता है जिसे स्कन्द पुराण में विशालम ग्रहीम कहा गया है।[5]

विटपपुर[6]—समराइच्च कहा में आये हुए इस नगर की स्थिति का ठीक ठीक पता नहीं चलता है।

वैराट नगर[7]—हरिभद्र ने इसकी स्थिति श्रावस्ती से आगे समुद्र तट पर बतायी है जो कि काल्पनिक सा लगता है। अन्य ग्रन्थों में वराट नगर को मत्स्य देश की राजधानी बताया गया है जो इन्द्रप्रस्थ के दक्षिण में विद्यमान था।[8] मत्स्य देश के राजा विराट की राजधानी होने के कारण भी इसे वराट नगर कहा जाता था। यह आधुनिक जयपुर की एक तहसील का केन्द्र स्थान है जो दिल्ली से १०५ मील दक्षिण पश्चिम तथा जयपुर से ४१ मील उत्तर में स्थित है।[9]

शंखपुर—समराइच्च कहा में इस नगर की स्थिति उत्तरापथ में बताई गई है।[10] सम्भवत यह स्थान राजगृह और द्वारिका के मध्य में था, क्योंकि विविध

१ समरा० क० ५ पृ० ४१२।
२ वही ७ पृ० ६७३।
३ वही ४ पृ० २८०–३०८–३१२–३१४–३१८–३१९–३२६–३४५।
४ वही ४ पृ० ३८९।
५ डा० वी० एस० अग्रवाल—स्टडीज इन स्कन्द पुराण पृ० १२६।
६ समरा० क० ७ पृ० ६६७ ६६८ ६९०।
७ वही ४ पृ० २८५।
८ महाभारत विराट पर्व गोग्रह ब्राह्मण १ २ ९।
९ बी० सी० ला—हिस्टोरिकल ज्याग्राफी आफ एन्शियन्ट इंडिया पृ० ३०२–०३।
१० समरा० क० ८ पृ० ७१७, ७४०, ७४२, ७९९।

तीर्थ कल्प के अनुसार द्वारिका से श्री कृष्ण की और राजगृह से जरासंध की सेनाएँ युद्ध के लिए चली। ये दोनों सेनाएँ जहाँ मिली वहाँ अरिष्टनेमि ने शंखध्वनि की और शंखपुर नगर बसाया।[1]

शंखवर्धन—यह नगर जम्बू द्वीप के भरत क्षेत्र में स्थित था,[2] किन्तु इसकी वर्तमान स्थिति का पता नहीं चलता है।

श्वेतविका[3]—इसे प्राचीन केकय जनपद की राजधानी बताया गया है। समराइच्च कहा में इसे एक नगर राज्य कहा गया है।[4] ताम्रलिप्ति से इसका व्यापार चलता था जो श्रावस्ती के उत्तर-पूर्व नेपाल की तराई में स्थित था।

साकेत[5]—यह नगर दक्षिण कोसल जनपद की राजधानी था। महाभाष्य में इसका उल्लेख आया है।[6] टाल्मी ने इसे सागदा तथा फाहियान ने साची कहा है।[7] साकेत का ही अयोध्या भी कहा गया है (स्थिति तथा पहचान के लिए देखिए—अयोध्या नगर)।

सुशर्म नगर[8]—यह गुजरात प्रदेश का एक नगर था। प्राचीन काल में इसे व्यापार-वाणिज्य का केन्द्र माना जाता था जिसमें बड़े-बड़े व्यापारी निवास करते थे।[9]

श्रीपुर[10]—यह आधुनिक सिरपुर है जो वंशधारा नदी के वाम तट पर स्थित मुखलिंगम के उत्तर पश्चिम में गंजाम जिले में स्थित है।[11] यह विशाखापट्टम

---

१ नेमिचन्द्र शास्त्री—हरिभद्र के प्राकृत कथा साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन, पृ० ३६०।

२ सम० क० ७, पृ० ६१२ ६७३।

३ वही ५, पृ० ३६५–६६–६७ ३७६ ३८८ ३९८ ४०७ ४१६–१७ ४२० ८ पृ० ८१५, ८३१।

४ वही ५, पृ० ३६५ ६६ ६७।

५ वही ४ पृ० २३१ ३३९।

६ महाभाष्य ३ ३ २ पृ० २४६ १ २ ३ पृ० ६०८।

७ लीग (Ligge)—ट्रेवेल्स आफ फाहियान, पृ० ५४।

८ सम० क० ४ पृ० २३४ २५७, २६८ २७०, ३६१।

९ वही ४ पृ० २६८।

१० वही ५, पृ० ३९८ ९०।

११ इपि० इंडि० ४ पृ० ११९।

सम्भवत यह हिमाचल प्रदेश का विलासपुर नगर है। समराइच्च कहा में इसका वर्णन विद्याधरों के नगर के रूप में हुआ है।[1]

विशालवर्धन[2]—यह नगर कादम्बरी अटवी के पास स्थित था। कादम्बरी अटवी की स्थिति के अनुसार यह बिहार में भागलपुर और मुंगेर के बीच में वर्तमान रहा होगा।

विशाला[3]—यह अवन्ति जनपद के अन्तर्गत एक प्रधान एवं सम्पन्न नगरी थी। समराइच्च कहा में इसे एक नगर राज्य कहा गया है।[4] यह नगर आजकल बद्री विशाला के नाम से जाना जाता है जिसे स्कन्द पुराण में विशालम बद्रीम कहा गया है।[5]

विश्वपुर[6]—समराइच्च कहा में आये हुए इस नगर की स्थिति का ठीक ठीक पता नहीं चलता है।

वैराट नगर[7]—हरिभद्र ने इसकी स्थिति श्रावस्ती से आगे समुद्र तट पर बतायी है जो कि काल्पनिक-सा लगता है। अन्य ग्रन्थों में वैराट नगर को मत्स्य देश की राजधानी बताया गया है जो इन्द्रप्रस्थ के दक्षिण में विद्यमान था।[8] मत्स्य देश के राजा विराट की राजधानी होने के कारण भी इसे वैराट नगर कहा जाता था। यह आधुनिक जयपुर की एक तहसील का केन्द्र स्थान है जो दिल्ली से १०५ मील दक्षिण पश्चिम तथा जयपुर से ४१ मील उत्तर में स्थित है।[9]

शंखपुर—समराइच्च कहा में इस नगर की स्थिति उत्तरापथ में बताई गई है।[10] सम्भवत यह स्थान राजगृह और द्वारिका के मध्य में था क्योंकि विविध

१ सम० क० ५ पृ० ४१२।
२ वही ७ पृ० ६७३।
३ वही ४ पृ० २८९–३०८–३१२–३१४–३१८–३१९–३२६–३४५।
४ वही ४ पृ० ३४५।
५ ए० बी० एल० अवस्थी–स्टडीज इन स्कन्द पुराण पृ० १२६।
६ सम० क० ७ पृ० ६६७ ६६९ ६९०।
७ वही ४ पृ० २८५।
८ महाभारत विराट पर्व, गोपथ ब्राह्मण १ २ ९।
९ बी० सा० ला—हिस्टॉरिकल ज्योग्राफी आफ एंशियन्ट इंडिया पृ० ३९२–९३।
१० सम० क० ८ पृ० ७३७ ७४०, ७४२, ७५६।

तीर्थ कल्प के अनुसार द्वारिका से श्री कृष्ण की और राजगृह से जरासंध की सेनाएँ युद्ध के लिए चलीं ये दोनों सेनाएँ जहाँ मिलीं वहाँ अरिष्टनेमि ने शंखध्वनि की और शंखपुर नगर बसाया।[1]

शंखवर्धन—यह नगर जम्बू द्वीप के भरत क्षेत्र में स्थित था[2] किन्तु इसकी वर्तमान स्थिति का पता नहीं चलता है।

श्वेतविका[3]—इसे प्राचीन केकय जनपद की राजधानी बताया गया है। समराइच्च कहा में इसे एक नगर राज्य कहा गया है।[4] ताम्रलिप्ति से इसका व्यापार चलता था जो श्रावस्ती के उत्तर-पूर्व नेपाल की तराई में स्थित था।

साकेत[5]—यह नगर दक्षिण कोसल जनपद की राजधानी था। महाभाष्य में इसका उल्लेख आया है।[6] टालेमी ने इसे सागदा तथा फाहियान ने सावी कहा है।[7] साकेत को ही अयोध्या भी कहा गया है (स्थिति तथा पहचान के लिए देखिए—अयोध्या नगर)।

सुषम नगर[8]—यह गुजरात प्रदेश का एक नगर था। प्राचीन काल में इसे व्यापार-वाणिज्य का केन्द्र माना जाता था जिसमें बड़े-बड़े व्यापारी निवास करते थे।[9]

श्रीपुर[10]—यह आधुनिक सिरपुर है जो वंशधारा नदी के बायें तट पर स्थित मुखलिंगम के उत्तर पश्चिम में गंजाम जिले में स्थित है।[11] यह विशाखापट्टम

---

१ नेमिचन्द्र शास्त्री—हरिभद्र के प्राकृत कथा साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन, पृ० ३६०।
२ सम० क० ७ पृ० ६१२ ६७३।
३ वही ५, पृ० ३६५–६६–६७ ३७६ ३८८ ३९८ ४०७, ४१६–१७ ४२० ८, पृ० ८१५ ८३१।
४ वही ५ पृ० ३६५-६६ ६७।
५ वही ४ पृ० २३१ ३३९।
६ महाभाष्य ३ २ २ पृ० २४६, १ २ ३ पृ० ६०८।
७ लेग (Legge)—ट्रेवल्स आफ फाहियान, पृ० ५४।
८ सम० क० ४ पृ० २३४ २५७, २६८ २७० ३६१।
९ वही ४, पृ० २६८।
१० वही ५, पृ० ३९८ ९९।
११ इपि० इंडि० ४ पृ० ११९।

जिले का सिरिपुरम भी हो सकता है जो नागवाली नदी से ३ मील दक्षिण में है जिसके उत्तरी किनारे पर कलिंग का प्रसिद्ध जिला वारहावन्नि स्थित है।[1]

श्रावस्ती[2]—इस नगर का उल्लेख अन्य जैन ग्रन्थों में भी हुआ है।[3] कनिंघम ने इसे आधुनिक सहेत महेत माना है।[4] यह उत्तर कोशल की राजधानी थी।[5] श्रावस्ती बौद्धों का केन्द्र स्थल था।[6]

हस्तिनापुर—इस नगर की स्थिति जम्बू द्वीप के विजय क्षेत्र में बतायी गयी है।[7] यह प्राचीन कुरु देश की राजधानी थी। इसकी वर्तमान स्थिति मेरठ जिले के मेवाना तहसील में बतायी गयी है।[8] हस्तिनापुर का उल्लेख अन्य जैन तथा ब्राह्मण ग्रन्थों[10] में मिलता है। आदि पुराण में इस नगर का अत्यन्त समृद्ध और स्वर्ग के समान सुन्दर उल्लेख किया गया है।[11] इस नगर को कुरुजांगल जनपद की राजधानी बताया गया है। शान्ति कुन्थु अरह और मल्लिनाथ के सुन्दर एवं मनोहर चैत्यालय इसी नगर में विद्यमान थे तथा अम्बा देवी का प्रसिद्ध मन्दिर भी यहीं विद्यमान था।[12] अतः पौराणिक दृष्टि से इस नगर का पर्याप्त महत्त्व है।

क्षितिप्रतिष्ठित[13]—यह राजगृह का दूसरा नाम था। समराइच्चकहा के अनुसार यह नगर ऊँची प्राकार खाइयाँ आदि से सुरक्षित था तथा नगर में

---

१ विशाख वर्मा का कोरासद-ताम्रपत्र इपि० इंडि० २१ पृ० २०२४।
२ सम० क० ८ पृ० २५७ २६९ २७१ ७८३ ८४ ८५ ८६।
३ भगवती सूत्र २।१।९० ९।३३।३८६ १५।१।५५६ निशीथ चूर्णी २, पृ० ४६६ ४ पृ० १०३।
४ कनिंघम-ऍसियन्ट ज्योग्राफी आफ इंडिया पृ० ४६९ देखिए—बी०सा०ला—हिस्टारिकल ज्योग्राफी आफ ऍसियन्ट इंडिया पृ० १२५।
जे० सा० सिकदार—स्टडीज इन भगवती सूत्र प० ५३५।
जगदीश चन्द्र जैन—जैनागम साहित्य में भारतीय समाज, प० ४८५।
७ सम० क० २ पृ० १२७ १७५।
८ कनिंघम-ऍसियन्ट ज्योग्राफी आफ इंडिया पृ० ७०२।
९ भगवती सूत्र ११।९।४१७ ११।११।४२८ १६।५।५७७।
१० रामायण २ ६८ १३ मार्कण्डेय पुराण अध्याय ५७ भागवत पुराण १३, ६।
११ आदि पुराण ८।२२३ ४३।७६।
१२ नेमिचन्द्र शास्त्री—आदि पुराण में प्रतिपादित भारत, पृ० ९४।
१३ सम० क० ? पृ० ? ४३ ? पृ० ?७० ७१।

साफ-सुथरे त्रिपथ चतुष्पथ आदि मार्ग थे। यहाँ व्यापार का भी केन्द्र था। निशीथ चूर्णी में भी इस नगर का उल्लेख मिलता है।[1] वर्तमान पटना या राजगिर ही प्राचीन भारत का राजगृह था। जैन ग्रन्थों में राजगृह को ही क्षितिप्रतिष्ठित चणकपुर ऋषभपुर अथवा कुशाग्रपुर कहा गया है।[2]

पत्तन—समराइच्च कहा में हमें जनपद एवं नगरों के साथ-साथ कुछ पत्तनों के भी उल्लेख मिलते हैं। अग्निपुराण के अनुसार जो भाग समुद्र के तट पर बसा हो तथा वहाँ नावों द्वारा आवागमन हो उसे पत्तन कहते हैं।[3] मानसार[4] समरागण तथा वहनकोष के आधार पर पत्तन को एक प्रकार का वृहत बन्दरगाह माना जा सकता है जो किसी समुद्र या नदी के तट पर स्थित हो तथा जहाँ पर मुख्य रूप से वणिक लोग निवास करते हों।

व्यवहार सूत्र के अनुसार जहाँ नौकाओं द्वारा आवागमन होता है उसे पट्टन और जहाँ नौकाओं के अतिरिक्त गाड़ी घोड़ा आदि से आवागमन हो उसे पत्तन कहते हैं।[5] इस प्रकार उपरोक्त साक्ष्यों के आधार पर हम पत्तन को दो भागों में बाँट सकते हैं— जल पत्तन (पट्टन) तथा स्थल पत्तन'। समराइच्च कहा में उल्लिखित पत्तन का विवरण अधोलिखित है।

अचलपुर—समराइच्च कहा में इसे उत्तरापथ का श्रेष्ठ व्यापारिक स्थान बताया गया है।[6] जम्बूद्वीप के उत्तरापथ में इसकी स्थिति बतलाई गयी है जो ब्रह्मपुर नगर के पास था। यह प्राचीन भारत का प्रसिद्ध व्यापारिक केन्द्र था जहाँ के व्यापारी बड़े ही समृद्ध व धनवान होते थे। विशेष जानकारी के लिए देखिए—'अचलपुर एक नगर के रूप में।

गउजनक—समराइच्च कहा में इसकी स्थिति उत्तरापथ विषय में बतायी

---

१ निशीथ चूर्णी ३, पृ० १५० ४ पृ० २२९।
२ जगदीश चन्द्र जैन—जैनागम साहित्य में भारतीय समाज पृ० ४६१।
३ पत्तन तत्समुद्रान्तेयन्नौभिर्वतीयते—अग्निपुराण १६।१७२।
४ क्रय विक्रय सयुक्तमब्धितीर समाश्रितम। देशान्तर गतजनर्नानाजातिभिरन्वितम। पत्तनं तत समाख्यातं वैश्यरध्युषितं तु यत।—मानसार नवम अध्याय।
५ पत्तनं शकटगम्य घोटकनौभिरेव च। नौभिरेव तु यद् गम्य पट्टनं तत प्रचक्षते। व्यवहार सूत्र भाग ३ पृ० १२७।
६ सम० क० ६ पृ० ५०९—धरणोवि—उत्तरावहनिलयभूयं अयलउर नामपट्टण।

गयी है।[1] इस पत्तन की भी स्थिति उत्तरापथ जनपद में बतायी गयी है। सम्भवतः यह मरु देश में सत्यपुर के निकट अवस्थित था जो आधुनिक मारवाड जिले में वर्तमान है।

गिरिस्थल[2]—गुजरात के प्रसिद्ध पर्वत गिरिनार के आस-पास गिरिस्थल नामक पत्तन विद्यमान था। स्थल मार्गों से यहाँ का व्यापार होता था।

श्रीस्थल—जम्बू द्वीप के विजय क्षेत्र में इस नगर की स्थिति बतायी गयी है।[3] किन्तु अन्यत्र इसका उल्लेख नहीं मिलता है तथा न तो ठीक ढंग से इसकी पहचान ही की जा सकती है।

नखपुर—समराइच्च कहा में इसे उत्तरापथ विषय का एक पत्तन बताया गया है जहाँ के राजा का नाम नखायन था[4]। इसकी स्थिति राजगृह और द्वारिका के मध्य में बताया जा सकती है (देखिए—नखपुर नगर)।

बन्दरगाह

आधुनिक काल की भाँति प्राचीन काल में भी व्यापार तथा आवागमन की सुविधा के लिए समुद्र के किनारे बन्दरगाह होते थे। ये बन्दरगाह बड़े जलयान तथा छोटे जहाज एवं नौकाओं के रखने एवं वहाँ से प्रस्थान करने के केन्द्र स्थल होते थे। भारतीय तथा वैदेशिक व्यापारिक जलयानों का विश्राम स्थल होने के कारण ये बन्दरगाह व्यापारिक केन्द्र भी हो गये जहाँ से स्थल तथा जलमार्गों द्वारा व्यापार होता था। समराइच्च कहा में उल्लिखित कुछ प्रसिद्ध बन्दरगाहों की जानकारी हमें निम्नलिखित रूप से होती है।

ताम्रलिप्ति—इसका उल्लेख समराइच्च कहा में कई बार किया गया है।[5] पुनवन सुत्त में ताम्रलिप्ति को वंग देश की राजधानी बताया गया है।[6] जगदीश

---

१ सम० क० ४ पृ० २७७—अत्थि इहेव भारहवासे उत्तरावह विसय गज्जणय नाम पट्टण।
२ वही ४ पृ० २७७—गज्जणय सामिणा वीरसेणस्स समीवे।
३ वही ३ पृ० १७४।
४ वही ८ पृ० ७३७—इओ य उत्तरावहे विसय नखउर पट्टणा नखायणा नाम राया।
५ वही १ पृ० ५६ ४ पृ० २८१–८२ ५ पृ० ३६७–६८–६० ३९८ ४०७ ४१५–१६ ४२० ६ पृ० ५०६ ५९९ ७ पृ० ६५२ ६७१।
६ [illegible]सुत्त १ ३७ पृ० ५५।

चन्द्र जन क अनुसार ताम्रलिप्ति (तामलुक) व्यापार का केन्द्र था जहा जल और स्थल दाना मार्गों से व्यापार हाता था।[1] कल्प सूत्र में ताम्रलिप्तिया नामक जैन श्रमणों की शाखा का उल्लेख मिलता है जिमस पता चलता ह कि यहाँ जन श्रमणों का केन्द्र रहा हागा।[2] ताम्रलिप्ति बगाल क मिदिनापुर जिले का तामलुक ह जो हुगली तथा रूपनारायण नदियो के सगम स १२ मील की दूरी पर स्थित है।[3] इसकी वतमान स्थिति रूपनारायण नदी क पश्चिमी तट पर मानी जा सकता ह। फाहियान ने इसे चम्पा से ५० याजन पूरब दिशा में समुद्र के किनारे स्थित माना है[4]। ह्वेनसाग के अनुसार ताम्रलिप्ति में दस स अधिक बौद्ध मठ तथा लगभग एक हजार मे अधिक बौद्ध भिक्षु विद्यमान थे।[5] इस बन्दरगाह का उल्लेख अन्य जन[6] बौद्ध[7] तथा ब्राह्मण[8] ग्रन्थों में मिलता ह।

वैजयन्ती—समराइच्च कहा में इसकी स्थिति पूर्वी समुद्रतट पर बतायी गयी ह।[9] ताम्रलिप्ति की भाँति यह भी एक सुप्रसिद्ध बदरगाह था। बडे-बडे विदेशी तथा स्वदेशी व्यापारिक जलयान व्यापार क निमित्त यहाँ आते जाते रहते थे। बदरगाह के साथ साथ यह व्यापारिक केन्द्र भी बन गया था जहाँ भारतीय व्यापारी स्थल मार्गों से भी व्यापार के निमित्त आते जाते रहते थे। समराइच्च कहा के उल्लेख क आधार पर वजयन्ती को वतमान बगाल की खाडी वाला भाग कहा जा सकता ह।

अरण्य

प्राचान काल स हा पवत तथा नदियो की भाति अरण्या का भी भौगोलिक एव आर्थिक महत्त्व रहा ह। विभिन्न प्रकार की भूमि तथा जलवायु क कारण ये अरण्य भाति भाति प्रकार की वनस्पतियों के उद्गम स्थल रहे ह जिनका विशिष्ट आर्थिक महत्त्व ह। समराइच्च कहा में प्रयुक्त हुए कुछ निम्नलिखित वन्य प्रदेशों का उल्लेख मिलता ह।

---

१ जगदीश चन्द्र जन—जनागम साहित्य में भारताय समाज, पृ० ४६५-६६।
२ वही प० ४६५-६६।
३ कनिघम—ऐंसियन्ट ज्याग्राफी आफ इडिया प० ५७७-७८।
४ वही प० ७३२।
५ वाटस—आन युवाग च्वाग २ १९०।
६ भगवती सूत्र ३।१।१३४।
७ कथासरित्सागर अध्याय २४ महावश ११ ३८ १९, ६।
८ महाभारत—भीष्म पव ९ ५७ रघुवश ४।३८।
९ सम० क० ६ प० ५३९।

कादंबरी—समराइच्च कहा में अचलपुर और माकन्दी के बीच इस अरण्य की स्थिति बताई गयी है।[1] यह एक महाटवी के रूप में थी जो संभवत आधुनिक बिहार के मुंगेर जिला में स्थित रही होगी। इस आटवी में कदम्ब के वृक्षों की अधिकता थी। संभवत इसी कारण इसका नाम कादम्बरी पड़ा था। कदम्ब के साथ-साथ वहाँ चंदन तथा आम्र आदि विशाल वृक्षों की अधिकता थी। सघन वृक्षों व जंगली झाड़ियों के बीच वृषभ मृग महिष, शार्दूल हस्ति, मृगराज जैसे भयंकर जानवर निवास करते थे। कादम्बरी चम्पा के निकट स्थित थी जिसके निकट कालि नामक एक पर्वत था तथा जहाँ भगवान पार्श्वनाथ भ्रमण किये थे।[2]

चन्दनवन[3]—यह मलय पर्वत के पास ही स्थित था[4] जिसकी स्थिति मैसूर के दक्षिण और त्रावणकोर के पूर्व में बतायी गयी है। चन्दन के वृक्षों की अधिकता के कारण ही इसे चन्दनवन कहा जाता था।

दंत रलिका[5]—चम्पानगरी से ताम्रलिप्ति जाते समय रास्ते में इसकी स्थिति बताई गयी है। समराइच्च कहा में उल्लिखित इस महाटवी की पहचान ठीक ढंग से नहीं हो पाती।

नन्दनवन[6]—इस अरण्य की भी स्थिति का पता नहीं चलता है। यह परम्परागत काल्पनिक नाम जान पड़ता है।

पद्मावती[7]—विन्ध्य पर्वत मालाओं के मध्य भाग में यह अरण्य स्थित था। इस अरण्य में पहाड़ी नदियों के रूप में नूनतया महावार नदियाँ प्रवाहित होती थी।

प्रेतवन[8]—समराइच्च कहा में उल्लिखित इस अरण्य का नाम काल्पनिक सा लगता है।

विन्ध्याटवी[9]—विन्ध्य पर्वत के भाग घन एवं विभिन्न प्रकार के वृक्षों से

---

१ सम० क० ६ पृ० ५१० ५१५ ५२९ ५३६।
२ बी० मा० ला—सम जैन कैनानिकल सूत्र पृ० १७७।
३ सम० क० ५ पृ० ४४५ ६ ५४५।
४ वही ५ पृ० ४४५ (मलय सानु)।
५ वही ७ पृ० ६५६।
६ वही ५ पृ० ४१२ ७ ६८०।
७ वही क० ८ पृ० २८५।
८ वही क० ५ पृ० ४०१।
९ वही ८ पृ० ७११ ८२१।

आच्छादित अटवी को विन्ध्यारण्य कहा गया है। आदि पुराण में इस विन्ध्याचल वन का उल्लेख है।[1] महावंश में बताया गया है कि अशोक नगर से निकल कर स्थल मार्ग द्वारा विन्ध्याटवी को पार कर एक सप्ताह में ताम्रलिप्ति पहुँचा जा सकता है।[2] महाभारत में भी विन्ध्याचल वन का उल्लेख मिलता है।[3]

सुसुमार[4]—विजयार्ध की उत्तर श्रेणी के नगरों में विजयपुर नामक नगर के पास ही सुसुमार अरण्य स्थित था। सुसुमार गिरि की पहचान वर्तमान मिर्जापुर जिले में चुनार की पहाड़ियों से की गई है।[5] सुसुमार अरण्य में ही सुसुमार पर्वत की स्थिति बतायी गयी है अतः सिद्ध होता है कि यह अरण्य भी मिर्जापुर में चुनार के पास स्थित रहा होगा।

पर्वत

प्रत्येक देश अथवा राष्ट्र की सभ्यता एवं संस्कृति के विकास के साथ साथ वहां की जलवायु, ऋतु परिवर्तन तथा सुरक्षा की दृष्टि से पर्वतों का अत्यधिक महत्त्व रहता है। भारत की उत्तरी तथा दक्षिणी सीमाओं पर फैली शैल श्रृङ्खलाओं के साथ अन्य पर्वत मालाओं से इस देश के सांस्कृतिक स्वरूप के निर्माण में प्राचीन काल से ही बराबर योगदान मिलता रहा है। समराइच्च कहा में निम्नलिखित पर्वतों का उल्लेख है।

उदयगिरि[6]—समराइच्च कहा में इसकी स्थिति नहीं बताई गयी है। मात्र वर्णन से नाम ज्ञात होता है। भुवनेश्वर स्टेशन से लगभग चार मील दूरी पर उदयगिरि और खण्डगिरि नामक दो प्राचीन पहाड़िया है जिन्हें काटकर सुन्दर गुफाएँ बनाई गई है।[7] ये दोनों पहाड़ियां खारबेल के हाथी गुम्फा शिलालेख के लेखक को कुमार और कुमारी पहाड़िया के रूप में ज्ञात थी।[8] खण्डगिरि पहाड़ी पुरी जिला में भुवनेश्वर से ३ मील उत्तर पश्चिम की तरफ स्थित है।[9] इस

---

१ आदि पुराण ३०।९२।

२ महावंश १९ ६—हिन्दी संस्करण, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग।

३ महाभारत—आदि पर्व २०८।७ सभा पर्व १०।३१ वन पर्व १०८।६ विराटपर्व ६।१७।

४ सम० क० २ पृ० १०७ (विजये सुसुमार रण्णे सुसुमार गिरिम्मि)।

५ घोष—अर्ली हिस्ट्री आफ कौशाम्बी पृ० ३२।

६ सम० क० २ पृ० १३६।

७ जगदीश चन्द्र जैन—जैनागम साहित्य में भारतीय समाज पृ० ४६७।

८ बी० सी० ला—हिस्टॉरिकल ज्याग्राफी आफ ऐंसियन्ट इंडिया पृ० १९४।

९ वही पृ० १९४।

पहाडी का तीन चोटियाँ ह—उदयगिरि, नीलगिरि और खण्डगिरि। खण्डगिरि की चोटी १२३ फीट ऊँची ह जब कि उदयगिरि की चोटी ११० फीट ऊँची ह। यहाँ इस पवत श्रेणी (उदयगिरि) के नाचे एक वष्णव कुटी ह तथा इसमें ४० गुफाएँ ह।[1]

गान्धार पवत[2]—यह गाधार देश क अतगत एक प्रसिद्ध पहाडी के नाम स विख्यात था। अन्यत्र इसकी स्थिति का पता नही चलता है।

वैताढ्य पवत[3]—यह पवत छ खण्डो के मध्य में होने के कारण विजयाध के नाम स जाना जाता ह। वताढय पवत की दो श्रेणियाँ ह (उत्तर श्रेणी और दक्षिण श्रेणी)। इन श्रेणियो में विद्याधर नगर विद्यमान थे। नेमिचन्द्र शास्त्री ने गध समृद्ध नगर की स्थिति मालवा[4] में वतायी ह जो समराइच्च कहा में वताढय के पास स्थित वताया गया । अत यह पवत भी मालवा में ही होना चाहिए।

मलय पवत[5]—समराइच्च कहा में उल्लिखित इस पवत का नाम भागवत पुराण तथा मत्स्य पुराण में भी आया ह।[6] वी० सी० ला क अनुसार कावरी क नीच पश्चिमी घाट का फला हुआ दक्षिणी भाग ही मलयगिरि का पश्चिमी भाग ह जिस वतमान ट्रावनकोर पहाडी क नाम स जाना जाता ह।[7] डी० सी० सरकार ने भी इसकी पहचान ट्रावनकोर की पहाडियो से की ह।[8] चदन की बहुल मात्रा में प्राप्ति के कारण ही इसे मलय पवत (मलयगिरि) कहा गया है।

मदरगिरि[9]—इस मदर गिरि अथवा मदराचल क नाम स जाना जाता

---

१ वी० सी० ला—हिस्टारिकल ज्योग्राफी आफ ऐंशियन्ट इण्डिया पृ० १९४।

२ सम० क० १, प० ४९।

३ वही ५ पृ० ४११ ४५५ ४६० ४६२,४६३ ६ प० ५०० ५८१ ८२ ५९४,५९५ ८, पृ० ७३६।

४ नेमिचन्द्र शास्त्री—हरिभद्र क प्राकृत कथा साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन, पृ० ३५६।

५ सम० क० ५, पृ० ४३८ ४४१ ४२ ४३ ४४ ४५ ४४९ ४५५ ८ पृ० ८२१ ८४६।

६ भागवत पुराण ५।१९।१६ ११।८।३२ ६।३।३५ १२।८।१६ मत्स्य पुराण ६१।३७ ११।१२ देखिए—रघुवश ४।४६।

७ बी० सी० ला—हिस्टारिकल ज्योग्राफी आफ ऐंशियन्ट इडिया, पृ० २०६।

८ ज्याग्राफिकल डिक्शनरी आफ ऐंशियन्ट एण्ड मेडिवल इडिया, पृ० ७१।

९ सम० क० ३ पृ० १९८ ४ प० २९६।

था। पुराणों में भी इस पर्वत का उल्लेख है।[1] बी० सी० ला के अनुसार यह भागलपुर जिले के बका नामक तहसील में स्थित है जो भागलपुर के ३० मील दक्षिण तथा वासी के ३ मील उत्तर दिशा में वर्तमान है।[2] यहां भगवान बुद्ध की प्रतिमा तथा बौद्ध मंदिर के अवशेष मिले हैं।[3]

मेरु पर्वत—इसकी स्थिति जम्बू द्वीप के मध्य में बतायी गयी है।[4] मार्कण्डेय पुराण से पता चलता है कि इस पर्वत के पश्चिम में निषाध और परिपात्र दक्षिण में कलाश और हेमवत तथा उत्तर दिशा में शृंगवन एवं जरुधि स्थित हैं।[5] इसे सिनेरु की सबसे ऊँची चोटी मानी जा सकता है जो ७,८०० फीट ऊँची है।[7] यह बदरिकाश्रम के करीब है तथा संभवतः एरियन का मेरास पर्वत है।[8] इसे गढ़वाल में स्थित रुद्र हिमालय माना जा सकता है जहाँ से गंगा निकलती है।[9] मेरु पर्वत की यही स्थिति सही जान पड़ती है।

रत्नगिरि[10]—समराइच्च कहा में उल्लिखित यह पर्वत गोपालपुर से चार मील उत्तर-पूर्व तथा विम्पा की एक शाखा वेलुआ नामक एक छोटे से स्रोत के किनारे स्थित है।[11] भरत सिंह उपाध्याय ने इसकी स्थिति प्राचीन राजगृह के पास बतायी है।[12] कनिंघम ने तो प्राचीन बुद्धकालीन पाण्डव पर्वत को ही रत्नगिरि से मिलाया है।[13] यह पाण्डव पर्वत भी राजगृह के पास स्थित था। उपरोक्त साक्ष्यों से स्पष्ट होता है कि यह पर्वत प्राचीन राजगृह के पास ही स्थित रहा होगा।

---

१ कालिका पुराण अध्याय १३, २३ भागवत पुराण ८ २३ २४।
२ बी० सी० ला—हिस्टारिकल ज्याग्राफी आफ ऐंसियन्ट इंडिया, पृ० २७९।
३ बर्न—भागलपुर बिहार डिस्ट्रिक्ट गजेटियर पृ० १६२ ६३।
४ मम० क० ५ पृ० ४७०।
५ कूर्म पुराण, पृ० ४७८ श्लोक १४।
६ मार्कण्डेय पुराण बंगवासी एडीशन पृ० २४०।
७ धम्मपद १ १०७ जातक १, २०३।
८ बी० सी० ला—हिस्टारिकल ज्योग्राफी आफ ऐंसियन्ट इंडिया, पृ० १३१।
९ बी० सी० ला—ज्योग्राफी आफ अर्ली बुद्धिज्म पृ० ४२।
१० मम० क० ६ पृ० ५४५ ७ पृ० ६४८।
११ बी० सी० ला—हिस्टारिकल ज्याग्राफी आफ ऐंसिएन्ट इंडिया पृ २२०।
१२ भरत सिंह उपाध्याय—बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, पृ० १८२।
१३ कनिंघम—ऐंसियन्ट ज्याग्राफी आफ इंडिया पृ० ५३१।

लक्ष्मी पर्वत[1]—इसकी स्थिति आसाम के दक्षिण में थी जो लक्ष्मी निलय के नाम से प्रख्यात था। अतः आसाम के अन्तर्गत स्थित एक पहाडी क्षेत्र से इसकी पहचान की जा सकती है।

विन्ध्य पर्वत—अग्नि पुराण में इसे विन्ध्याचल कहा गया है जिसके पश्चिमी छोर का पार कर भरत चक्रवर्ती ने लाट तथा सोरठ देश पर आक्रमण किया था।[3] प्राचीन काल में यह पर्वत माला मध्यभारत के उत्तर-पश्चिम में विस्तृत था। पद्म पुराण तथा कालिदास के मेघदूत में भी इस पर्वत का उल्लेख आया है।[4] दशकुमार चरित से पता चलता है कि विन्ध्य पर्वत से मिला हुआ विन्ध्यारण्य भी था जहाँ घनी एवं भयंकर जंगली झाडियाँ एवं वृक्ष थे जिसमें जंगली जानवरों के रहने की सुविधा थी।[5] ऋक्ष विन्ध्या और परियात्र आदि सम्पूर्ण पर्वत श्रेणियों के भाग थे जिसे आधुनिक विन्ध्या कहते हैं।[6] आधुनिक भौगोलिक वेत्ताओं के अनुसार विन्ध्य पर्वत गुजरात से पश्चिम तथा बिहार के पूर्वी भाग में ७०० मील के विस्तृत क्षेत्र में है जिसे भरनेर तथा कैमूर आदि विभिन्न स्थानीय नामों से जाना जाता है।[7] यह टालेमी का आइडोआन है जो नर्मदा और ताप्ती नदियों का उद्गम स्रोत है।[8] प्राचीन काल में यह पर्वत औषधियों आदि का केन्द्र था।[9]

शिलोच्चय पर्वत[10]—वर्णन के आधार पर अनुमान लगाया जाता है कि संभवतः यह पहाडी आसाम के दक्षिण में अवस्थित थी। इस पहाडी से लगा घने वृक्षों से आच्छादित एक जंगल था जिसमें सिंह, अजगर जैसे भयंकर जानवर निवास करते थे।

---

१ सम० क० २ पृ० १२५, ३ पृ० १६९ १७२।

२ वही २ पृ० १२५ ६ पृ० ५०१ ७ पृ० ६७१ ८ पृ० ७९८ ७९९ ८०१।

३ अग्नि पुराण २९१८८।

४ पद्म पुराण—उत्तर खण्ड श्लोक ३५ ३८ मेघदूत-पूर्वमेघ १९।

५ दशकुमार चरित पृ० १८।

६ ला—ज्योग्राफिकल एसेज १०७।

७ बी० सी० ला—हिस्टॉरिकल ज्याग्राफी आफ एन्शियन्ट इंडिया पृ० ३५५।

८ टालेमीज एन्शियन्ट इण्डिया पृ० ७७।

९ सम० क० ८, पृ० ८०१।

१० वही २ पृ० १२ ४ पृ० ३०७ ६ पृ० ५१६।

सुवेल[1] पवत—समराइच्च कहा में उल्लिखित इस पवत की स्थिति का ठीक ठीक पता नही चलता ह और न अयत्र इसका उल्लेख ही मिलता ह।

ससुमार गिरि[2]– विजयाध की उत्तर श्रेणी के नगरों में विजयपुर एक नगर ह। इस नगर क पास सुसुमार नामक एक अरण्य था और इसी अरण्य में सुसुमार नामक पवत विद्यमान था। वत्स जनपद के राजा उदायन के पुत्र राज कुमार बोधि इसी पवत पर रहते थे जहा कोकनद नामक महल बनवाया था।[3] बौद्ध परम्परा के अनुसार यहा भग राज्य की राजधानी थी और यह एक किले के रूप में प्रयुक्त होता था।[4] कुछ विद्वानो ने इसे आधुनिक चुनार की पहाडियां बताया ह जो मिर्जापुर जिले में स्थित ह।[5]

हिमवत (हिमालय)[6]—यह जम्बू द्वीप का प्रसिद्ध पवत आधुनिक हिमालय ह जो भारत क उत्तर में स्थित ह। हिम (बफ) स सदा आच्छादित रहने क कारण ही इसे हिमवत अथवा हिमालय कहा जाता ह। इस पवत का उल्लेख अय जन[7] बौद्ध[8] ब्राह्मण ग्रथों[9] तथा विदेशी विवरण[10] म मिलता ह। भारत क उत्तर दिशा में पूव से लेकर पश्चिमी समुद्र तट तक धनुष का डोरी का भाति फला हुआ हिमालय पवत ही प्राचीन हिमवत ह। इसे पवतराज तथा नगाधिराज कहा गया है। जन परम्परा के अनुसार यह जम्बूद्वीप का प्रथम कुलाचल ह जिसपर ११ कूट ह। इसका विस्तार १०५२ १२/१९ योजन ह तथा इसकी ऊँचाई १०० योजन तथा गहराई २५ योजन बतलाई गयी ह। हिमालय तीन भागों में विभक्त ह—उत्तर मध्य और दक्षिण। उत्तर माला के बीच

---

१ सम० क० ४ पृ० ३१०।

२ वही २ पृ० १०७ (विजये सुसुमारे रण्णे सुसुमार गिरिम्मि), १०८।

३ बी० सी० ला—हिस्टॉरिकल ज्योग्राफी आफ ऐंसियन्ट इंडिया, पृ० १५२।

४ मज्झिम निकाय १ ३३२ ८ २ ०१९७।

५ थाप—अर्ली हिस्ट्री आफ कौशाम्बी पृ० २२, तथा भरत सिंह उपाध्याय—बुद्ध कालीन भारतीय भूगोल पृ० ३३६।

६ सम० क० ६ पृ० ५०२ (हिमवन्त पव्वय समम्म नरिह दणय)।

७ जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति १ ९, अग्निपुराण २९।६४।

८ मललसेकर—डिक्शनरी आफ पाली प्रापर नेम्स १ १३२५।

९ ऋग्वेद १०।१२१।४ अथववेद १२।१।२ मारकण्डेय पुराण, ५४, २४ ५७ ५९।

१० टालेमीज ऐंसियन्ट इंडिया पृ० १९।

क्लाश पवत है।[1] म-य मा-ा नग पवत से प्रारम्भ हाती ह जिसकी सबसे ऊची चोटी २६, ६२९ फुट ह। मध्य माला का दूसरा अश नेपाल, सिक्किम और भूटान राज्य क अ-तगत ह जहाँ मवदा तुपार पडती रहती ह।

नदिया

समराइच्च कहा में निम्नलिखित नदिया क उल्लेख प्राप्त हाते ह।

गगा[2]—समराइच्च कहा के कथा प्रसग में इमका उल्लेख आया ह। गगा नदी का सवप्रथम उल्लेख ऋग्वे- के नदी स्तुति में मिलता ह[3] इसका उल्लेख विभिन्न ग्र-था में विभि-न नामा स हुआ ह। महाभारत तथा भागवत पुराण में इमे अल्खन-ा[4] भागवत पुराण में एक अ-य स्थान पर द्युन-ा,[5] रघुवश में भागीरथी तथा जाह्नवी[6] के रूप में वर्णित किया गया ह। तत्तिरीय आरण्यक क अनुमार गगा-जमुना के बीच रहने वाले लोग सम्माननाय समझे जाते थे।[7] पद्म पुराण क अनुसार गगा नदी की सात शाखाएँ थी यथा—विता-का, नलिनी, मरस्वती जम्बू न-ी सीता गगा और सि-धु।[8] भागीरथी ग गा हिमालय से निकल कर गगोत्री नामक स्थान में गिरता है। तत्पश्चात हरद्वार स हाते हुए उमके नीचे बुल-द शहर म -क्षिण की तरफ मुडती ह जहाँ यह दक्षिण पूव की आर बहती हुई इलाहाबा- में यमुना न-ी से मिलती ह। इलाहाबा- से राज महल तक यह पूव -िशा का आर बहनी ह और राजमह- स पश्चिम बगाल में प्रवेश कर बगाल का खाडी में गिरती ह।[9] प्राचीन का-ा म लेकर वतमान समय तक के भारतीय जीवन के आर्थिक राजनतिक एव सस्कृति के के-द्र हरद्वार कानपुर प्रयाग वाराणसी तथा प-ना आदि नगर गगा के हा तट पर स्थित ह।

---

१ नेमिच-द्र शास्त्री—आदि पुराण में प्रतिपादित भारत पृ० १११।
२ मम० क० २ पृ० १५६ ३ पृ० १९८ ४ पृ० २३४।
३ ऋग्वे- १०।७५।५।
४ म-ाभारत—आ-ि पव १७० २२ भागवत पुराण ४ ६ २४ ११, २९ ४१।
५ भागवत पुरा- ३ ५ १ १० ७५ ८।
६ रघुव- ७।३६ ८।९५ १०।२६।
७ तत्तिराय आरण्यक -।२०।
८ पद्मपुराण स्वग खाण्ड अध्याय २ -ाक ६८।
९ यन० -ल० डे०—-ायाग्राफिकल डिक्शनरी प० ७९ दखिए—बी० मी० ला—हिस्टारिक- ज्याग्राफी आफ -सियन्ट इंडिया पृ० ८९।

सिंधु[1]—इसका उल्लेख वृहत संहिता तथा अष्टाध्यायी में भी हुआ है।[2] फाहियान के विवरण में इसे सितु कहा गया है।[3] यह हिमालय की ढाल से बहती हुई उत्तरा-पश्चिमी सीमान्त प्रदेश से होकर पंजाब सिन्ध तथा अंत में पश्चिमी हिंद महासागर में जाकर मिलती है।[4] प्राचीन ग्रीक विवरण के अनुसार सिन्धु की सात सहायक नदियाँ थी यथा—हाईड्रोटस (रावी) अकसिन (चनाब), हाइपेसिस (विपासा-व्यास) हाइडास्पस (वितस्ता-झेलम) काफीन (काबुल) पेरेनास मेपेरवास और सियाना।[5] चन्द्र का मेहरौलीस्तम्भ लेख भी सिंधु के सात मुहाने का वर्णन करता है।[6]

शिप्रा[7]—यह नदी मालवा के पठार से निकल कर उज्जयिनी होती हुई चम्बल में गिरती है। इसका दूसरा नाम शिप्राला भी है।[8] कालिदास के अनुसार यह एक ऐतिहासिक नदी है जिसके तट पर उज्जयिनी नामक प्रसिद्ध नगर बसा था।[9] वा० सी० ला के अनुसार यह ग्वालियर राज्य की एक स्थानीय नदी है जो चम्बल (चर्मण्वती) में जाकर गिरती है।[10] स्कन्द पुराण में शिप्रा और साता नामक दो नदियों के संगम को सातासंगम कहा गया है जो तीर्थ यात्रियों के लिए एक महत्वपूर्ण स्थान था।[11] जैन ग्रन्थ आवश्यक चूर्णी में भी इसका उल्लेख मिलता है।[12]

ऋजुबालुका[13]—इस नदी की स्थिति का ठीक-ठीक पता नहीं चलता है। संभवतः यह विन्ध्यागिरि से निकलने वाली झरने की भांति कोई छोटी नदी रही होगी।

---

१ सम० क० २ पृ० १४८।
२ वृहत् संहिता १४ १९ अष्टाध्यायी ४।३।३२ ३३, ४।३।९४।
३ लाग (Legge)—फाहियान प० २६।
४ बी० सी० ला—हिस्टारिकल ज्याग्राफी आफ ऐंसियन्ट इंडिया प० १२७।
५ जे० सी० सिकदार—स्टडीज इन भगवती सूत्र प० ५५१ ५२।
६ चन्द्र का मेहरौली स्तम्भ—तीर्त्वा सप्तमुखानि सिन्धो' देखिए—डी० सी० सरकार-सेलेक्ट इन्सक्रिप्सन्स प० २७५।
७ सम० क० ४ प० ३१८ १९।
८ मेघदूत—पूर्वमेघ २७ ३०।
९ रघुवंश—६।३ मेघदूत-पूर्व मेघ २७ २९ ३१।
१० बी० सी० ला—हिस्टारिकल ज्याग्राफी आफ ऐंसियन्ट इंडिया, पृ० ३८७ ८८।
११ स्कन्द पुराण अध्याय ५६।
१२ आवश्यक चूर्णी पृ० ५४४।
१३ सम० क० ६ प० ५४४, देखिए—जैन धर्म का मौलिक इतिहास प० ३९७-३९९।

तृतीय-अध्याय

शासन-व्यवस्था

राजा

राजतन्त्र का अस्तित्व वैदिक साहित्य से ही ज्ञात होता है। वैदिककाल में बहुत से परिवार (कुल) मिलकर एक विस (एक सामाजिक संगठन) और बहुत से विस मिलकर एक जन का निर्माण करते थे। कुल का अधिपति कुलपति कहा जाता था। इस प्रकार एक कुलपति अपने गुण, शौर्य और नेतृत्व की क्षमता के कारण विसपति[1] और विसपति से जनपति बन सकता था।[2] धीरे धीरे कई जनपद मिलकर महाजनपद और फिर राज्य बने। राज्य का अधिपति राजा कहा जाने लगा। कौटिल्य ने प्रजापालन के लिए राजा का होना आवश्यक बताया है।[3]

प्राचीन काल के राज्य मुख्यतः दो प्रकार के थे : राजतन्त्र और गणतन्त्र। गुप्तकाल तक आते-आते प्रायः गणराज्य समाप्त हो चुके थे और राजतन्त्र का ही प्रचार प्रसार एवं प्रभाव बढ़ता रहा। राजतन्त्रात्मक शासन पद्धति में राजा ही सर्वेसर्वा होता था। वही राजतन्त्र, सेना, प्रशासन और न्याय पालिका का प्रधान होता था।[4]

समराइच्चकहा में भी राजतन्त्रात्मक शासन का उल्लेख है।[5] यद्यपि राजा स्वेच्छाचारी होते थे तथा उनका पद भी वंश परम्परागत होता था फिर भी वे प्रजा के हितैषी एवं शुभचिन्तक होते थे।[6] दुष्ट एवं अत्याचारी राजाओं की निन्दा की जाती तथा उसके विरुद्ध विद्रोह भी होते थे।[7]

---

१ मैक्रिंडिल ऐंशियन्ट इंडिया पृ० ३८।

२ ए० एस० अल्तेकर—स्टेट एण्ड गवनमेंट इन ऐंशियन्ट इंडिया, पृ० ७६।

३ अर्थशास्त्र १ १३ (सम्मान स्वधर्म भूताना राजा नरपभिरक्ष्यत)।

४ जी० सी० चौधरी—पालिटिकल हिस्ट्री आफ नार्दन इंडिया फ्राम जैन सोर्सेज, पृ० ३२३।

५ सम० क० ८ पृ० २६२ ९ पृ० ८६० ६१ ९५४।

६ वही २ पृ० ११३ ११७ ४ पृ० ३४२ ३६१ ५ पृ० ४८५ ८६ ७ पृ० ७०० ८ पृ० ८८५।

७ वही ५ पृ० ४८२।

राजा के गुण

प्राचीन काल में राज्य के अन्दर शान्ति एवं व्यवस्था बनाए रखने के लिए तथा बाह्य आक्रमणों से रक्षा के लिए राजा की आवश्यकता मानी जाती थी। राजपद अत्यधिक गौरव, महत्त्व तथा जिम्मेदारियों से युक्त था। परिणामतः राजा साधारण व्यक्तियों से भिन्न होता था। समराइच्चकहा में आया है कि राजा को सुकृत (सत् कर्म करने वाला) तथा धर्म अधर्म की व्यवस्था रखने में सलग्न रहना चाहिए, साथ-साथ उसे प्रजा पालन, सामन्त मण्डल को वश में रखने वाला, दीन अनाथों का उपकार करने वाला तथा कीर्तिवान होना चाहिए।[1] इसी ग्रन्थ में उल्लिखित है कि राजा को शरणागतवत्सल तथा धर्मार्थ साधनों में रत होना चाहिए।[2] निशीथ भाष्य में बताया गया है कि राजा को सत्कर्मों का पक्षपाती होना चाहिए न कि बुरे कर्मों का, साथ-साथ यदि वह धन संचय का प्रयत्न नहीं करता तो शीघ्र नष्ट हो जाता है।[3] व्यवहार भाष्य से पता चलता है कि राजा को प्रजा से दसवाँ भाग कर के रूप में लेना चाहिए, लोकाचार, वेद और राजनीति में कुशल तथा धर्म में श्रद्धावान होना चाहिए।[4]

आदि पुराण में उल्लिखित है कि राजा को अपने आंतरिक शत्रुओं (काम, क्रोध, मद, मत्सर, लोभ, मोह आदि) को जीतकर बाह्य शत्रुओं को भी अपने अधीन करना चाहिए, धर्म, अर्थ और काम का सेवन करना चाहिए, राजसत्ता के मद में न आकर विवेक द्वारा यथार्थ न्याय का पालन करना चाहिए, युवावस्था, रूप, ऐश्वर्य, कुल, जाति आदि गुणों को प्राप्त कर अहंकार नहीं करना चाहिए तथा अन्याय, अत्यधिक विषय सेवन एवं अज्ञान इन तीनों दुर्गुणों से बचना चाहिए।[5] सोमदेव ने यशस्तिलक में राजा को सद्गुणों का अनुगामी बताते हुए कहा है कि प्रजा को भी राजा का ही अनुकरण करना चाहिए।[6]

अर्थशास्त्र में राजा के गुणों का वर्णन करते हुए बताया गया है कि उसे अभिगामिक गुण (अक्षुद्र परिवार व वश्य सामन्तता, शुचित्व, प्रिय वादिता, धार्मिकता तथा दूर दर्शिता आदि) प्रज्ञा गुण, उत्साह गुण तथा आत्मसंयत गुण (वाक्चातुर्य, स्मरण शक्ति वाला, धीर, वीर, दूरदर्शी, कोष संवर्धन की क्षमता

---

१ सम० क० २, पृ० १४२, ८, पृ० ७३१ ३२।
२ वही ९ पृ० ८५९।
३ निशीथ भाष्य १५ ४७९९ देखिए—आदि० ४।१६३।
४ व्यवहार भाष्य १, पृ० १२८ अ।
५ आदि० ४।१६४ ६५ ६६ ६७ ६८ ६९।
६ यशस्तिलक ४।९५।

वाला गभीर तथा उदार) आदि से युक्त होना चाहिए।[१] याज्ञवल्क्य स्मृति में भी राजा को उत्साही स्थूल लक्ष्य कृतज्ञ, वृद्धसेवी, विनययुक्त कुलीन सत्यवादी, पवित्र अदीर्घसूत्री, स्मृतिवान प्रियवादी धार्मिक अव्यसनी, पडित बहादुर, रहस्यवेत्ता राज्य प्रवर्तक आन्वीक्षिकी विद्या और राजनीति में प्रवीण बताया गया है।[२]

इन सब अन्य साक्ष्यों में राजा के गुणों का वर्णन किया गया है जिसे समराइच्च कहा में प्राप्त सामग्रियों की पुष्टि होती है। समराइच्च कहा तथा अन्य साक्ष्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि राजा सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक आर्थिक आदि सभी क्षेत्रों में सब गुण सम्पन्न होता था तथा वह सदैव प्रजा हित का ध्यान रखता था। वह अपने सुख की कामना न करके प्रजा के कल्याण (दीन अनाथ आदि की सहायता तथा रक्षा) तथा राज्य हित की कामना करता था। किन्तु जो राजा इन सभी गुणों के विरुद्ध आचरण करके स्वेच्छाचारी हो जाते थे उनके विरुद्ध सर्वत्र विद्रोह होते थे तथा उनकी भर्त्सना होती थी। फलत उनका राज्य शीघ्र ही नष्ट हो जाता था।

राजा महत्व

प्राचीन काल में राजाओं का अत्यधिक महत्व था। समराइच्च कहा में उसे नरपति[३] कहा गया है। कन्नौज के राजा जयचन्द्र के अभिलेख (संवत १२२५) में भी राजा के लिए नरपति शब्द का उल्लेख किया गया है।[४] वे मान और विक्रम के धनी होते थे।[५] राजा महाराजा अन्त पुर अमात्य महासामन्त सामन्त और नगरवासियों से घिरे रहते थे[६] तथा उनके द्वारा सम्मानित होते थे। उनकी सेवा के लिए प्रतिहारी[७] तथा सुरक्षा के लिए अंगरक्षक[८] नियुक्त

१ अर्थशास्त्र ६ १।

२ याज्ञवल्क्य स्मृति राजधर्म प्रकरण श्लोक ३०९ ३१०।

३ सम० क० ४ पृ० ३६५, ३५८ ५ पृ० ४४१ ४७४ ७ पृ० ६४७ ६६९ ६९३।

४ इंडि० एँटी० १५ पृ० ६।

५ सम० क० ७ पृ० ६०५।

६ वही ६ पृ० ५६४।

७ वही ५ पृ० ४८१ ४८२ ७ ६०१ ६९५ ७०९ द्रष्टव्य—वासुदेवशरण अग्रवाल—हर्ष चरित एक सांस्कृतिक अध्ययन पृ० ४४।

८ वही ५ पृ० ३६७ ८ ७३१ ९ ९०६।

रहते थे। राजाज्ञा का पालन सर्वत्र होता था।[1] राजा धर्मार्थ तथा काम आदि त्रिवर्ग संपादन में रत रहते हुए[2] प्रजा के हित का भी संपादन करता था।[3]

अग्नि पुराण से पता चलता है कि राजा को न्यायपूर्वक आजीविका चलाने वाले शिष्ट पुरुषों का पालन और अपराध करने वाले दुष्ट पुरुषों का निग्रह करना चाहिए।[4] प्रजाहित के लिए उसे अधिक से अधिक काम करना अभिहित है।[5] समराइच्च कहा में उल्लिखित राजा के पद की गरिमा तथा महत्व उसकी कार्यक्षमता पर आधारित है। राजा का पद अत्यधिक जिम्मेदारियों से परिपूर्ण होता था और जो राजा इन जिम्मेदारी का पालन अपने परिश्रम न्याय कुशलता आदि के अनुसार करता था उसका सर्वत्र सम्मान तथा महत्व था। प्रजा सम्मान के साथ उसकी आज्ञा का पालन करती थी। ऐसे नृपति का सम्मान सामन्त, महासामन्त मंत्री पुरोहित नगरवासी तथा सम्पूर्ण अन्य अधिकारी भी करते थे। इन्हीं सब कारणों से राजा को अन्य व्यक्तियों से भिन्न बताकर उसे श्रेष्ठ तथा महत्वपूर्ण व्यक्ति समझा जाता था।

युवराज

प्रशासन को सुव्यवस्थित ढंग से चलाने के लिए राज्य में युवराज, मंत्री, पुरोहित सेनाध्यक्ष आदि का होना आवश्यक समझा जाता था।

अभिषेक होने के पूर्व की अवस्था को यौवराज कहा गया है।[6] युवराज पद राजकुमार अथवा राजघराने के विश्वसनीय व्यक्ति को ही सौंपा जाता था।[7] वह प्रान्तीय प्रशासन का कार्यभार वहन करता था।[8] युवराज को ही बाद में अभिषिक्त करके राज्य की सत्ता भी सौंप दी जाती थी।[9]

---

१ सम० क० ४, पृ० २६२ ५ ३९४, ६, ५२८, ५६५, ० पृ० ८६० ६१, ९५४।

२ वही १ पृ० १५ २, पृ० ७६, ९, ८८१।

३ वही २, पृ० ११३ ११७ ४, ३८२ ३६१ ५ ४८५ ८६ ७ ७०९ ८ ८४५।

४ अग्निपुराण ४२।२०२।

५ वही ४२।१३७ १०८।

६ निशीथ चूर्णी ११ ३३६३ की चूर्णी (नोच्च युवरायाणाणाभिसिंचति ताव यवरज्ज भण्णति)।

७ सम० क० २ पृ० १४७ ५, पृ० ४८१, ४८५, ६ ५६९ ७, ६०७, ६२९ ६९५।

८ वही ६ पृ० ५६९।

९ वही ५ पृ० ४८५।

पुत्र का ही राजपद का भागी बताया गया है। कौटिल्य ने लिखा है कि आपत्ति काल को छोड़कर ज्येष्ठ पुत्र को ही राजा बनाना श्रेयस्कर है।[1] मनु ने भी लिखा है कि ज्येष्ठ पुत्र अपने पिता से सब कुछ प्राप्त करता है।[2] हर्षचरित में भी उल्लिखित है कि प्रभाकरवर्धन की मृत्यु के पश्चात बड़े पुत्र राज्यवर्धन का राज्याभिषेक हुआ था।[3]

समराइच्च कहा में उल्लिखित है कि राजसत्ता प्राप्त करने के पूर्व घोषणा कराई जाती थी और महादान पूजा आदि के द्वारा अपूर्व उत्साह मनाया जाता था। दूसरे दिन एक बहुत बड़े समारोह में राजा सामंत मंत्री पुरोहित तथा अन्य नागरिकों के मध्य राजा द्वारा विभिन्न नदियों समुद्र एवं तीर्थों आदि से लाये गये सुगंधित जल से अभिसिक्त किया जाता था तथा सामंत, मंत्री, पुरोहित आदि आशीर्वाद देते थे। तत्पश्चात उसे सिंह चर्म पर बैठाया जाता था और राजतिलक लगा कर सप्रभुता का प्रतीक छत्र और सिंहासन प्रदान किया जाता था।[4] राज्याभिषेक के लिए आवश्यक मांगलिक सामग्रियों में दो मछलियाँ सुगंधित जल से भरा हुआ कनक कलश श्वेत पुष्प महापद्म अच्छत पृथ्वी पिण्ड वृषभ दधिपूर्ण पात्र महारत्न गोरोचन सिंह चर्म श्वेत छत्र, भद्रासन चामर दूर्वा स्वच्छ मदिरा गज मद धान्य और दुकूल आदि का उल्लेख है।[5]

वैदिक काल में भी राज्याभिषेक के समय होने वाले राजा को सिंह चर्म पर बैठाकर पवित्र नदियों तथा समुद्र से लाये हुए जल से स्नान कराया जाता था। वैदिक मंत्रों के साथ पुजारी यह संस्कार सम्पन्न करता तथा राजा को शक्ति आदि प्रदान करने वाले देवों की उपासना कराता था। तत्पश्चात पवित्र धर्म ग्रन्थों की शपथ दिलाई जाती थी।[6] महाभारत में भी राज्याभिषेक के समय धर्म के अनुसार प्रशासन के लिए शपथ ग्रहण करने का उल्लेख है।[7] किन्तु समराइच्च कहा में धर्मग्रन्थों की शपथ का उल्लेख नहीं है।

---

१ अर्थशास्त्र १।१७।
२ मनु० ९।१०९।
३ हर्षचरित पृ० २००।
४ सम० क० ३ पृ० ७२६ देखिए—निशीथ चूर्णी २ पृ० ४५० ६, पृ० १०१।
५ वही २ पृ० १५७ ' पृ० ४८३ ८४।
६ ए० एस० अल्तेकर—स्टेट एण्ड गवर्नमेंट इन एंशियन्ट इंडिया पृ० ७८।
७ महाभारत १२।५९।१०६ ०७ प्रतिज्ञा चाधिरोहस्व मनसा कर्मणा गिरा। पालयिष्याम्यहं भौम ब्रह्म इत्येव चासकृत्।

रामायण में भा राम के अभिषेक के समय जामवत, हनुमान और अन्य दा न्यक्तिया द्वारा चार कलशा में समुद्र का जल ले आने का उल्लेख ह। समुद्र क साथ-साथ पाँच सौ नदियों का जल लाया गया। कुल पुरोहित एव वृद्ध मुनि वशिष्ठ ने राम और सीता को रत्न जटित सिंहासन पर बठाया। सबसे पहले वशिष्ठ एव अन्य मुनियों ने राम पर पवित्र एव सुगधित जल छिड़का। तत्प श्चात कुमारियों मत्रियों, सिपाहियो एव वणिक—निगमा ने भी जल छिड़का। वशिष्ठ ने राम के सिर पर अति प्राचीन मुकुट बाँधा।[1]

बाण ने लिखा ह कि शुभ मुहूत में कुल पुरोहित स अभिषेक सम्बन्धी सभी मगल काय कराये गये और राजा ने स्वय अपने हाथों मागलिक जल स परिपूण कलश के मत्रपूत जल की धार छोडते हुए आनन्दपूर्वक चन्द्रापीड का राज्याभिषेक किया। उस अवसर पर सभी नदिया, तीर्थों आदि से जल लाया गया। साथ साथ वदिक प्रथा के अनुसार सब प्रकार की औषधियाँ, फल सभा स्थाना की मिट्टी (समराइच्च कहा में इसे पृथ्वी पिण्ड कहा गया ह) तथा रत्न आदि एक त्रित किये गये थे।[2]

अभिषेक सस्कार का उल्लेख अन्य ब्राह्मण[3] तथा जन ग्रन्था[4] में भी मिलता ह।

सामत

कुछ विचारका के अनुसार राजनीतिक एव प्रशासनिक प्रवृत्तिया के कारण राज्य व्यवस्था का सामतवादी ढाँचा मौर्योत्तर काल और विशेषकर गुप्त काल में प्रारम्भ हुआ।[5] छठवी शताब्दी में विजित जागीरदारा का सामन्त के रूप में व्यवहृत किया जाने लगा।[6] कौटिल्य अथशास्त्र में भी इन पडोसी जागीरदारों को

१ देखिए—रामायण—युद्ध काण्ड।

२ वासुदेवशरण अग्रवाल—कादम्बरी एक सास्कृतिक अध्ययन पृ० १२३।

३ महाभारत—शाति पव ४०।९ १३ विष्णु धर्मोत्तर २।१८।२ ४ अग्नि पुराण-अध्याय २१८ हषचरित पृ० १०३।

४ जम्बू द्वीप प्रज्ञप्ति ३।६८ आवश्यक चूर्णी, पृ० २०५, निशीथ चूर्णी, २ पृ० ४६२ ६३ ३ पृ० १०१ उत्तराध्ययन टीका, ८, पृ० २४०, नात धम कथा १ पृ० २८ आदि पुराण ११।३१ ४५, १६।१९६ २१५ १६। २२५ २३३ २३।६०।

५ आर० यस० शर्मा—भारतीय सामतवाद, पृ० २।

६ वही पृ० २४ २५।

स्वतत्र सत्ता का प्रमाण मिलता ह ।[1] मौयकाल के पश्चात इसका प्रयोग पडोसी भूमि क औचित्य के लिए किया जाने लगा[2] न कि जागीरदार के रूप में ।[3]

पाँचवी शताब्दी में सामत शब्द का प्रयोग दक्षिण भारत में भूस्वामी क अथ में किया जाने लगा क्योंकि शातिवमन (ई० सन ४५ ७०) क पल्लव अभिलेख में सामत चुडामानया का उल्लेख प्राप्त होता ह ।[4] उसी शताब्दी के अन्तिम काल में दक्षिणी और पश्चिमी भारत क दानपत्रा में सामत का उल्लेख जागीरदार (भूस्वामी) क अथ में प्राप्त होता ह ।[5] उत्तर भारत में सवप्रथम इसका प्रयोग उसी अथ में बगाल अभिलेख और मौखरी शासक अनन्तवमन क बराबर पहाडी गुफा अभिलेख में उल्लिखित ह जिसमें उसके पिता को सामन्त चुडामनी (भूस्वामियों में सवश्रेष्ठ) कहा गया ह ।[6] दूसरे यशोधरवमन (ई० सन ५२५ ५३५) क मदसौर स्तम्भ लेख में भी सामत का उल्लेख पाया जाता ह जिसमें वह समस्त उत्तर भारत के सामता का अपने आधीन करने का दावा करता ह ।[7]

समराइच्च कहा में सामतवादी प्रथा का भी उल्लेख प्राप्त होता ह । सामत[8] लोग राजा महाराजाआ के आधीन शासन करते थे । वे कर दाता नृपति क रूप में जाने जाते थ तथा राजा महाराजाआ का सम्मान करते थ ।[9] सामता के पास अपनी निजी सना एव दुग रहता था ।[10] फिर भी वे स्वतत्र शासक की आज्ञा क विरुद्ध काय नहा करते थ । वाकाटका के सामत नारायण महाराज और शत्रुघ्न

१ अथशास्त्र १ ६ ।

२ मनु० ८ २८६-९ याज्ञ० २ १५२ ३ ।

३ बी० यन० दत्ता–हिन्दू ला आफ इनहेरिटेन्स, पृ० २७ ।

४ राजबला पाण्डेय–हिस्टारिकल एण्ड लिटररी इसक्रिप्सन्स न० २९, १ ३ ।

५ लल्लन जी गोपाल— सामत—इटम वरिग सिगनीफिकेंस इन अर्लीमिडिएवल इडिया –जनल आफ दी रायल एशियाटिक सोसायटी अप्रल १९६३ में ।

६ कापस इसक्रिप्सनम् इडिकेरम ३ न० ४९ १ ८ ।

७ गम्बर इसक्रिप्सस पृ० ३९४ पक्ति ५ ।

८ समः क० २ पृ० १४७ ५ पृ० ३६५ ३८३ ४८१ ८२, ४८५,४८७ ७ पृ० ६३३ ६३५ ६०४ ८ ८४१ ९ ९३६, ९६१ ६२, ९६४ ९७३ ९७६ ९७८ ।

९ वही ७ पृ० ७२६ ।

१० वही २ प० १४७-४८ ।

महाराज व`यगुप्त के सामत रुद्रट, और कदम्बा के सामत भानुशक्ति को अपने ही राज्य के कुछ ग्रामा की मालगुजारी दान करते समय अपने सम्राटो की अनुमति लेनी पडती थी।[१] राष्ट्रकूट शासक गाविन्द ततीय का सामत बुधवप न भी एक ग्राम दान करने के लिए अपने सम्राट से आज्ञा मांगी थी।[२] राष्ट्रकूट नृपति ध्रुव के सामत शकरगण ने भी ग्राम दान की आज्ञा मांगी थी।[३] इसी प्रकार परमार नरेश जयवर्मा के आदेश से उसके सामत गगदव ने भूमि दान किया था।[४]

सामत नृपति युद्ध-काल में शत्रु पर विजय पाने की लालसा से अपने सम्राटो को सैन्यबल की सहायता भी करते थ।[५] अन्य साक्ष्यों से भी पता चलता ह कि सामन्त लोग अपने सम्राटो को सैनिक मदद करते थे।[६] दक्षिण कर्नाटक का नरसिंह चालुक्य (९१५ ई०) अपने सम्राट की ओर स प्रतिहार सम्राट महीपाल के विरुद्ध युक्तप्रात में जाकर लडा था।[७]

कभी-कभी सामत नृपति स्वतत्र शासक बनने के लिए अपने स्वामी सम्राट के विरुद्ध विद्रोह भी कर देते थे जिसका दमन करने के लिए स्वामी-नृपति सैन्य शक्ति का सहारा लेते थे।[८] विद्रोही सामता को पराजित हो जाने पर बडी अपमानजनक यातनाए सहन करनी पडती थी।[९] कभी कभी उनसे विजेता के अश्वशाला हस्तिशाला आदि में दड स्वरूप झाडू दिलवाई जाती थी।[१०]

केन्द्रीय सत्ता कमजोर पडने पर सामत-नृपति स्वतत्र भी हो जाते थ। यथा गुर्जर प्रतिहार साम्राज्य की अवनति पर उसके अनेक सामता ने महाराजाधिराज परमेश्वर आदि उपाधिया धारण कर ली थी।[११]

---

१ इण्डियन हिस्टारिकल क्वाटरली ६ प० ५२ इडियन ऐंटाक्वरी ६ प० ३१ ३२।
२ इडि० ऐंटीक्वेरी १२ पृ० १५।
३ इपि० इडि० ९, प० १९५।
४ वहा ९, पृ० १२० ३।
५ वही १२ पृ० १०१।
६ अल्तेकर—राष्ट्रकूटा का इतिहास, पृ० २६५।
७ सम० क० १ पृ० २७ २ १४७, १५३ १४ ८ प० ७७१ ७२।
८ कुमारपाल प्रबध, पृ० ४२।
९ इपि० इडि० १८ पृ० २४८।
१० वही १ पृ० १९३ ३ प० २६१ ७।

समराइच्च कहा में महासामंता का भी उल्लेख है जो स्वतंत्र सम्राटों के समान ही वैभव वाले अनेक सामंतों के अधिपति तथा सम्राट के अत्यन्त विश्वसनीय व्यक्ति होते थे।[1] महासामंता वे स्वतंत्र राजाओं से वैवाहिक सम्बन्ध भी होते थे।[2] उनके अधिकार में उनकी निजी सेना दुर्ग तथा कोष आदि होते थे।[3] अतः वह स्वतंत्र सम्राट का निकटस्थ विश्वसनीय और लगभग उन्हीं की तरह सम्पन्न समझा जाता था। हर्ष के दरबार में अनेक महासामंत और राजा उपस्थित थे इनकी तीन श्रेणियाँ थीं—एक शत्रु महासामंत जो जीत लिये गये थे। दूसरी श्रेणी में वे राजा आते थे जो सम्राट के प्रताप से अनुगत होकर वहाँ आये थे। तीसरी श्रेणी के वे नृपति थे जो सम्राट के अनुरागवश आकृष्ट हुए थे।[4] अपराजितपृच्छा ग्रंथ के अनुसार लघु सामंत की आय ५ सहस्र सामंत की दस सहस्र महासामंत अथवा सामंत मुख्य की आय बीस सहस्रकर्षापण होनी चाहिए।[5] अपराजितपृच्छा में यह भी उल्लिखित है कि महाराजाधिराज परमेश्वर की उपाधि धारण करने वाले सम्राट के दरबार में चार मण्डलेश, बारह माण्डलिक सोलह महासामंत बत्तीस सामंत एक सौ साठ लघु सामंत तथा चार सौ चतुराशिक (चौरासी) उपाधिधारी होने चाहिए।[6] इन सभी उल्लेखों से स्पष्ट होता है कि समराइच्च कहा में उल्लिखित सामन्त महासामन्त सम्राटों के अधीन कर दाता नृपति के रूप में शासन करते थे जिनमें महासामन्त का पद सामंतों से ऊँचा होता था।

कुलपुत्रक

तत्कालीन शासन पद्धति के अन्तर्गत राजा महाराजाओं के अधीन सामंतों की तरह कुलपुत्रक[7] भी होते थे। ये लोग भी राजाओं को युद्ध के अवसरों पर सैनिक सहायता देते थे।[8] कुलपुत्रों का राजाओं महाराजाओं के यहाँ बड़ा ही सम्मान होता था। ये कुलपुत्रक दान में व्यसनी अभिमान धनी दयालु शूर

---

१ सम० क० २ पृ० ७९ से ८३ ५ ४७२।
२ वही २ पृ० ७९ से ८३।
३ वही २ पृ० ७९ से ८३।
४ अग्रवाल—हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन पृ० ४१।
५ अपराजितपृच्छा ८२ ५ १० पृ० २०३।
६ वही ७८ १२ ३४ पृ० १०६।
७ सम० क० १ पृ० २९ २ १५३ ३ १७२ ५ ३८७–८८ ३८० ०० ११६ ६५ ७ ६६० ८७७३।
८ वही ७ पृ० ६६०।

तथा शरणागत रक्षक होते थे।[१] अपने गुण तथा पराक्रम के कारण ये लोग काफी सम्मानित समझे जाते थे। हर्ष चरित में भी एक स्थान पर उल्लिखित है कि अभिजात राजपुत्रों के द्वारा भेजे गये पीतल-जटित (कुप्य युक्त) वाहनों में कुलीन कुलपुत्रों की स्त्रियां जा रही थी।[२] दक्षिण के वाकाटक लेखों में राज संदेश वाहकों को कुलपुत्र (कुलीन उच्च कुल का) कहा गया है।[३] पल्लव लखों में इन्हें महाप्रधान (मन्त्री) का संदेशवाहक बताया गया है।[४] आसाम से प्राप्त एक लेख में इस श्रेणी का एक अधिकारी बड़े गर्व से कहता है कि मैं सैकड़ों राजाओं का वहन कर चुका हूँ।[५]

समराइच्च कहा तथा अन्य साक्ष्यों से स्पष्ट होता है कि ये कुलपुत्रक राज परिवार से संबधित उच्च कुल के होते थे जो अपने मान-सम्मान के धनी तथा पराक्रमी होते थे। इनका कार्य युद्ध काल में सैनिक सहायता के साथ-साथ संदेश पहुँचाना भी था।

मन्त्रि और मन्त्रिपरिषद्

कौटिल्य ने राज्य के सात अंग-स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, दण्ड और मित्र गिनाया है।[६] मानसोल्लास में भी स्वामी, अमात्य, सुहृद, कोष, राष्ट्र, दुर्ग एवं बल को सप्तांग बताया गया है।[७] प्रशासनिक कार्यों में राजा की मदद के लिए मन्त्रिपरिषद् का गठन किया जाता था जिसमें एक से अधिक मन्त्री होते थे।[८] राजा प्रत्येक कार्य करने के पूर्व अपने मन्त्रियों से सलाह लेता था।[९] महाभारत में एक स्थान पर बताया गया है कि राजा उसी प्रकार मन्त्रियों पर निर्भर रहता है जैसे जीव जन्तु बादलों पर, ब्राह्मण वेदों पर और स्त्रियां अपने पति पर।[१०] मनु के अनुसार भिन्न भिन्न व्यक्ति भिन्न भिन्न कार्यों के विशेषज्ञ होते हैं

१ सम० क० ५ पृ० ३८७।
२ अग्रवाल—हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन पृ० १४१।
३ इपिग्रफिया इंडि० २२ पृ० १६७।
४ इंडि० ऐंटी० ५ पृ० १५५।
५ इपि० इंडि० ११, पृ० १०६।
६ अर्थशास्त्र ६,१।
७ मानसोल्लास अनुक्रमणिका, श्लोक २०।
८ सम० क० २, पृ० १५०-५१।
९ सम० क० २, पृ० १५१।
१० महाभारत—उद्योगपर्व ३७-३८।

ता अकेले राजा हर काम को दक्षतापूवक नही कर सकता। परिणामत उस राज्य तथा स्वय को बर्बादी स बचाने के लिए मन्त्रिया का सहयोग लेना चाहिए।[1]

मन्त्री गण भी राजा के प्रति स्वामिभक्ति की भावना स काम करते थे।[2] वे नीति और बुद्धि में कुशल होते।[3] परामश तथा अन्य प्रकार के प्रशासनिक कार्यों में सहयोग क साथ-साथ न्याय काय भी देखते थे।[4] कौटिल्य क अनुसार मन्त्री को स्वदेशी उच्च कुल का कला में परिपक्व दूरदर्शी बुद्धिमान तेज यादाश्त वाला धीर चतुर उत्साही सच्चरित्र शक्तिशाली बहादुर और अच्छे स्वास्थ्य वाला, स्वतत्र विचार का तथा घृणा तथा शत्रु भाव रहित होना चाहिए।[5] अन्य ब्राह्मण[6] तथा जन[7] ग्रन्था में भी मन्त्रिया को साम दाम दण्ड और भेद नीति में कुशल नीतिशास्त्र में पण्डित गवेषण आदि में चतुर कुलीन श्रुति सम्पन्न पवित्र अनुरागी धीर वीर निरोग, प्रगल्भ वाग्मी प्राज्ञ, राग-द्वेष रहित सत्य सन्ध महात्मा दृढ चित्त वाला निरामय प्रजा प्रिय आदिगुणा से युक्त होना आवश्यक बताया गया ह। यद्यपि राज्य के सभी कार्यों के प्रति अतिम जिम्मेदारी राजा की होती थी फिर भी वह मन्त्रियों की सलाह मानता था।[8] मंत्रियों का यह मत्र श्रेष्ठ कतव्य था कि राजा का सही माग दिखा कर गलत कार्यों स बचाये।[9] कथा सरित्सागर में उल्लिखित ह कि मन्त्री को राजा क प्रति स्वामिभक्त तथा जनता का शुभेच्छु होना चाहिए।[10] राजा भी मन्त्रिया का सम्मान

---

१ मनु० ७।५३ विशेषनाऽसहायेन किंनु राज्य महात्म्यम।

२ सम० क० १ पृ० ४० ४ ३३५।

३ वही २ पृ० १५१।

४ वही ४ पृ० २५७ ५८ ५९, २६२।

५ अथशास्त्र १ ९ देखिए—महाभारत १२ वाँ पव अध्याय ८३ कामन्द नीतिसार, ४ २५-३१।

६ महाभारत १२ अध्याय ८३ कामन्दक नीतिसार ४।२५ ३१।

७ व्यवहार भाष्य १ पृ० १३१-अ शान्ति धम कथा १ प० ३, आदिपुराण, ५।७ मानसोल्लास २।२।५२ ५९।

८ अथशास्त्र १ १५ देखिए—बृहत्कल्पभाष्य १ पृ० ११३।

९ वही १ १५ देखिए—कामन्द० IV ४१४।

१० कथासरित्सागर १३।४६।

करता था।[1] वह मन्त्रियों का अपना हृदय समझता था।[2] राज्य में धर्म एवं अर्थ की समृद्धि आदि मन्त्रियों की कार्य पटुता पर निर्भर रहती थी।[3] मौखरी प्रशासन में मन्त्रिपरिषद् का प्रशासनिक अधिकार प्राप्त था क्योंकि जब अंतिम राजा संतान रहित मर गया तो मन्त्रिपरिषद ने ही मौखरी प्रशासन हर्षवर्धन को सौंपा था।[4] अतः समराइच्च कहा के उल्लेखानुसार यह स्पष्ट होता है कि मन्त्री राजा की ही भांति सर्वगुण सम्पन्न होते थे तथा राजा राज्य तथा जनहित की भावना से कार्य करते थे। मन्त्रिपरिषद को ही प्राचीन प्रशासनिक गाड़ी की धुरी समझना चाहिए।

समराइच्च कहा में यद्यपि परिषद् में मन्त्रियों की कोई निश्चित संख्या नहीं दी गयी है फिर भी राजदरबार में एक महामन्त्री[5] तथा अन्य साधारण मन्त्री होने[6] थे। महाभारत में मन्त्रियों की संख्या आठ बतायी गयी है।[7] मनु के अनुसार मन्त्रिपरिषद में मन्त्रियों की संख्या सात या आठ होनी चाहिए।[8] मनु[9] और कौटिल्य[10] इस बात पर सहमत हैं कि राज्य की आवश्यकतानुसार मन्त्रियों की संख्या निश्चित की जानी चाहिए। यशस्तिलक में राजा का एक ही मन्त्री पर पूर्ण रूप से निर्भर न होने की बात कही गयी है जिससे स्पष्ट होता है कि मन्त्रियों की संख्या अवश्य ही अधिक रही होगी।[11]

---

१ इपि० इंडि० ९, पृ० २५४-परबल नृपते मूर्ध्नि वन्द्य प्रधान, देखिए—इंडि० ऐंटीक्वरी १४, पृ० ७-या जिह्वा पृथ्वीराम्य यारानां दक्षिण कर।

२ जनर्ल आफ दी बाम्बे ब्राच आफ रायल एशियाटिक सोसायटी १५, पृ० ५।

३ इंडियन ऐंटीक्वरी ७ पृ० ४१।

४ वाटर्स आन युवान च्वांग १ पृ० ३४३।

५ सम० क० २ पृ० १४५, ३ २९५।

६ वही १ पृ० २१, ६८ ४ २५७ ५८ ५९, २७२, २८३, २९५ ६ ५९८ ६३० ३१, ६९२ ६९४, ७०७ ८ ८३२, ८४४।

७ महाभारत १२ ८५, अष्टानां मन्त्रिणां मध्ये मन्त्र राजोपधारयत्।

८ मनु ७।५४—सचिवान् सप्त चाष्टौ वा कुर्वीत सुपरीक्षितान्—, देखिए—मानसोल्लास २।२।५७।

९ मनु० ७।६१।

१० अर्थशास्त्र १ १५ यथा सामर्थ्यमिति कौटिल्य।

११ क० च० हन्दिकी—यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कल्चर, पृ० १०१।

समराइच्च कहा में मत्री[1], महामत्री[2], अमात्य[3], प्रधान अमात्य[4] और सचिव[5] तथा प्रधान सचिव[6] का उल्लेख ह। रामायण में कही मत्री को सचिव बताया गया ह[7] तथा कही इन दोनो में भेद बतलाया गया ह।[8] पश्चिमी भारत के शक प्रशासको ने मति सचिव (मत्री) तथा कर्म सचिव (विभागीय मत्री) की सहायता से प्रशासन काय किया था।[9] अर्थशास्त्र में सभी मत्रियो का सयुक्त रूप से अमात्य कहा गया ह।[10] किन्तु एक अन्य स्थान पर कौटिल्य ने मत्रियों का निर्वाचन अमात्यो के बीच में से करने का सकेत किया[11] ह जो कि मत्री और अमात्यो के बीच अतर का द्योतक ह। मनु ने प्रधान मत्री को ही अमात्य कहा ह।[12]

उपरोक्त भेद प्रभेद के अलावा समराइच्च कहा की भाँति निशीथ चूर्णी में भी अमात्य[13] सचिव[14], मत्री[15] तथा महामत्री[16] का उल्लेख मिलता ह किन्तु इनमें भेद नही बताया गया है। किन्तु वसाक के अनुसार सभी अमात्य जो सचिव

१ सम० क० १, पृ० २१ ६८ ४ २५७ ५८ ५९ २७२ २८३ २९५ ६, ५९८, ६३० ३१ ६९२, ६९४ ७०७ ८ ८३२ ८४४ देखिए—उपासक दशा २, परिशिष्ट पृ० ५६ अर्थशास्त्र १ ६।

२ वही २ पृ० १४५, १५१ ४ २९५ इण्डियन एंटीक्वरी ६ पृ० २४ तथा १८ पृ० २३८।

३ वही २ पृ० १४६ ३ १९६ ४ २७३ ७४ ७ ६३१-३२ ३३, ८ ८३७ ९ ८९७ ९८ ९३५, ९७८ देखिए—निशीथ चूर्णी ४ पृ० २८२ १ पृ० १६४ आर्कियालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया एनुअल रिपोर्ट १९५३ ५४, पृ० १०७ महाभारत १२।८५।७-८ अर्थशास्त्र १ १५।

४ वही ७, पृ० ६९३ ९४ ९५ देखिए—निशीथ चूर्णी २ पृ० ४४९ इपि० इण्डि०—११ पृ० ३०८।

५ सम० क० ३ पृ० १६२ ९ ८८१।

६ वही ९ पृ० ८८२।

७ रामायण २।११२।७।

८ वही १।७।३ तथा १।८।४।

९ रुद्रदामन प्रथम का जूनागढ अभि० इपि० इण्डि० ८ पृ० ४२।

१० अर्थशास्त्र १ १५।

११ वही १ पृ० ८।

१२ मनु० ७।६५।

१३ निशीथ चूर्णी १ पृ० १६४ ४ पृ० २८१।

१४ वही १ पृ० १२७।

१५ वही १ पृ० १२७।

१६ वही ३ पृ० ५७।

कहे जाते थे, मन्त्री नही थे।[1] मध्यकालीन अभिलेखों[2] में अमात्य को सचिव से भिन्न सूचित किया गया है और उन्हें माल तथा कर विभाग का मन्त्री बताया गया है। निशीथ चूर्णी में एक स्थान पर सचिव को मन्त्री बताया गया है[3] तथा एक स्थान पर सुबुद्धि नामक व्यक्ति को जिया सत्तु नामक राजा का अमात्य और मन्त्री दोनो बताया गया है।[4] विभिन्न चालुक्य अभिलेखों में महामन्त्री को महामात्य के रूप में चित्रित किया गया है।[5] अत स्पष्ट होता है कि कार्यक्षेत्र के अनुसार समराइच्च कहा में उल्लिखित मन्त्री, अमात्य तथा सचिव आदि मन्त्री गण के लिए तथा महामन्त्री प्रधान अमात्य तथा प्रधान सचिव आदि प्रधान मन्त्री के लिए प्रयुक्त हुए है।

पुरोहित

प्रशासन के कार्यों में प्रधान मन्त्री प्रधान अमात्य की भाँति राज पुरोहित का पद भी बडा सम्मानजनक था।[1] समराइच्च कहा में उल्लिखित है कि पुरोहित को सकलजना से सम्मानित, धर्मशास्त्र का पडित, लोक व्यवहार में कुशल नीतिवान, वाग्मी अल्पारम्भपरिग्रह वाला तथा तन्त्र-मन्त्र आदि का वेत्ता होना चाहिए।[7] अर्थ शास्त्र[8] के अनुसार पुरोहित को शास्त्र प्रतिपादित विद्याओं से युक्त उन्नत कुल शीलवान, षडङ्गवेदज्ञाता ज्योतिषशास्त्र शकुनशास्त्र तथा

---

१ बसाक आर० जी०—मिनिस्टस इन ऐंसियन्ट इण्डिया - इण्डियन हिस्टारिकल क्वाटरली, वाल्यूम १, पृ० ५२३ २४ (बसाक के अनुसार अमात्य और सचिव शब्द का अर्थ 'सहायक' अथवा साथी से है किन्तु मन्त्री का अर्थ 'मन्त्र (गुप्त-सलाह) अथवा राजनीतिक सलाह से है।), अमर कोष ८०४५ से पता चलता है कि एक 'अमात्य' जो कि राज्य का 'अधिसचिव' अथवा 'मति सचिव (सलाह देने वाला मन्त्री) है, मन्त्री कहा जायगा और मन्त्रियों के अलावा सभी 'अमात्य' कर्म सचिव थे।

२ ए० यस० अल्तेकर—राष्ट्रकूटाज एण्ड दियर टाइम्स पृ० ८१।

३ निशीथ चूर्णी २ पृ० २६७—अमच्चा मन्त्री।

४ वही ३ प० १५०।

५ ए० यस० अल्तेकर—स्टेट एण्ड गवनमेंट इन ऐंसियन्ट इण्डिया प० १२५।

६ सम० क० १ पृ० २१ ३८, ४८, ६ ५९५ ६०१, ७ ६३८, ९ ८९५, देखिए—आदि० ३७ १७५।

७ वही १ प० १०।

८ अर्थशास्त्र १ ९।

स्थान तक पहुँचाने के लिए लेख वाहक[1] की नियुक्ति होती थी। यह सचार वाहक का कार्य करता था। हर्ष चरित में लेख वाहक को लेख हारक कहा गया है जो लेख (पत्र) पहुँचाने का कार्य करता था। इसके सिर पर नीली पट्टी माला की तरह बँधी रहती थी जिसके भीतर लेख रखकर प्रेषित करता था।[2] राजतरंगिणी में इसका उल्लेख लेख हारक[3] के रूप में हुआ है।

राज प्रासाद

प्राचीन काल में राजा महाराजाओं के आवास के लिए सुन्दर एवं आकर्षक राजप्रासाद निर्मित होते थे। अभयदेव की व्याख्या प्रशस्ति टीका में देवों के निवास स्थान को प्रासाद और राजाओं के निवास स्थान को भवन कहा गया है।[4] प्राचीन जैन ग्रन्थों में आठतल वाले प्रासादों का उल्लेख है। ये प्रासाद सुन्दर शिखर युक्त तथा ध्वजा पताका छत्र और मालाओं से सुशोभित तथा मणि मुक्ता जटित फर्श वाले होते थे।[5] यशस्तिलक में त्रिभुवन तिलक प्रासाद का उल्लेख है जो श्वेत पाषाण (संगमरमर) से निर्मित था। शिखरों पर स्वर्ण कलश लगाये गये थे। रत्नमय खम्भों वाले ऊँचे-ऊँचे तोरणों के कारण राज भवन कुबेरपुरी की तरह लग रहा था।[6] आदि पुराण में भी सर्वतोभद्र प्रासाद तथा वर्धमान भवन का उल्लेख है।[7] बाणभट्ट के कादम्बरी में महा प्रासाद का उल्लेख है।[8] समराइच्च कहा में सर्वतोभद्र प्रासाद तथा विमान छन्दक प्रासाद का विस्तृत एवं सुन्दर वर्णन प्राप्त होता है।

सर्वतोभद्र प्रासाद

यह प्रासाद राजा के सभी प्रकार की सुख-सुविधाओं से परिपूर्ण होता था।[9] इसमें तोरण तथा चन्दन मालाएँ लटक रही थी सुगंधित द्रव्य और आकर्षक

१ सम० क० ४, पृ० ३६१ ६२६ प० ५३३ ८ ८१४।
२ वासुदेवशरण अग्रवाल—हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन पृ० ८० तथा पृ० १८०।
३ राजतरंगिणी ६। ३१९।
४ अभयदेव व्याख्या प्रशस्ति टीका ५ ७ प० २२८ (बेचर दास अनु०)।
५ नायाधम्म कहा १ प० २२ उत्तराध्ययन सूत्र १९।४ उत्तराध्ययन टीका १३, पृ० १८९।
६ यशस्तिलक पृ० ३४२ ४३ ४४।
७ आदि० ३७।१४६ ८७।
८ कादम्बरी पृ० ५८।
९ सम० क० १ पृ० ४३।

पुष्प मालाएं इसके सौन्दर्य की निरंतर वृद्धि करती थीं।[1] आदि पुराण में भी सर्वतोभद्र प्रासाद का उल्लेख आया है जो चक्रवर्ती राजा का आवास था। इसमें दैदीप्यमान रत्नों से मंडित तोरण लगे थे।[2] मानसार में भी सर्वतोभद्र को दण्डक स्वस्तिक मौलिक चतुर्मुख आदि की भांति एक अन्य प्रकार का प्रासाद बताया गया है।[3] यह विशेषतया सप्तमात्र (सात भवनों की पंक्ति) कहा गया है।[4]

विमान छन्दक प्रासाद

राजा अपनी सुख-सुविधा के विचार से राजधानी के बाहर भी सुन्दर एवं आकर्षक विमान छन्दक नामक राजप्रासाद का निर्माण कराते थे।[5] यह महल वर्षा ऋतु की शोभा को धारण करने वाला था। इसकी अलंकारिता का विस्तृत वर्णन समराइच्चकहा में किया गया है।[6] इसमें स्वर्ण जटित स्तम्भ तथा सुन्दर गलियाँ तथा द्वार बने थे। राजप्रश्नीय सूत्र में भी सूर्याभ देव के विमान प्रासाद का वर्णन किया गया है। यह प्रासाद चारों तरफ प्राकार से वेष्टित था।[7] इसके चारों तरफ द्वार बने थे जो ईहामृग वृषभ नरतुरग (मनुष्य के सिर वाला घोड़ा) मगर विहग, सर्प किन्नर, रुरु (हरिण) शरभ चमर कुंजर वनलता और पद्मलता की आकृतियाँ बनी थीं।[8] मानसार में विमान को हर्म्य आलय अधिष्ठान प्रासाद भवन क्षेत्र मन्दिर आयतन वेश्म गृह आवास छाया धमन वास गेह आगार सदन आदि का पर्याय बताया बताया गया है।[9]

भवनदीर्घिका

भवनोद्यान से लेकर अंतःपुर तक एक छोटी सी नहर रहती थी। इसकी लंबाई के कारण ही इसे भवन दीर्घिका कहा जाता था। दीर्घिका के मध्य में गन्धोदक से पूर्ण क्रीडा वापियाँ बनी रहती थीं। इसमें कमल खिले रहते थे हंस क्रीडा किया करते थे तथा राजा और रानियां भी इस भवन दीर्घिका में

---

१ सम० क० १ पृ० ४३।

२ आदि० ३७।१४६।

३ पी० के० आचार्य—आर्किटेक्चर आफ मानसार पृ० ३७३।

४ वही पृ० २७६।

५ सम० क० १, पृ० १५।

६ वही १, पृ० १५।

७ जगदीश चन्द्र जैन—जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० ३३१-३२।

८ वही पृ० ३३१-३२।

९ पी० के० आचार्य—आर्किटेक्चर आफ मानसार पृ० २२९।

स्नान करती थी।[1] यशस्तिलक में भी भवन दीर्घिका का उल्लेख आया है जिसका तलभाग मरकतमणि का बना हुआ था[2]। दीवालें स्फटिकमणि[3] से, सीढ़ियाँ स्वर्ण[4] से तथा तट प्रदेश मुक्ताफल[5] से निर्मित थे। जल को कहीं हाथी, कहीं मकर इत्यादि के मुँह से झरता हुआ दिखलाया गया था[6]। जलतरंगों पर कपूर का छिड़काव था[7] तथा किवाड़ों पर चन्दन का लेप था[8]। बीच में पुष्करिणी बनाई गया थी (जल का राक कर) जिसमें कमल खिले थे[9]। आगे सुगंधित जल युक्त कूप बनाया गया था जिसमें कस्तूरी और केसर से सुवासित शीतल जल भरा हुआ था।[10] तत्पश्चात जल का मृणाल की तरह पतली धारा के रूप में बदल दिया गया था[11]। अंत में यह दीर्घिका प्रमद वन में पहुँचती दिखायी गयी है जहाँ विविध प्रकार के कोमल पत्तों और पुष्पों से पल्लव और प्रसून शय्या बनायी गयी थी[12]। हर्षचरित[13] तथा कादम्बरी[14] में भवन दीर्घिका का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है। कालिदास ने भी भवन दीर्घिका का वर्णन किया है[15]। इन साक्ष्यों से स्पष्ट होता है कि भवन दीर्घिका राजमहल निर्माण कला की एक विशेषता थी।

वाह्याली

राजप्रासाद के बाहर राजपुत्रों के द्वारा घोड़ों पर सवार होकर भ्रमण

---

१ सम० क० १ पृ० ८२ ५ पृ० ४७२।
२ यशस्तिलक पृ० ३८ पू० (मरकत मणि विनिर्मित मूलासु)।
३ वही पृ० ३८।
४ वही पृ० ३८ (कांचनारचितसोपान परंपरासु)।
५ वही पृ० ३८ (मुक्ताफलपुलिन वेलाकूल पयतासु)।
६ वही पृ० ३९ (करिमकर मुखमुच्यमानवारिभरिताभागासु)।
७ वही पृ० ३९।
८ वही पृ० ३९।
९ वही पृ० ३९।
१० वही पृ० ३९।
११ वही पृ० ३९।
१२ वही पृ० ३९ (विविध पल्लव प्रसून तल्पकल्पनाधिरासु)।
१३ वासुदेवशरण अग्रवाल—हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन पृ० २०६।
१४ अग्रवाल—कादम्बरी एक सांस्कृतिक अध्ययन पृ० ३०१ ३२।
१५ रघुवंश १६ १३ मल्लिनाथ—आदि० ८२२।

करने के स्थान को वाह्याली कहा जाता था।[1] मनोरंजनार्थ राजकुमार घोड़े पर सवार होकर वाह्याली में क्रीडा करते थे। निशीथ चूर्णी[2] में भी घोड़ा को शिक्षा देने के स्थान को वाह्याली बताया गया है। मानसोल्लास में वाजि वाह्याली तथा गज वाह्याली का उल्लेख है। वाह्याली की भूमि कीचड़, पाषाण तथा शंकु से हीन तथा न अधिक मुलायम और न अधिक कठोर होती थी[3]। दो द्वारों से युक्त उत्तर दिशा की ओर दर्शन मंडप बनाया जाता था। वाह्याली का निर्माण हो जाने पर तथा गृहकारकों के निवेदन करने पर हयाध्यक्ष को बुलाकर राजा घोड़े को वाह्याली में लाने की आज्ञा देता था[4]। गज वाह्याली में गजा का क्रीडा होती थी। यह वाह्याली १०० धनुष के बराबर लम्बी तथा ६० धनुष के बराबर चौड़ी थी। वह भूमि मिट्टी पत्थर कण्टकादि से शून्य, समतल और चिकनी होती थी तथा वह पूर्व दिशा की ओर ऊंची होती थी। उनमें दो विशाल द्वार होते थे। उनके आगे दो विशाल तोरण पूर्व दिशा की ओर मुख करके बनाए जाते थे[5]। वाह्याली के दक्षिणी मध्य भाग में ऊँचा एवं सुन्दर आलोक मन्दिर बनवाया जाता था। वह अत्यन्त ऊँचा होता था और उसके चारों ओर गहरी खाई होती थी। उस परिखा पर फलक द्वारा सीढ़िया से पूर्ण मार्ग बनवाया जाता था। इस प्रकार का गृह बनवाने से गज उस मन्दिर तक पहुँच सकते थे। इसी प्रकार दक्षिण भाग के समीप ही कुछ पीछे परिखा से पूर्ण, ऊँचा चित्रों से पूर्ण भित्ति वाला, सुरम्य, विशाल आठ स्तम्भों से पूर्ण, स्थूल हाथियों के वक्षस्थल के बराबर पूर्वी द्वार के समीप उत्तर दिशा की ओर एक अन्य मंडप बनवाया जाता था[7]। गज वाह्याली की भूमि तीन भागों में विभाजित थी—द्विप भूमि नृप भूमि तथा परिकर भूमि[8]।

आस्थानिक मण्डप (सभा मंडप)

समराइच्च कहा में आस्थानिक मंडप अथवा सभा मंडप का भी उल्लेख

---

१ स० क० १ पृ० १६।
२ निशीथ चूर्णी ९ २३ २४।
३ मानसोल्लास ४ ४ ६६२ ६३।
४ वही ४ ४ ६६६।
५ वही ४ ३ ५१५ १७।
६ वही ४, ३ ५१८ २१।
७ वही ४, ३ ५२३
८ वही ४ ३ ५४७।

किया गया है।[1] यहाँ राजकुमार अपने समवयस्कों के साथ बैठकर उचित समय में मनोविनोद किया करते थे।[2] समय में राजा अपने प्रधान अमात्य, सामन्त तथा प्रधान जनपदों के साथ बैठकर विभिन्न प्रकार की समस्याओं का समाधान करता था।[3] समस्याओं के समाधान के पश्चात सभा का विसर्जन किया जाता था। यशस्तिलक में भी आस्थान मंडप का उल्लेख किया गया है जिसमें राजा बैठकर राज्य कार्य देखते थे।[4] यशस्तिलक में आस्थान मंडप की साज-सज्जा अथवा शोभा का विस्तृत वर्णन किया गया है।[5]

हर्षचरित में उल्लिखित है कि राज्यवर्धन की मृत्यु के पश्चात हर्षवर्धन ने बाहरी आस्थान मंडप में सेनापति सिंहनाद तथा गजाधिपति स्कन्दगुप्त से परामर्श किया था।[6] कादम्बरी में भी चन्द्रापीड की दिग्विजय का निश्चय आस्थान मंडप में ही किया गया था।[7] आदिपुराण में आस्थानिका का उल्लेख किया गया है जहाँ राजा रानियों सहित बैठकर संगीत नृत्य अभिनय आदि का आस्वादन करता था। सामन्त तथा श्रेष्ठि वर्ग के व्यक्ति भी दर्शन के लिए उपस्थित रहते थे।[8]

हर्षचरित में दो आस्थान मंडपों का उल्लेख है पहला बाह्य आस्थान मंडप तथा दूसरा राजकुल के भीतर धवलगृह के पास था जिसे भुक्ता आस्थान मंडप कहा जाता था। वासुदेवशरण अग्रवाल ने आस्थान मंडप की तुलना मुगल कालीन राजमहल से की है। बाह्य आस्थान मंडप को दरबार आम और भुक्ता आस्थान मंडप को दरबार खास कहा है।[9] बाह्य आस्थान मंडप में राजा महाराजा सभा का कार्य देखते तथा मंत्री सेनापति आदि से विचार

---

१ सम० भ० १ ४५ ४ २९१ २९५ ९६-३०१ ३०८ ५ ४८१ ४८२, ८ ७४९ ७५२।

२ वही ८ ७४९।

३ वही ४ पृ० २४१ ७ पृ० ६२९ ९ पृ० ९७३।

४ यशस्तिलक पृ० ३७२ (सर्वेषामाश्रमिणामितरव्यवहारविश्रामिणां च कार्याणि पश्यम।

५ वही पृ० ३६७ से ३७३ तक।

६ वासुदेव शरण अग्रवाल—हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन परिशिष्ट १ पृ० २०९।

७ कादम्बरी पृ० ११२।

८ आदि० ४६।२००।

९ अग्रवाल—हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन परिशिष्ट १ पृ० २०९।

विमर्श करते थे तथा भुक्त। आस्थान मडप में भोजन के पश्चात सम्राट अपने अतरग मित्रो और परिवार क साथ बठकर विचार विमर्श तथा मनोविनोद आदि भी किया करते थे। किन्तु समराइच्च कहा में एक ही प्रकार के आस्थानिका मडप का उल्लेख है जिसे सभा मडप अथवा मुगल काल का दरबारे आम कहा जा सकता है।

अन्त पुर

राजाओ के यहा रानिया के निवास स्थान को अन्त पुर कहा जाता था।[1] अन्त पुर राजप्रासाद का एक विशाल एव रमणीक भाग होता था। राजाओ का भी शयन कक्ष अन्त पर में ही होता था। अन्त पुर में एक प्रधान महिषी अथवा महादेवी[2] तथा अन्य रानिया होती थी। समराइच्च कहा में अत पुर की बनावट एव साज-सज्जा का उल्लेख ह। वहा चन्द्रमा की श्वेत चादनी सो मणि और रत्नो के मङ्गल दीप से युक्त सयन कक्ष, फश पर बिखरे हुए सुगन्धित पुष्प, निमल मणियों की काति पर किया हुआ कस्तूरी का लप उज्ज्वल और विचित्र वस्त्रो के बनाए हुए वितान श्रेष्ठ मृगाओ के लाल वण के गद्दो से बिछे हुए पलग श्रेष्ठ स्वण स बनाये गये मनोहर पात्र, लटकती हुया सुन्दर और सुगधित मालाए स्वण घटो से निकलता हुआ सुगधित धूप का धुआँ, चटुल हस और पारावत पक्षिया का सुदर क्रीडा कपूर मिश्रित ताम्बूल की प्रसरित सुगध खिडकियो पर रखी हुई सुगधित विलेपन सामग्री तथा सुगधित वारुणी से भरे हुए सुन्दर स्वण के प्याले अपनी अनुपम शोभा बिखरते रहते थे।[3]

अन्त पुर क भवनो की दावालें मणि जटित होने के कारण उस पर लोगों क प्रतिबिम्ब झलकते रहते थे। उत्तुङ्ग तारण स्तम्भो पर झलकती हुई शालमजिकाएँ सुदर गवाक्ष तथा वर्त्तिकाएँ बनी होती थी।[4] एक अन्य स्थान पर अत पुर में शयन कक्ष की अलकारिता का वणन किया गया है।[5]

---

१ समं० क० १ ९ ४० ४ ३०९ ३२१ ३३६ ३३८, ५ ३६४ ६ ५७१, ७ ६९१, ८ ७५६ –देखिए उत्तराध्यायन टीका १८ पृ० २३२ अ अथशास्त्र १, २० रामायण २।१०।१२।

२ वही १, प० ९ ८, प० ७५६।

३ वही ४, २९१ ९२।

४ वही ६, पृ० ५४८ ४९।

५ वही ९ पृ० ९०१, तुलना क लिए देखिए—वासुदेवशरण अग्रवाल—हषचरित एक सास्कृतिक अध्ययन प० ३६७-६८ ६९।

अन्त पुर में निवास करने वाली रानियों के मनोरंजनार्थ अलग से नाट्यशालाओं तथा चित्रशालाओं का निर्माण किया जाता था जहाँ स्त्रियों द्वारा वाद्य नृत्य संगीत आदि का आयोजन किया जाता था।[1] बन्धन मोक्षजातक में अन्त पुर की सोलह सौ नर्तकियों का उल्लेख है।[2] कादम्बरी में अन्त पुर का उल्लेख है[3] जो राज प्रासाद का आभ्यन्तर कक्ष होता था। वहाँ रानियों की परिचर्या के लिए दास-दासियाँ होती थी।[4] औपपातिक सूत्र में दौवारिक[5] (द्वारपाल) का उल्लेख आया है जो अन्त पुर के द्वार पर बैठकर उसकी रखवाली करता था।

अत स्पष्ट होता है कि राजाओं का अन्त पुर सुव्यवस्थित एवं सुन्दरतम होता था।

राजपरिचर प्रतिहारी

राजमहलों में सेवा कार्य के लिए राज परिचर नियुक्त रहते थे। इन राज परिचरों में प्रतिहारी भी एक होता था।[6] सम्भवत यह पहरा देने वाला कर्मचारी होता था।[7] यह राजा के आस्थानिका मंडप में भी प्रवेश करता था।[8] प्रहरी के साथ साथ यह सूचना देने का भी कार्य करता था तथा पुत्र जन्मोत्सव आदि पर इसे पारितोषिक प्रदान किया जाता था।[9] समराइच्च कहा में महाप्रतिहारी[10] का भी उल्लेख है जो राजप्रासाद तथा अन्त पुर में परिचर्या का कार्य करता था।

हर्षचरित के उल्लेख से भी पता चलता है कि प्रतिहारी राजसी ठाट-बाट

---

१ सम० क० ४ पृ० ३०९।
२ बन्धनमोक्ख जातक १२० पृ० ४०।
३ कादम्बरी पृ० ५९।
४ वही पृ० ९० ९२ १०१।
५ औपपातिक सूत्र ९ पृ० २५।
६ सम० क० १ २२ ३१ ३२ २ १५१ ४ २६६ ६७ ३४४ ५ ४७२, ४८१ ८२ ६ ५६५, ७ ६३१ ६७० ६९१ ६९५ ७०१ ८ ७३९ ४० ७९२ ५४ ५५ ९ ८६० ८८१ ८९२, ९३ ९११ देखिए—भगवती सूत्र ११ ११ ४३० में बाह्य प्रतिहारी।
७ वही ७ ६७० (पडिहारीआ पडिहारेण)।
८ वहीं ५ ४८१ ८२।
९ वही ७ ७०९।
१० वही ४ २६८ ७ ६०७।

और दरबारी प्रबन्ध की रीढ थे। प्रतिहारों के ऊपर महाप्रतिहारी और उन महाप्रतिहारी के मुखियाको दौवारिक कहा जाता था।[1] प्रतिहार प्राचीन काल में सामन्त, महासामन्त माडलिक, राजा, महाराजा, महाराजाधिराज चक्रवर्ती, सम्राट आदि विभिन्न कोटि के राजाओं के भिन्न भिन्न प्रकार के मुकुट और पट्ट पहचान कर यथायोग्य सम्मान देते थे।[2] राजाओं के सम्मुख दूतों और मिलने वालों को पेश करने का काम प्रतिहारी या महाप्रतिहारी का था।[3] नासिक अभिलेख में प्रतिहार शब्द का उल्लेख है।[4] यथा शीलादित्य के जसोर अभिलेख[5] (वल्लभी संवत ३५७) तथा कर्णदेव के बनारस अभिलेख[6] (ई० सन् १०४२) में भी महाप्रतिहारी का उल्लेख है। मजूमदार के अनुसार प्रतिहार और महाप्रतिहार प्रांतीय अधिकारी होने के साथ-साथ राजप्रासाद के कार्यों के भी अध्यक्ष होते थे।[7] किन्तु दशरथ शर्मा ने प्रतिहार का शाब्दिक अर्थ द्वारपाल से लगाया है जिसका काम राजा से मिलने वाले लोगों को राजा के सामने प्रस्तुत करना था।[8]

चारक

समराइच्च कहा में अन्य कर्मचारियों की भाँति चारक[9] का भी उल्लेख किया गया है। ये चर गुप्तचर थे जो चोर डाकुओं तथा राज्य के अन्दर अन्य सभी प्रकार के रहस्यों का पता लगा कर उसकी सूचना राजा को देते थे। चार कर्म कूटनीति का मुख्य अंग था। कौटिल्य ने गुप्तचरों को राजा की आँखें माना है। शत्रु सेना की मुख्य बातों का पता लगाने के लिए भी गुप्तचर काम में लिए जाते थे।[10] ये लोग शत्रु सेना में भर्ती होकर उनकी सब बातों का पता लगाते रहते थे। कूलवालय ऋषि की सहायता से राजा कूणिक वैशाली के

१ वासुदेवशरण अग्रवाल—हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन पृ० ४४।
२ मानसार अ० ४९, १२ २६।
३ अल्तेकर—प्राचीन भारतीय शासन पद्धति पृ० १४४।
४ इपि० इंडि० ८ पृ० ७३।
५ वही २२ पृ० ११७।
६ वही २ पृ० ३०९।
७ मजूमदार—चालुक्याज आफ गुजरात, पृ० २२९।
८ दशरथ शर्मा—अर्ली चौहान डायनेस्टीज़, पृ० २००।
९ स० क० ४, पृ० २७१ ७२ सो चेव में राया सव्वमेय कारवेइत्ति कुविओ एसो। नेयाविया इमे चारये।
१० अर्थशास्त्र १, ११।

स्तूप को नष्ट कराकर राजा चेटक को पराजित करने में सफल हुआ था।[1] ये गुप्तचर कुछ चल विद्यार्थियों के रूप में कुछ व्यापारियों के वेष में तथा कुछ तपस्वियों के वेष में रहकर अपना अपना कार्य गुप्त रूप से करते थे।[2] एक गुप्तचर को दूसरे गुप्तचर प्राय मालूम नहीं रहते थे। जब एक गुप्तचर की रिपोर्ट दूसरे गुप्तचर की रिपोर्ट से पुष्ट हो जाती थी तो सरकार द्वारा कार्रवाई की जाती थी।[3] कर्णाटक के कल्चुरि शासन में पाँच अधिकारी नियुक्त रहते थे जो न्याय राजद्रोहियों और उपद्रवियों का पता लगाते थे। इन्हें पाँच नार्नाद्रिय कहा गया है।[4] यशस्तिलक में गुप्तचरों को राजा का दूसरा नेत्र कहा गया है।[5]

सैन्य व्यवस्था

आन्तरिक विद्रोह की शान्ति तथा बाह्य आक्रमण से राज्य की सुरक्षा के लिए सेना की उचित व्यवस्था थी। अर्थशास्त्र में सैन्य बल को दण्ड कहा गया है।[6] राजा महाराजाओं के पास चतुरंगिणी सेना की उचित व्यवस्था थी।[7] चतुरंगिणी सेना के अंतर्गत रथ-हस्ति-गज और पदाति सैनिक होते थे। सेना का सर्वोच्च अधिकारी राजा स्वयं होता था और उसके नीचे सेनापति[8] महानायक[9] और महायुद्धपति[10] नामक सैनिक अधिकारी होते थे। बाण ने बलाधिकृत[11] (वाहिनी पति—जिसमें ८१ हाथी ८१ रथ २४३ घोड़े तथा ४०५ पदाति होते थे जो आधुनिक बटालियन जैसी सेना होती थी) महाबलाधि

१ आवश्यक चूर्णी २ पृ० १७४ देखिए—उत्तराध्ययन टीका २, पृ० ४७, अर्थशास्त्र २ ३५ ५४ ५५।

२ अल्तेकर—प्राचीन भारतीय शासन पद्धति पृ० १४१।

३ वही पृ० १४२।

४ इपिग्रफिया कर्णाटिका भाग ७ शिकारपुर सवत १०२ और १२३।

५ यशस्तिलक ३।१७३।

६ अर्थशास्त्र ६ १।

७ सम० क० १ पृ० २७ ३ पृ० १९८ २२७ देखिए—पतंजलि महाभाष्य १ १ ७२ पृ० ४४७।

८ वही ७ पृ० ६०८।

९ वही ८ पृ० ८३८।

१० वही ९ पृ० ९०९ ९९।

११ अग्रवाल—हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन पृ० १४३ अग्रवाल कादम्बरी एक सांस्कृतिक अध्ययन पृ० ३१६ ३०५।

कृत[1] और सबसे बड़े सचिव अधिकारी का महासंधिविग्रहिक[2] बताया है। गुप्त काल में सैन्य विभाग के अध्यक्ष को महाबलाधिकृत[3] तथा यादव राज्य में महाप्रचण्डदण्डनायक कहा जाता था।[4]

सेना के अंग

पदाति सैनिक

चतुरंगिणी सेना के अंतर्गत पदाति सैनिक होते थे।[5] ये सैनिक पैदल ही चल कर रणभूमि में शक्ति, गदा, तलवार और ढाल से युद्ध करते थे।[6] पदाति सेना का अध्यक्ष सेनापति कहलाता था जो सेना में व्यवस्था तथा अनुशासन बनाये रखता था।[7]

मानसोल्लास में पदाति सेना के ६ भेद बताये गये हैं, यथा—मौल, भृत्य मित्र, श्रेणी, आटविक तथा अमित्र।[8] रामायण[9] में मौल, भृत्य, मित्र और अटवी इन चार प्रकार की सेनाओं का तथा महाभारत[10] में मौल, भृत्य, अटवी और श्रेणी बल का उल्लेख है। वंशक्रम से आयी हुई सेना पैतृक अथवा मौल कहलाती थी धन देकर एकत्र की गयी सेना भृत्य मैत्री भाव से एकत्र की गयी सेना मित्र निश्चित समय पर सहायता देने वाली सेना को श्रेणी, पर्वत एवं अरण्य प्रदेशों में रहने वाले निषाद भिल्ल शबर आदि से संगठित की गयी सेना को आटविक एवं शत्रु सेना से आक्रान्त होकर भागे हुए सैनिक यदि मैत्री भाव स्वीकार कर लें तो उनके द्वारा संगठित की गयी सेना अमित्र कहलाती थी।[11]

---

१ अग्रवाल—कादम्बरी एक सांस्कृतिक अध्ययन पृ० २१४, २२०।
२ अग्रवाल—हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० १२८ २०९।
३ इपि० इण्डिया १०, पृ० ७१।
४ इण्डि० एटी० १२, पृ० १२०।
५ सम० क० ७ ७०३ ७०५ ८ ७९८ ९९ तुलना के लिए देखिए—के० के० हंडीकी—यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कल्चर, पृ० ९३।
६ औपपातिक सूत्र ३१ पृ० १३२ विपाक सूत्र २, पृ० १३।
७ औपपातिक सूत्र २९।
८ मानसोल्लास २, ६ ५५६ (मौल भृत्य तथा मित्र श्रेणमाटविक बलम्) अमित्रपर षष्ठ सप्तम नापलभ्यते।
९ रामायण—युद्ध काण्ड, १७।२२।
१० महाभारत—आश्रम वासिक पर्व ७।७।
११ नेमिचन्द्र शास्त्री—आदि पुराण में प्रतिपादित भारत पृ० ३६८।

किंतु समराइच्च कहा में पदाति सना के भेद का उल्लेख नहीं है जबकि अन्य ग्रंथों में इसके भेद-प्रभेद आदि का उल्लेख है।

अश्व सेना

अश्वसेना चतुरंगिणी सना का एक विशिष्ट अंग होता था।[1] अश्व सैनिक बडे ही चुस्त तथा फुर्तीले होते थे।[2] अश्व सेना का प्रधान अधिकारी महाश्वपति कहलाता था।[3] अश्व सेना के प्रधान अधिकारी का अश्वपति (भटाश्वपति और महाश्वपति) भी कहा जाता था।[4] आगे बारहवी शताब्दी में गहडवाल राज्य में भी करीब-करीब यही सैनिक अधिकारी थे।[5] अश्वपति और रथाधिपति के आधीन अश्वशालाधिकारी भी होते थे जिन्हे चाहमान काल में राजस्थान में साहणीय कहा जाता था।[6] महाभारत में अश्वों को शीघ्र गतिवाला तथा उत्साहा बनाने के लिए युद्ध के समय मदिरापान कराये जाने का उल्लेख है।[7] नकुलाश्वशास्त्र में बताया गया है कि जिस प्रकार चन्द्रमा से हीन रात्रि और पति से हीन पतिव्रता सुशोभित नहीं होती उसी प्रकार अश्वों से हीन सेना भी सुशोभित नहीं होती।[8] घोड़ों को कवच भी पहनाया जाता मुह पर आभरण लटकाया जाता और उनका कटिभाग चामरदण्ड से अलंकृत किया जाता था।[9] अग्निपुराण में कम्बोज, सैन्धव आरट्टज वनायुज वाह्लीक तितिल गान्धार और वाप्य आदि जाति के अश्वों को युद्ध के लिए उपयोगी बताया गया है।[10]

---

१ सम० क० ७ ६९८ ९० ७०३ ७०५ ८ ८३४ ९, ८९८ ९० ९७३ दशरथ अग्रवाल—हर्षचरित एक सास्कृतिक अध्ययन पृ० ३९ ४० ४१ ४२ हडावो—यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कल्चर पृ० ९३।

२ देखिए—अर्थशास्त्र १० ४।

३ सम० क० ९ ९७३।

४ आर्कियालोजिकल सर्वे आफ इण्डिया एनुअल रिपोर्ट—१९०३ ४ पृ० १०७।

५ अल्तेकर—प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ० १४१।

६ इपि० इण्डिया ११ पृ० २९।

७ महाभारत द्रोण पर्व ११२।५।४ ५।

८ नकुलाश्वशास्त्र १ १४ (चन्द्रहीना यथारात्रि पति हीना पतिव्रता। हय हीना तथा सेना विस्तीर्णापि न शोभते)।

९ विपाकसूत्र २ पृ० १, औपपातिक सूत्र ३१ पृ० १३२।

१० अग्नि० २०।१०७।

हस्तिसेना

चतुरंगिणी सेना के अन्तर्गत हस्ति सेना का भी युद्ध क्षेत्र में अत्यधिक महत्त्व था।[1] हस्ति को युद्ध के प्रयाण के समय ध्वज-चामर और छत्र से सजाया जाता था।[2] हस्ति सेना से शत्रु-सेना को रौंदने का काम लिया जाता था।[3] इसका प्रधान महाहस्तिपक होता था।[4] कहीं-कहीं हस्ति सेना के अधिकारी को हस्त्याध्यक्ष (गुप्तकाल में महापीलुपति) कहा जाता था।[5] कौटिल्य ने शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के लिए हस्तिसेना के प्रधान योगदान की प्रशंसा की है।[6] हाथियों को युद्ध के लिए प्रशिक्षित भी किया जाता था। नीतिवाक्यामृत में सोमदेव ने लिखा है कि अशिक्षित हाथी केवल धन और प्राणों का नाश करने वाला होता है।[7]

हस्ति को सेना का प्रधान अंग माना जाता था। किले का द्वार तोड़ने के लिए हाथियों का उपयोग होता था।[8] राजा महाराजा तथा योद्धा लोग उसकी पीठ पर सवार होकर युद्ध करते थे और मौर्यकाल तथा मुगलकाल में हाथियों का उपयोग किले का फाटक तोड़ने के लिए किया जाता था।[9] कौटिल्य[10] की भाँति चाहमान शासक तथा उनके सलाहकारों को यह विश्वास था कि राजा की विजय तथा शत्रुसेना का विनष्टीकरण हस्ति सेना पर ही निर्भर करता है। हंडीकी के अनुसार यशस्तिलक में उल्लिखित हस्ति सेना खतरे के समय किले बंदी का भी काम करती थी।[11]

---

१ समम० क० ७ ६९८ ९९, ७०३, ७०५ ९ ८९८ ९९ देखिए अग्रवाल—हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन पृ० ३९ ४० ४१ ४२ १२९-३० देखिए—हंडीकी—यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कल्चर पृ० ९३।

२ समम० क० १, २८ तुलना के लिए देखिए—निशीथ चूर्णी-११।३८१५ का चूर्णी ११।३८१६ की चूर्णी।

३ समम० क० ७, ७०३।

४ वही ७ ७०३।

५ आर्कियालॉजिकल सर्वे आफ इण्डिया ऐनुअल रिपोर्ट १९०३ ४ पृ० १०७।

६ अर्थशास्त्र २।२।

७ नीति वाक्यामृत बलसमुद्देश्य, पृ० २०८ (अशिक्षा हस्तिनः केवलमर्थ प्राणहरा)।

८ महाभारत—सभापर्व ६१ १७।

९ दशरथ शर्मा—अर्ली चौहान डायनेस्टीज, पृ० २१४।

१० अर्थशास्त्र २ २ ७ ११, १०, ४।

११ के० के० हंडीकी—यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कल्चर, पृ० १११

रथसेना

तत्कालीन सैन्य व्यवस्था में रथ सेना चतुरंगिणी सेना का एक विशिष्ट अंग थी।[1] राजा तथा अन्य विशिष्ट लोग रथों पर बैठते थे।[2] रथों में ध्वज पताकाएं एवं घटियाँ बाँधी जाती थी।[3] रथी लोग युद्ध क्षेत्र में धनुष-बाण से शत्रु पक्ष पर प्रहार करने के लिए बाणों की वर्षा करते थे।[4] अन्य ब्राह्मण[5] तथा जैन ग्रन्थों[6] से भी पता चलता है कि रथों को युद्ध क्षेत्र में ले जाने के पूर्व छत्र ध्वजा पताका घण्टे तोरण नन्दिघोष और क्षुद्र घंटिकाओं से अलंकृत किया जाता था। इन रथों पर सोने की सुन्दर चित्रकारी बनी रहती थी। रथ भी कई प्रकार के होते थे। संग्राम रथ कटी प्रमाण फलकमय वेदिका से सजाया जाता था जब कि यानरथ पर यह वेदिका नहीं होती थी।[7] कौटिल्य ने देवरथ, पुष्परथ सांग्रामिकरथ पारयाणिकरथ परपुराभिगामिक रथ एवं वैमानिक रथ आदि का वर्णन किया है।[8] रथ सेना के प्रधान अधिकारी को रथाधिपति कहा जाता था।[9] रथों का उपयोग आगे चलकर सेना की तुलना में अधिकतर अलंकरण सामग्री के रूप में किया जाने लगा।[10] डा० दीक्षितार[11] अल्तेकर[12] और चक्रवर्ती[13] आदि विद्वानों का मत है कि आठवीं शताब्दी से युद्ध के निमित्त रथों का प्रयोग बन्द हो गया था। मानसोल्लास में रथ को युद्ध का अनिवार्य अंग

१ सम० क० १ ८० ७ ६९८ ९० ७०२ ७०३ ७०५ तुलना के लिए—देखिए—हण्डीकी—यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कल्चर पृ० ०३।
२ वही १ २८।
३ वही ७ ७०५।
४ वही ७ ७०२ ७०३।
५ रामायण ६ २२ १३ महाभारत उद्योग पर्व ९४ १०।
६ औपपातिक सूत्र ३१ पृ० १३२ आवश्यक चूर्णी पृ० १८८ बृहत् कल्पभाष्य पीठिका २१६ आदि० २६।७७।
७ अनुयोग द्वार टीका प० १४६।
८ अर्थशास्त्र २ ३५।
९ आर्कियालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया एनुअल रिपोर्ट १९०३ ४ पृ० १०७।
१० पृथ्वीराज विजय १० १९।
११ दीक्षितार—वार इन एंशियण्ट इण्डिया पृ० १६६।
१२ अल्तेकर—राष्ट्रकूटाज एण्ड देयर टाइम्स पृ० २४८।
१३ पी आर आर वार इन एंशियण्ट इण्डिया पृ० २६।

नहीं बताया गया है और न तो किसी मुसलमान लेखक अथवा भारतीय लेखक ने ही इसका उल्लेख किया है, किन्तु युक्तिकल्पतरु, और राजनीति रत्नाकर में इसका उल्लेख है।[1] निष्कर्षतः आठवीं शताब्दी में रथों का प्रयोग कम हो गया था और धीरे धीरे आगे चलकर तो बिल्कुल बन्द-सा हो गया।

सैनिक प्रयाण और युद्ध

युद्ध के लिए सैनिक प्रयाण करने के पूर्व ज्योतिषी व राज पुरोहित द्वारा शुभ मुहूर्त का निर्धारण किया जाता था।[2] प्रस्थान करते समय राजा श्रेष्ठ रथ पर बैठता और उसके सामने जल से भरा हुआ स्वर्ण कलश रखा जाता था। मांगलिक तूर्य (तुरही) बजाये जाते तथा बन्दीजन विजय के लिए मंगल पाठ करते थे।[3] अग्निपुराण में भी युद्ध क्षेत्र में शत्रु पक्ष पर विजय प्राप्त करने के लिए समय मंत्र और औषध की महिमा का वर्णन किया गया है।[4]

वैदिक काल में पुरोहित राजा के साथ युद्ध क्षेत्र में भी जाता था और वहां विजय के लिए मंत्र याग पूजा आदि धार्मिक कृत्य करता था।[5] सैनिक प्रयाण के समय प्रयाणनान्दी[6] प्रयाण पटह[7] तथा भेरी[8] आदि बजाए जाते थे तथा सेना अत्यधिक चहल पहल के साथ आगे बढ़ती थी।[9]

युद्ध भूमि में पहुँच कर सर्वप्रथम दूत भेजकर शत्रु नृपति से साम और भेद नीति का सहारा लिया जाता था।[10] शत्रु पक्ष द्वारा उस नीति का उल्लंघन करने पर युद्ध प्रारम्भ किया जाता था। समराइच्च कहा में विद्याधर राजाओं

---

१ बी० पी० मजूमदार—सोसियो एकोनामिक हिस्ट्री आफ नार्दन इंडिया पृ० ५३।

२ सम० क० १ पृ० २८ २९, देखिए—नेमिचन्द शास्त्री—आदि पुराण में प्रतिपादित भारत पृ० ३७८।

३ सम० क० १ पृ० २७ २८ ५ ४६५ ४६९, ७ ६९८ ९९।

४ अग्निपुराण पृ० २६३ २६७ तक श्लोक १ से २३ तक।

५ ऋग्वेद २।३३।

६ अग्रवाल—कादम्बरी एक सांस्कृतिक अध्ययन पृ० २७० २७२।

७ वही पृ० ११७ १२६ २०७, २१०।

८ वही ११७ १२६।

९ अग्रवाल—हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन पृ० १४३ १४४ १४५।

१० सम० क० ५ ४५८, ७ ७०० ७०१, देखिए—आवश्यक चूर्णी २ पृ० १७३ ज्ञातधर्म कथा ८ पृ० १११ १२।

द्वारा पद्म-व्यूह बनाकर युद्ध करने का उल्लेख है।[१] औपपातिक सूत्र में चक्रव्यूह, दण्डव्यूह और सूचिव्यूह का उल्लेख है।[२] समराइच्च कहा में प्राप्त विवरणों से पता चलता है कि सैनिक तलवार, भाला, गदा, मुद्गर और धनुष-बाण से युद्ध किया करते थे।[३] इसी ग्रन्थ में मल्ल युद्ध का भी उल्लेख है।[४] यह दो योद्धाओं के बीच हथियार रखकर लड़ा जाता था।

दुर्ग

समराइच्च कहा में शत्रु के बाह्य आक्रमण के समय सुरक्षा की दृष्टि से दुर्गों का उल्लेख प्राप्त होता है।[५] दुर्ग के सबसे बड़े अधिकारी को कोट्टपाल कहा जाता था।[६] समराइच्च कहा में उल्लिखित किले की जानकारी एवं उसके उपयोग का महत्व वैदिक काल से ही प्राप्त होता है जिसके अंतर्गत नगर, धन सम्पत्ति तथा जीवन की सुरक्षा की दृष्टि से नगरों को पत्थर की दीवालों से घेर कर रखा जाता था।[७] ऋग्वेद में उल्लिखित है कि शम्बर नामक दस्यु जो कि आर्यों का शत्रु था के पास नब्बे[८] निन्यानबे[९] अथवा सौ[१०] किले थे। जातक से भी पता चलता है कि वैशाली नगर तिहरी दीवालों से घिरा था जिसमें दरवाजे तथा निगरानी के लिए मीनार बने थे।[११] इसी प्रकार मिथिला नगर[१२] तथा पाटली नगर[१३] की किलेबन्दी के प्रमाण प्राप्त होते हैं।

---

१ सम० क० ५ ४६० ४६५ ६६ ६७।

२ औपपातिक सूत्र ४० पृ० १८६ तथा देखिए—प्रश्न व्याकरण ३ पृ०४४।

३ सम० क० ५ ४६४ ४६६।

४ वही ५ पृ० ४६०।

५ वही ८ पृ० ७७२ देखिए—पतंजलि महाभाष्य ३ २ ४८ पृ०२१७।

६ वही ५ पृ० ४७२ तुलना के लिए देखिए—इपि० इण्डिया १, १५४ में गुप्तकाल के कोट्टपाल नामक केन्द्रीय कर्मचारी का उल्लेख है अग्रवाल—हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन पृ० ३९ अल्तेकर—प्राचीन भारतीय शासन पद्धति पृ० १०५।

७ चक्रवर्ती—आर आर वार इन एंसियन्ट इण्डिया पृ० १२७।

८ ऋग्वेद १ १३० ७।

९ वही २ १९ ६।

१० वही २ १४ ६।

११ कावे—जातक ? ३१६।

१२ वही ६ ३०।

१३ वही ३ २।

चौथी शताब्दी ई० पू० में सभी राज्य की राजधानियां में सुरक्षा की दृष्टि से किलेबन्दी की गई थी।[1] उस समय नगरो को दीवालों से सुरक्षित रखा जाता था और दीवाल के भीतर दरवाजों और मीनारों से युक्त किलेबन्दी की जाती थी।[2]

कौटिल्य ने दुर्ग को राज्य के प्रमुख सप्तांगा में से एक माना है जिसे कोष मित्र और सेना से अधिक महत्वपूर्ण समझा जाता था।[3] किले के अभाव में राजा का कोष शत्रु के हाथ में गया हुआ समझना चाहिए। कौटिल्य ने चार प्रकार के दुर्गों की व्यवस्था बतलाई है—औदक (जल) पार्वत (पहाड़ी) धान्वन (रेगिस्तानी) तथा वन दुर्ग। चारो ओर नदियों से घिरा हुआ बीच में टापू के समान अथवा बड़े-बड़े गहरे तालाबों से घिरा हुआ मध्य स्थल प्रदेश यह दो प्रकार का औदक दुर्ग कहलाता है। इसी प्रकार बड़े-बड़े पत्थरों से घिरा हुआ अथवा स्वाभाविक गुफाओं के रूप में बना हुआ पर्वत दुर्ग जल तथा घास आदि से रहित अथवा सर्वथा ऊसर में बना हुआ धान्वन दुर्ग और चारों ओर दलदल अथवा कँटीदार झाड़ियों से घिरा हुआ वनदुर्ग नाम दिया गया है।[4]

मौर्य काल के पश्चात हजारों वर्षों तक किसी बड़े आक्रमण के न होने के कारण किलेबन्दी में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ।[5] चीनी यात्रियों और मुस्लिम इतिहासकारों के वर्णन से भी निष्कर्ष निकलता है कि गुप्त काल तथा इसके पश्चात भी किलेबन्दी में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ।[6]

मुस्लिम इतिहासकारों ने दुर्गों के महत्व को ध्यान में रखते हुए इस बात को स्वीकार किया है कि सुल्तान महमूद राजगिरि और लाहौर के दुर्गों की अजेयता के कारण काश्मीर विजय की योजना न बना सका।[7]

मुस्लिम आक्रमण के समय भारत में बहुत से दुर्ग विद्यमान थे यथा—मध्य भारत में कालिंजर ग्वालियर अजयगढ़ और मनियागढ़ राजपूताना में चित्तौड़

---

१ चक्रवर्ती—आर्ट आफ वार इन ऐंसियन्ट इंडिया पृ० १३१।
२ मकक्रिण्डिल—इण्डिया एण्ड इटस इनवेजन बाई अलेक्जेण्डर, पृ० १४५ ४६, २८८।
३ अर्थशास्त्र ६, १।
४ वही २ ३।
५ चक्रवर्ती—आर्ट आफ वार इन ऐंसियन्ट इंडिया, पृ० १३८।
६ वही पृ० १३८।
७ सचाऊ १, २०८।

गढ़ रणथमोर और मदौर (प्राचीन कम्ब मदान्र),[1] पंजाब में—भीरा (भाटिया) और कांगड़ा (नगर कोट भीम नगर) काश्मीर में लोहार कोट्ट वनमाल और सिरह शिला आदि दुर्ग।

पूर्व मध्यकाल में दुर्गों का काफी महत्व था। इन दुर्गों के कारण आक्रमणकारी को विजय प्राप्त करने में बाधा उपस्थित होती थी। घेरा लम्बे समय तक चलाना पड़ता था तथा उस राज्य अथवा नगर को विजित करने में काफी समय लग जाता था।[2] तराइन के प्रथम युद्ध (११९१ ई०) के पश्चात् पृथ्वीराज की अध्यक्षता में राजपूतों ने सरहिन्द के किले का घेरा डाल लिया किन्तु दुर्ग की रक्षा करने वाली सेना को शर्तों पर हथियार डालने में तेरह माह का समय लग गया।[3] इस प्रकार समराइच्च कहा में उल्लिखित दुर्ग के महत्व का स्पष्टीकरण प्राचीन तथा पूर्व मध्यकालीन प्रमाणों से होता है जो कि सुरक्षा की दृष्टि से अत्यधिक आवश्यक समझा जाता था।

अस्त्र शस्त्र

समराइच्च कहा में कुछ अस्त्र शस्त्रों का उल्लेख है जो प्राचीन भारत के प्रधान आयुध थे।

छुरिका[4]—यह कटार की भाँति छोटी एवं तेज नोक तथा धार वाला आयुध था। इससे चपेटे से तथा करीब से प्रहार किया जाता था।

मण्डलाग्र[5]—यह एक प्रकार की तलवार थी जिसका अग्रभाग मण्डलाकार (गोल) होता था।

करवालि[6]—आधुनिक करोला जो तलवार से छोटी होती थी। यशस्तिलक में इसको स्पष्ट किया गया है।[7]

खड्ग[8]—तलवार का दूसरा नाम।

---

१ इपि० इण्डि०—९ पृ० २८ १ पृ० १३।
२ इलियट—इलियट १ १४७।
३ वही २ २९६।
४ सम० क० ७ पृ० ६४१ ६४० ७१४ १५।
५ वही ६ पृ० ५३३ ६०१ ७ ६४१ ६८० ६५९ ६६० ७२८।
६ वही ७ पृ० ६४१।
७ यशस्तिलक पृ० ४८ ५५७।
८ सम० क० ६ ५२० ० ०६१ हन्दिकी—यशस्तिलक पृ० १४७ उत्त० मध्य पृ० ८०६।

धनुष-बाण[1]—यह प्राचीन काल का प्रधान आयुध था। रामायण तथा महाभारत काल में बाण विद्या को युद्ध कला का श्रेष्ठ अंग समझा जाता था।

शूल[2]—यह भाले के आकार का तेज और नुकीला होता था। संभवतः शूल से ही शूली बना है जिस पर लटका कर अपराधी को मृत्यु दंड दिया जाता था।

त्रिशूल[3]—इसके अग्रभाग पर शूल के समान ही तीन तीक्ष्ण धार होती थी।

परशु[4]—फरसा जो तेज तथा दीर्घ घाव करने वाला होता था।

कटार[5]—यह छुरिका से बड़ी तथा तलवार से छोटी तीक्ष्ण धार तथा नोक वाली होती थी।

शक्ति[6]—भाले के समान तीक्ष्ण हथियार था।

चक्र[7]—तेज किस्म के लोहे से निर्मित पहिए की तरह गोल आकार का होता था।

असि[8]—एक प्रकार की छोटी तलवार। यशस्तिलक में असि धेनुका[9]

---

१ मम० उ० ५ ४४५ ४६, ६ ५०५ ५१३ ५३२ ७ ६६७ ६८, ८ ८०१ ८०२ ९ पृ० ९७२, देखिए—अग्निपुराण ४।१७५ ८४।१८९ (अग्नि बाण) ३७।१६२ (अमोघ बाण) यशस्तिलक पृ० ',९० श्लोक ४६५ पृ० ६२ तथा जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति ७ प० १२८अ में नाग बाण तामस बाण पद्म बाण वाह्नि बाण महापुरुष बाण और महारुधिर बाण का उल्लेख है।

२ वही ६ प० ५३१।

३ मम० क० ६, ५३०, ९ ९६५ देखिए—यशस्तिलक पृ० ५६०।

४ वह ५ ४४५ ४६, देखिए—यशस्तिलक, प० ५५६।

५ वही ६ ५०५ देखिए—यशस्तिलक पृ० ४६७।

६ वही ५ ४६८ ६९ ९ ९६५ देखिए—यशस्तिलक पृ० ५६२। महाभारत आदि पर्व ३०।४९ रघुवंश १२।७७।

७ वही ६ प० ४६८ ९ ९६५ आदि० ६।१०३, १५।२०८ ४४।१८०, यशस्तिलक, पृ० ३९० ५५८।

८ वही ९ ९६५, देखिए—आदि० ३७।८८, ९।४१, १०।५६, ५।२५०, १५।२० तथा ४४।१८०।

९ यशस्तिलक पृ० ५६१।

कुमारसम्भव[1] तथा मेघदूत[2] में असनिका और रामायण[3] में असनिघा नाम लिया गया है।

गदा[4]—इसे मुग्दर भी कहा जाता है। महाभारत के भीम गदा युद्ध में निपुण थे।

न्याय व्यवस्था

समराइच्च कहा के उल्लेख से स्पष्ट होता है कि न्यायपालिका का प्रमुख अधिकारी राजा स्वयं होता था। प्रारम्भ में मुकदमों की जाँच मंत्री अथवा अन्य अधिकारी करते थे और तत्पश्चात मुकदमें राजा को सौंपे जाते थे।[5] राजा भी न्यायपालिका के अधिकारियों की सलाह से निर्णय देता था।[6] कभी-कभी नगर के प्रमुख व्यक्ति मिलकर किसी वाद विवाद सम्बन्धी मामलों पर निर्णय देते थे और निर्णय उभय पक्ष को मान्य होता था।[7] राजाज्ञा के विरुद्ध आचरण करने वाले को कठोर-दण्ड दिया जाता था।[8] अपराध करने वाली स्त्रियों को तथा राजद्रोही पुत्र को देशनिर्वासन की सजा दी जाती थी।[9] तत्कालीन धार्मिक परम्परा के अनुसार स्त्रियाँ अवध्य मानी जाती थीं। अतः उन्हें मृत्यु दण्ड की जगह देश निर्वासन की सजा ही दिए जाने का विधान था।[10] राजा महाराजा न्यायप्रिय होते थे। न्याय में भेद भाव नहीं किया जाता था। वही सर्वोच्च न्यायधिकारी था तथा अपने सामने उपस्थित किए गए अभियोग का अधीनस्थ न्यायालयों के निर्णय के विरुद्ध अपील सुनता था।[11] राजा यथा सम्भव स्वयं न्याय करता था। अधिक कार्य के कारण प्राड्विवाक या प्रधान न्यायधीश[12] उसका

---

१ कुमारसम्भव ४।८३।

२ मेघदूत ८।४७।

३ रामायण—सुन्दर काण्ड ४।२०—गति वृत्तायुधांस्चयष्टि शासनिधारिण।

४ सम० क० ५ ४६२ ४६९ देखिए—आदि० ४८।१४३ वणारातार १।१५—शत्रूणांपाणि गत्या न सुयोधनोऽ।

५ वही ४ २५९ देखिए—मनुस्मृति ८।४७।

६ वही ६ ५ ११।

७ वही ६ ८९८।

८ वही ७ पृ० ६६२।

९ वही २ ११५ ४ २८६ ७ ६४३।

१० वही ५ ३६२ ६ ५६० ६१।

११ अल्तेकर—प्राचीन भारतीय शासन पद्धति पृ० १५०।

१२ वही पृ० १५०।

काम सभालते थे। राजद्राह का अपराध गुरुतर था।[1] सप्त प्रकृति यथा राजा, अमात्य आदि के प्रति शत्रु भाव रखना भी महान् अपराध था और उसके लिए जीवित अग्नि में जलाने का विधान था। मनु ने राजाज्ञा का उल्लघन करने वालों का तथा चोरी करने वालों को एक ही श्रेणी का अपराधी माना है।[2] वादी तथा उसकी सूचना के बिना ही चरा से प्राप्त सूचना के आधार पर राजा अपराधी को दण्ड देता था।[3] समराइच्च कहा में स्त्री का अवध्य बताकर उसे राज्य से निर्वासित करने का उल्लेख है किन्तु याज्ञवल्क्य ने गर्भपातिकी एव पुरुष को मारने वाली स्त्रिया को मृत्यु दण्ड तक का भागी बताया है।[4] मक्डानल और कीथ के अनुसार मौर्य काल में भी कठोर दण्ड की व्यवस्था थी।[5]

दण्ड व्यवस्था चोरी

हरिभद्र कालीन भारतीय शासन पद्धति के अन्तर्गत दण्ड व्यवस्था कठार थी। साधारण से साधारण अपराध पर कठोर दण्ड दिया जाता था। समराइच्च कहा में धर्मशास्त्रों के अनुसार पुरुष घातक तथा परद्रव्यापहारी को उसके जीते ही आँख, नाक, कान हाथ तथा पाँव काट कर अग भेद किया जाता था।[6] मौर्यकाल में कठोर दण्ड व्यवस्था थी।[7] फाह्यान के अनुसार उत्तर भारत में मृत्यु दण्ड नही था। चोल और हूण के शासन काल में ऐसे दण्ड की कमी थी।[8] चोरी होने पर राजा द्वारा नगर भर में यह कह कर घोषणा करायी जाती थी कि यदि किसी के घर में चोरी का सामान मिलेगा तो उसे शारीरिक दण्ड दिया जायगा तथा उसका सारा धन भी छीन लिया जायेगा।[9] नगर भर में चारों का पता लगाया जाता था और अपराध सिद्ध होने पर अभियुक्त को मृत्यु दण्ड दिया जाता था। अपराधी के शरीर में तृण तथा कालिख पोत कर डिम

---

१ बृहस्प० १७।१६।

२ मनु० ९।२७५।

३ हरिहरनाथ त्रिपाठी—प्राचीन भारत में राज्य और न्यायपालिका पृ० २१५।

४ याज्ञ० २।२६८।

५ वैदिक इंडेक्स वाल्यूम १ पृ० ५५।

६ समम० क० २ पृ० ११७ ४ ३२६ २७।

७ वैदिक इंडेक्स वाल्यूम १ पृ० ५५।

८ हरिहरनाथ त्रिपाठी—प्राचीन भारत में राज्य और न्यायपालिका पृ० २४६।

९ समम० क० २ १११।

डिम की आवाज के साथ यह घोषणा करते हुए नगर भर में घुमाया जाता था कि इस व्यक्ति को अपने कृत्यों के अनुसार दण्ड दिया जा रहा है। अत यदि दूसरा व्यक्ति भी ऐसा अपराध करेगा तो उसे भी इसी प्रकार का कठोर दण्ड दिया जायेगा और तत्पश्चात उस चाण्डाल द्वारा श्मशान भूमि पर ले जा कर मृत्यु दण्ड दिया जाता था।[1] अभियुक्त को नगर भर में वाद्य के साथ घोषणा पूर्वक घुमाने का तात्पर्य लोगों को अपराध न करने के लिए भयभीत करना था ताकि नगर अथवा राज्य में अपराधों की कमी हो।

सेंध लगाकर चोरी करने वाले का अपराध सिद्ध होने पर राजाज्ञा द्वारा अपराधी को शूली पर लटका कर मृत्यु दण्ड दिया जाता था।[2] छल-कपट तथा धूर्तता करने वालों को भी मृत्यु दण्ड दिया जाता था।[3] आचारांग चूर्णी से पता चलता है कि चोरी करने वाले को कोडे लगवाये जाते थे अथवा विष्ठा भक्षण कराया जाता था।[4] आदि पुराणकार के अनुसार अपराध सिद्ध होने पर अभियुक्त को मृत्तिका भक्षण विष्ठा भक्षण मल्लों द्वारा मुक्के तथा सर्वस्व हरण आदि प्रकार का दण्ड दिया जाता था।[5]

वैदिक काल में भी चोरी को अपराध माना गया है।[6] गाय एवं वस्त्र आदि के चोरों को 'तयुग' कहा गया है।[7] चोरी के अपराधी को राजा के सामने उपस्थित किया जाता था तथा उनपर चोर के चिह्न लगाने का उल्लेख है।[8] स्मृतियों में चोरों का पता लगाने के विविध प्रकार बताए गये हैं यथा—जो व्यक्ति अपने निवास स्थान का पता नहीं बताता संदेहपूर्ण दृष्टि से देखता हो अनुचित स्थान पर रहता हो पूर्व कर्म से अपराधी हो जाति आदि छिपाता हो जुआ सुरा और सुन्दरी के सम्पर्क में रहता हो, स्वर बदल कर बात करता हो अधिक खर्च करता हो पर आय के स्रोत का पता न हो खोई हुई वस्तु या

---

१ सम० क० ४ २५० ६० २७२ ५ ३६७ ६ ५२३-२८ ५०७-८ ५९७-९८ ९ ९६७।

२ वही ३ १८४ २१० ७ ६६० ७१६।

३ वही ६ ५६०-६१।

४ आचारांग चूर्णी २ पृ० ६५ तुलनीय—पतंजलि महाभाष्य ५, १, ६४ ६५ ६६।

५ आदि० ४६।२९२ ९३।

६ ऋग्वेद ४।३८।१ ५।१५।

७ वही १०।४।६ ४।३८।५ ६।१२।५।

८ वही १।२४।१८ १५ ७।८६।५, ५।७९।९ १।२४।१२ १३।

पुराना माल बेचने वाला हो दूसरे के घर के पास वष बदल कर रहता हो, उसे चोर समझना चाहिए।[1] स्मृतियों में चोरी करने वाला को कठोर दड का भागी बताया गया है। बहुमूल्य रत्नों की चोरी के लिए मनु ने मृत्यु दण्ड का विधान बताया है।[2] सेंध लगाकर चोरी करने वाला को शूली की सजा दिये जाने का निर्देश है।[3] मनुस्मृति में एक अन्य स्थान पर राजकोष एव मदिर की वस्तु अश्व रथ, गज आदि की चोरी करने वाले का मृत्यु दड का भागी बताया गया है।[4] स्मृतियों में चोर के काय में सहायता पहुँचाने वाले को भी चोर के समान दड दिये जाने का उल्लेख है।[5]

पुलिस विभाग–दण्डपाशिक

पुलिस विभाग का प्रमुख अधिकारी दण्डपाशिक कहलाता था।[6] इसकी नियुक्ति राजा द्वारा की जाती थी। वह सतकतापूवक अपराध का निरीक्षण करता था और तत्पश्चात समुचित दण्ड देता था।[7] मुकदमें दण्डपाशिक के बाद मन्त्रिमडल में ले जाए जाते थे और तत्पश्चात राजा उस पर अतिम निणय देता था।[8] दडपाशिक (चोरों को पकडने का फन्दा धारण करने वाला) का उल्लेख पाल, परमार, तथा प्रतिहार अभिलेखों में भी प्राप्त होता है।[9] यह पुलिस विभाग का एक अधिकारी था जो विभिन्न भागों में नियुक्त रहते थे। दडपाशिक दड भोगिक के समान था जिसे पुलिस मजिस्ट्रेट कहा जा सकता है।[10]

---

१ याज्ञ० २।२६६ ६८ नारद० परिशिष्ट ९।१२।

२ मनु० ८।३२३।

३ वही ९।२७६।

४ वही ९।२८०।

५ मनु० ९।२७१ याज्ञ० २।२८६।

६ सम० क० ४ ३५८ ५९ ६० ६ ५०८ ५२० ५२३ ७ ७१४, ७१५ ७१६, ७१८ ८, ८४७ ४८, ९ ९५७, देखिए—इडि० हिस्टा० क्वाट० दिसम्बर १९६०, पृ० २६६।

७ वही ६, ५९७ ९८ ९९, देखिए—डी० सी० सरकार—इडियन इपिग्रैफिकल ग्लसरीज, पृ० ८१।

८ वही ८ ८४९ ५०।

९ हिस्ट्री आफ बगाल भाग १, पृ० २८५ इपि० इण्डि० १९, पृ० ७३, ९ पृ० ६ देखिए—सिंघी जैन ग्रन्थ माला, १, पृ० ७७ तथा डी० सी० सरकार—इण्डि० इपि०, पृ० ७६।

१० इपि० इण्डि० १३, पृ० ३३९।

समराइच्च कहा में कालदण्डपाशिक[1] का भी उल्लेख प्राप्त होता है। सभवत यह दण्डपाशिक से उच्च अधिकारी होता था जो गंभीर मुकदमा की निगरानी कर अभियुक्त को मृत्यु दण्ड देता था।

अर्थशास्त्र[2] तथा कामसूत्र[3] में नगर के प्रमुख अधिकारी को नागरक कहा गया है। कुछ समालोचकों ने नागरक की व्याख्या दण्डपाशिक के समान की है।[4] समराइच्च कहा में उल्लिखित दण्डपाशिक और कालदण्डपाशिक तथा अन्य उपरोक्त साक्ष्यों से स्पष्ट होता है कि दण्डपाशिक पुलिस विभाग का प्रमुख अधिकारी था जो चोर डाकुओं का पता लगा कर उनको दंडित भी करता था। अत वह न्यायिक जाँच के पश्चात दण्ड भी देने का कार्य करता था।

पुलिस विभाग का दूसरा कर्मचारी प्राहरिक[5] कहलाता था जो नगरों तथा गांवों में चोर डाकुओं से सुरक्षित रखने में सहायता करता था। ये प्रहरी (पहरा देनेवाले) पुलिस कर्मचारी होते थे। कादम्बरी में भी प्राहरिक[6] यामिक[7] और यामिक लोक[8] (पहरे के सिपाही) का उल्लेख है। यहाँ ये याम अर्थात् रात्रि के समय नगर आदि में सुरक्षा की दृष्टि से पहरा देने के कारण यामिक और यामिक लोक कहे गये हैं।

समराइच्च कहा में अन्य पुलिस कर्मचारी यथा नगर रक्षक[9] तथा आरक्षक[10] आदि का भी उल्लेख है। दशरथ शर्मा के अनुसार राज्य की ओर से गाँवों की सुरक्षा एवं शान्ति व्यवस्था बनाए रखने के लिए रक्षपाल नियुक्त किये जाते थे।[11] किन्तु यहाँ समराइच्च कहा में केवल नगर रक्षक का ही उल्लेख है। नगर

---

१ सम० क० ३ २१२ ४ ३२१।
२ अर्थशास्त्र २ ३६।
३ कामसूत्र टीका ५ ९।
४ डी० सी० सरकार—इण्डि० इपि० ग्लासरीज पृ० २००।
५ सम० क० ८ ८२५।
६ अग्रवाल—कादम्बरी एक सांस्कृतिक अध्ययन पृ० २६७ २७०।
७ कादम्बरी ९४।११ २१७।२१२।
८ वही २६८।२७०।
९ सम० क० ८ पृ० ७७० (तत्रो आउज्झइ नयरदा नयररक्खिया) ५ ३८७।
१० वही २ १५५ ६ ४ ३२६ ५ ४९७ ६ ५०० ५१०, ५२२ ५०७।
११ दशरथ शर्मा—अर्ली चौहान डायनेस्टीज पृ० २०७।

रक्षक सभवत नगर की रक्षा के लिए पुलिस अथवा सनिका का एक जत्था नियुक्त रहता था। आरक्षक का तात्पय सुरक्षा सनिक से है जो नगरो और गावों में शान्ति एव सुरक्षा बनाए रखने में सहायता करते थे। आरक्षकों को आधुनिक पी० ए० सी० की श्रेणी में रखा जा सकता है जो केवल आन्तरिक सुरक्षा क ही काम आते थे।

ग्राम तथा नगर शासन 'पचकुल

समराइच्च कहा में 'पचकुल'[1] का उल्लेख हुआ ह जो पाच न्यायिक अधिकारियों की एक समिति होती थी। समराइच्च कहा में उल्लिखित पचकुल आधुनिक ग्राम पचायत की भाति पाँच अधिकारियों की एक न्यायिक समिति होती थी। इनका निर्वाचन धन और कुल के आधार पर होता था।[2] अत स्पष्ट होता ह कि पचकुल के ये सदस्य धनी, सम्पन्न एव कुलीन होते थे।

कौटिल्य के अनुसार राजा को चाहिए कि प्रत्येक अधिकरण (विभाग) में बहुत से मुख्य (प्रमुख अधिकारी) की नियुक्ति करे जो न्यायिक जांच करे, किन्तु उन्हें स्थायी नही रहने दिया जाय।[3] मौय काल में अन्यत्र भी इसका सकेत प्राप्त होता ह क्योंकि मेगस्थनीज ने नगर तथा सनिक प्रबन्ध क लिए पाँच सदस्यों की समिति का उल्लेख किया है।[4] गुप्त काल में भी पाच सदस्यों की ग्राम समिति को 'पचमण्डली' कहा जाता था।[5] इससे पता चलता ह कि पाच व्यक्तियों का यह बोड बहुत प्राचीन काल से चला आ रहा है।

गुजरात में विशालदेव के पोरबन्दर नामक अभिलेख से पता चलता है कि पचकुल को सौराष्ट्र का प्रशासक नियुक्त किया गया था।[6] आठवी शताब्दी के अत में हुड (प्राचीन उद्भण्डपुर) के सारदा अभिलेख में पचकुल का उल्लेख है।[7] गुजरात में प्रतिहार नरेश के सियादोनी अभिलेख में पचकुल का पाच बार उल्लेख आया ह।[8] विक्रम सवत १३०६ के चाहमान अभिलेख[9] तथा विक्रम सवत

---

१ सम० क० ४, २७० ७१ ६, ५६० ६१।
२ निशीथ चूर्णी २, पृ० १०१।
३ अथशास्त्र २१९।
४ मक्रिडिल—मेगस्थनीज फ्रगमेंट XXXIV प० ८६ ८८।
५ अल्तेकर—प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, प० १७७।
६ पूना ओरियन्टल २।२२५।
७ इपि० इडि० २२, पृ० ९७।
८ वही १, पृ० १७३।
९ वही ११, पृ० ५७।

१३३६ के भीमनाल अभिलेख[1] में पचकुल का उल्लेख हुआ ह और दोनों अभि लेखों से पता चलता है कि पचकुल राजा द्वारा नियुक्त किये जाते थे। १३४५ के चौहान अभिलेख[2] में भी पचकुल का उल्लेख ह जिन्हें दूसरे स्थान पर ग्राम पचकुल[3] कहा गया ह। एक अन्य अभिलेख में पचकुल का महामात्य के साथ उद्धृत किया गया है।[4] सौराष्ट्र के शक सवत ८३९ के एक अभिलेख में पच कुलिक का उल्लेख ह जो सभवत पचकुल के पाँच सदस्यों की समिति में से एक था।[5] इसी प्रकार सग्रामगुप्त के एक अभिलेख में महापचकुलिक[6] का उल्लेख ह जो एक उच्च अधिकारी जान पडता ह। गुप्त सम्राटों के दामोदर प्लेट में प्रथम कुलिक का उल्लेख ह।[7] यहाँ मजूमदार ने भी पंचकुल को पाँच सदस्यों का एक बोर्ड माना है जिसमें से प्रत्येक का पचकुलिक और उनके मुख्य-अधिकारी को महापंचकुलिक बताया ह।[8]

समराइच्च कहा में पचकुल को राजा के साथ बठकर मुकदमों की निगरानी तथा उनके (पचकुल) परामर्श से राजा द्वारा उचित निर्णय देने का उल्लेख ह।[9] हर्षचरित से भी पता चलता ह कि प्रत्येक गाँव में पचकुल समस्त पाँच अधि कारी गाँव के करण या कार्यालय के व्यवहार (न्याय और राजकाज) चलाते थे।[10] प्रबन्ध चिन्तामणि तथा अन्य ग्रन्थों में भी पचकुल का उल्लेख है।[11]

ऊपर के अभिलेखीय तथा साहित्यिक साक्ष्यों से पता चलता ह कि पंचकुल का निर्वाचन राजा द्वारा किया जाता था जो गाँव तथा नगर के मुकदमों की न्यायिक जाँच कर राजा, मन्त्री तथा अन्य अधिकारियों के परामर्श से निर्णय भी देते थे। राजपूताना में १२७० ई० के भीमनाल अभिलेख में पंचकुल के सदस्यों द्वारा

---

१ बाम्बे गजटियर I, ४८०, नं० १२।
२ इपि० इंडि० ११ पृ० ५८।
३ वही ११ पृ० ५०।
४ नाहर—जैन इन्सक्रिप्शन्स २४८— महामात्य प्रभृति पचकुल।
५ इंडि० एंटी० १२ पृ० १९३ १४।
६ जर्नल आफ दी बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी ५ ५८८।
७ एपि० इंडि० १५, ११३ १४५।
८ ए० के० मजूमदार—चालुक्याज आफ गुजरात पृ० २३०।
९ सम० क० ६ ५६० ११।
१० वासुदेवशरण अग्रवाल—हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन पृ० २०१।
११ सिंघी जैन ग्रन्थमाला १ पृ० १२ ५७ ८२।

एक दान दिये जाने का वर्णन है।[1] साक्ष्यों के आधार पर यह प्रकट होता है कि पंचकुल मंत्री और गवर्नरों से सम्बन्धित थे तथा कभी-कभी नगर के अधीक्षक का भी चार्ज लेते थे, किन्तु अन्य विद्वानों के अनुसार उनके (पंचकुल) कार्य किसी निश्चित सीमा (नगर-गाँव अथवा मंत्री) तक सीमित न थे।[2]

कारणिक

पंचकुल की भाँति समराइच्च कहा में अपराध की न्यायिक जाँच करते हुए कारणिक[3] का उल्लेख किया गया है। अन्य प्राचीन जैन ग्रन्थों में न्यायाधीश के लिए कारणिक अथवा रूप यक्ष (पालि में रूप दक्ख) शब्द का प्रयोग हुआ है।[4] रूप यक्ष को माठर के नीतिशास्त्र और कौडिन्य की दण्डनीति में कुशल होना तथा निर्णय देते समय निष्पक्ष रहना बताया गया है।[5] उत्तराध्ययन[6] टीका में उल्लिखित है कि करकण्डु और किसी ब्राह्मण में एक बाँस के डण्डे को लेकर झगड़ा हो गया। दोनों कारणिक के पास गये। बाँस करकण्डु के श्मशान में उगा था, इसलिए उसे दे दिया गया। बृहत्कल्प भाष्य[7] में भी उल्लिखित है कि अपराधी को राजकुल के कारणिकों के पास ले जाया जाता और अपराध सिद्ध होने पर घोषणापूर्वक दण्डित किया जाता था। सोमदेव ने कर्णी (कार्णिक) के पाँच प्रकार के कार्य एवं अधिकार गिनाया है यथा—(१) अदायक (राज की आय को एकत्र करने वाला) (२) निबन्धक (लेखा-जोखा का कार्य करने वाला) (३) प्रतिबन्धक (सील का अध्यक्ष) (४) नीति ग्राहक (वित्त विभाग का कार्य), (५) राज्याध्यक्ष (इन चारों का अध्यक्ष)।[8] कर्णाटक के कल्चुरि शासन में पाँच

---

१ अल्तकर—प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ० १७८।

२ ए० के० मजूमदार—चालुक्याज आफ गुजरात पृ० २४०।

३ सम० क० ४ प० २७१। नीया पंचउल समीवं पुच्छिया पंचउलिएहिं 'केया तुब्भे त्ति। तहिं भणिय– सावत्थीओ। कारणिएहिं भणिय–कहिं गमिस्सह त्ति। तेहिं भणिय सुसम्भ नयरं। कारणिएहिं भणिय किंनिमित्त त्ति—कारणिएहिं भणिय-अत्थे तुम्हाण किंचि दविणजाय।

४ जगदीशचन्द्र जैन— जैनागम साहित्य में भारतीय समाज, प० ६४।

५ व्यवहारभाष्य १ भाग ३, प० १२२।

६ उत्तराध्ययन टीका ९, पृ० २३४।

७ बृहत्कल्पभाष्य १।९००, ९०४५।

८ जी० सी० चौधरी—पोलिटिकल हिस्ट्री आफ नार्दन इण्डिया फ्राम जैन सोर्सेज पृ० ३६२।

अधिकारी नियुक्त किये जाते थे। इन्हें 'करणम' कहते थे। इनका काय यह दखना था कि सावजनिक धन का दुरुपयोग न हो न्याय की व्यवस्था ठीक हो तथा राजद्रोहियों और उपद्रवियों को समुचित दड मिले।[1]

समराइच्च कहा में उल्लिखित कारणिक का प्रमुख काय राज्य की आय-व्यय आदि का लम्बा-जोखा ता था ही इसके साथ-साथ वह न्यायिक जांच का भी काय करता था जसा कि ऊपर के साक्ष्यों द्वारा पुष्ट हाता है।



१ इन्डियिया कर्नाटिका भाग ७ शिकारपुर सवत् १०२ और १२१।

चतुर्थ अध्याय

सामाजिक स्थिति

वण एव जाति-व्यवस्था

प्राचीन भारतीय समाज विभिन्न प्रकार के वर्णो एव जातिया में विभाजित था। समाज का यह विभाजन सामाजिक (वश परपरा तथा रीति रिवाजों के कारण), आर्थिक (आजीविका की दृष्टि से) राजनतिक, धार्मिक एव भौगोलिक परिस्थितियों का परिणाम था। धम शास्त्रों के आधार पर जाति व्यवस्था के कुछ विशिष्ट गुण बताये गये ह और इन्ही गुणा के कारण एक जाति दूसरी जाति से भिन्न आचरण करती हुई पायी गयी है। वे गुण हैं—वश परम्परा, जाति के भीतर ही विवाह करना एव एक ही गोत्र में या कुछ विशिष्ट सम्बन्धियों में विवाह न करना भोजन सम्बन्धी वजना, व्यवसाय (आजीविका के आधार पर जाति व्यवस्था), जाति श्रेणियाँ यथा कुछ उच्चतम और कुछ निम्नतम[1] आदि। जाति व्यवस्था की विशेषताओं पर आधुनिक समाजशास्त्र के विद्वानों के भी विचार धमशास्त्रीय विवेचन से कुछ मिल्ते-जुल्ते हैं। उनके अनुसार जाति कुटुम्बों का वह समूह ह जिनका अपना एक निजी नाम है जिसकी सदस्यता पैतकता के आधार पर निर्धारित होती ह, जिसके भीतर ही कुटुम्ब विवाह करते ह और जिसका या तो अपना निजी पेशा होता ह अथवा जो अपना उद्भव किसी पौराणिक देवता या पुरुष से बताते ह।[2] काणे ने वण और जाति में अन्तर बताते हुए लिखा ह कि वण की धारणा वश, सस्कृति चरित्र (स्वभाव) एव व्यवसाय पर मूलत आधारित ह जबकि जाति व्यवस्था जन्म एव आनुवंशिकता पर बल देती ह और बिना कत्तव्यों का विश्लेषण किये केवल विशेषाधिकारो पर ही आधारित है।[3] अत मौलिक रूप में वण और जाति के अथ में अन्तर दिखाई देता ह।

हरिभद्र कालीन भारत के विभिन्न क्षेत्रों में अनेक जातियाँ निवास करती थी। उनके रहन-सहन एव आचार विचार का स्तर भिन्न था। यह विभिन्नता

---

१ पी० वी० काणे—धमशास्त्र का इतिहास भाग १ प० १०९।

२ राजेश्वर प्रसाद अगल—समाज शास्त्र, पृ० २०१—लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, हास्पिटल राड, आगरा, सन १९५६ ई०।

३ पी० वी० काणे—धमशास्त्र का इतिहास भाग १, पृ० ११९।

सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं भौगोलिक स्थितियों के प्रभाव स्वरूप था। समराइच्च कहा में आर्य एवं अनार्य जातियों का उल्लेख है। आर्य जातियों के अन्तर्गत ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र ये चार वर्ण गिनाए गये हैं, शूद्र की कई शाखाएँ थी यथा—चाण्डाल, डोम्बलिक रजक, चर्मकार शाकुनिक और मछुआ आदि और अनार्य के अन्तर्गत शक, यवन बर्बरकाय, मुरुण्डोड और गौड आदि जातियों का नाम गिनाया गया है।[1] इस आर्य और अनार्य जातियों में भेद माना जाता था। जिन जातियों के रहन-सहन का स्तर धर्म एवं उच्च आचार विचार से प्रभावित था और जो विवेक से कार्य करते थे उन्हें आर्य कहा जाता था। किन्तु इसके विपरीत जिन्हें धर्म-कर्म एवं आचार विचार का ज्ञान नहीं था तथा जो विवेक से कार्य नहीं करते थे उन्हें अनार्य (म्लेच्छ) कहा जाता था।

आर्य जाति के अन्तर्गत चातुर्वर्ण्य का उल्लेख किया गया है। इन चारों वर्णों की उत्पत्ति हमें ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में देखने को मिलती है। जिसमें उल्लिखित है कि ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य एवं शूद्र की उत्पत्ति क्रम से विराट पुरुष (परम पुरुष) के मुख बाहुओं जाँघों और पैरों से हुई।[2] अन्य ब्राह्मण ग्रन्थों में भी चातुर्वर्ण्य का उल्लेख है।[3] जैन ग्रन्थ निशीथ चूर्णी में ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य एवं शूद्र इन चार वर्णों का उल्लेख है।[4] आदि पुराण में उल्लिखित है कि शस्त्र धारण से ब्राह्मण शस्त्र धारण से क्षत्रिय न्याय पूर्ण धनार्जन से वैश्य और नीच वृत्ति से शूद्र की उत्पत्ति हुई।[5] इसी ग्रन्थ में एक अन्य स्थान पर उल्लेख है कि आदि ब्रह्मा ऋषभ देव ने तीन वर्णों की स्थापना की थी। शस्त्र धारण कर आजीविका चलाने वाले क्षत्रिय खेती व्यापार एवं पशु पालन आदि के द्वारा आजीविका चलाने वाले वैश्य तथा अन्य लोगों की सेवा शुश्रूषा करने वाले शूद्र कहलाये। शूद्रों की भी दो श्रेणियाँ थी—कारु और अकारु धोबी आदि शूद्र कारु और उनसे भिन्न अकारु कहे गये। कारु शूद्र भी स्पृश्य और अस्पृश्य

---

१ सम० क० ४ पृ० ३४८।

२ ऋग्वेद १०।९२।१२।

३ शतपथ ब्राह्मण ५।४।६।९ महाभारत—शान्ति पर्व १८८।५।१४ मनु० १।३।

४ निशीथ चूर्णी ३ पृ० ४१३—जहा बंभण खत्तिय वइस्सु सत्तिसु गमण कुण्णा, मालिण्णाना मदग-सुद्देसु वि।

५ आदि० ३८।४६-४६।

भेद से दो प्रकार के थे। जो समाज के बाहर रहते थे उन्हें अस्पृश्य और जो समाज के अन्दर थे उन्हें स्पृश्य कहा जाता था, यथा नाई, सुवर्णकार आदि[1]। आदि पुराण के आधार पर कुछ विचारकों का मत है कि भरत ने अपने पिता ऋषभदेव द्वारा उपदिष्ट धर्म के प्रचारार्थ क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्रों में से वृत्ति भेद के आधार पर चौथे वर्ण अर्थात् ब्राह्मण की स्थापना की और उन्हें ब्रह्मसूत्र से अलंकृत किया। उन्होंने जैन धर्म एवं जैन-समाज में सभी वर्गों के लिए अलग अलग क्रिया-कलाप निश्चित किये। यहां जैन धर्म एवं जैन समाज में म्लेच्छ तक को सम्मिलित होने की अनुमति थी[2]। यद्यपि समराइच्चकहा में आर्य एवं अनार्य का भेद बताया गया है फिर भी जैन धर्म में प्रविष्ट होने की छूट सभी को थी। जैन दृष्टि में तो वर्ग भेद वृत्ति भेद के अनुसार था।

समराइच्च कहा में आर्य और अनार्य जातियों के साथ-साथ विन्ध्यादि पर्वतीय क्षेत्रों में निवास करने वाली यक्ष,[3] नाग, किन्नर,[4] विद्याधर[5] तथा गन्धर्व[6] आदि जातियों का उल्लेख पाया गया है। ये लोग तन्त्र-मन्त्र की सिद्धि करते हुए अपना जीवन यापन करते थे।

ब्राह्मण

वैदिक काल से ही ब्राह्मणों को सभी वर्णों में श्रेष्ठ बताया गया है। हरिभद्र के समय में ब्राह्मणों की यह श्रेष्ठता बनी रही।[7] वे पठन-पाठन के साथ यज्ञ हवन आदि उत्तम कार्य में रत रहते थे।[8] राजदरबारों में भी उन्हें विशिष्ट स्थान प्राप्त था तथा वे राजाओं के सचिव आदि श्रेष्ठ पदों को सुशोभित करते थे।[9] अन्त्येष्टि क्रियाओं के बाद मृतक आत्मा की शान्ति के लिए ब्राह्मणों को

---

१ आदि० १६।१८४ ८६।

२ द्रष्टव्य—जैन एँटीक्वेरी वाल्यूम ३ नं० १ में दी जैन क्रानालाजी, पृ० २९।

३ सम० क० ८, पृ० ८२१ ८२५, ८३१।

४ वही ५ पृ० ४५१।

५ वही ५ प० ४४८ ४५३ ५४ ५५ ४६३ ४६८।

६ वही ६, प० ५४५ ५४८, ८, पृ० ७५५।

७ सम० क० ८ प० ८२७ ९ पृ० ८९२।

८ वही २ प० १२१ ५, पृ० २७७, २८०, ६ पृ० ३९५ ४७८ ४८० ४८७ ० पृ० ९७८।

९ वही ३ प० १६२ १६३।

घर बुलाकर भोजन कराया जाता था।[1] विशिष्ट ब्राह्मणों को दान देने की भी प्रथा थी।[2]

स्मृतियों में ब्राह्मणों को जाति व्यवस्था की शिखा माना जाता था। क्षत्रिय उनकी आज्ञा का पालन करते थे तथा शूद्र उनकी सेवा करता था।[3] मनु के अनुसार ब्राह्मण को किसी भी प्रकार का शारीरिक दण्ड अथवा मृत्यु दण्ड नहीं दिया जा सकता था।[4] मनु ने लिखा है कि यदि कोई ब्राह्मण अपने परम्परागत व्यवसाय का पालन करते हुए—अपनी आजीविका कमाने में असमर्थ हो तो वह क्षत्रियों पर आश्रित रह सकता है।[5] ब्राह्मण वैदिक तथा पौराणिक विद्या के ज्ञाता होते थे। साथ ही वे नियमत वैदिक क्रियाओं का अनुष्ठान करते, आहुति देते तथा एक गृहस्थ ब्राह्मण के लिए निर्धारित सभी कार्य करते थे।[6] कम पढ़े लिखे ब्राह्मण स्वस्तिक गान (मन्त्रोच्चारण) तथा मन्दिरों पर पूजा आदि के द्वारा अपनी आजीविका चलाते थे।[7] जिनसेन ने आदिपुराण में तपाचरण करने वाले तथा शास्त्रों के ज्ञाता को ब्राह्मण वर्ण वाला माना है किंतु जो इन दोनों से रहित हैं उसे जाति ब्राह्मण माना है।[8] अत ब्राह्मण का मुख्य कार्य तप, यज्ञ, एवं वेद शास्त्र का अध्ययन अध्यापन ही था।

यशस्तिलक में ब्राह्मणों को कई नामों से सम्बोधित किया गया है यथा—ब्राह्मण,[9] द्विज[10] विप्र[11] भूदेव[12] श्रोत्रिय[13] वाडव[14] उपाध्याय[15] मौहूर्तिक[16]

---

१ सम० क० ४ पृ० ३४५ ३५१ तुलना कीजिए हन्दिकी—यशस्तिलक पृ० ८८ भुक्त्वा च श्राद्धमनिमन्त्र्य।
२ यशस्तिलक पृ० ८९७ स्नाति स्म—द्विज यशयश ।
३ पराशर स्मृति ८।२३।
४ मनु ८।३८०।
५ मनु० १०।८१।
६ हर्षचरित ३ पृ० ८६ देखिए—ममगीर चरितम् ४ पृ० १३०।
७ रत्नावली अंक १ पृ० १२।
८ आदि० ३८।४३।
९ यशस्तिलक पृ० ११६ ११८ १२६—उत्तर खंड।
१० वही पृ० ९० १०५ १०८ उत्तर खण्ड।
११ वही पृ० ४५७।
१२ वही पृ० ८८ उत्तर खण्ड।
१३ वही पृ० १०३ उत्तर खण्ड।
१४ वही पृ० ९३ उत्तर खण्ड।
१५ वही पृ० १०१ उत्तर खण्ड।
१६ वही पृ० ३१६ पूर्व खण्ड १४० उत्तर खण्ड।

देवभोगी,[१] तथा पुरोहित[२]। इन उल्लेखों से ब्राह्मण के महत्त्व एव समाज में उनकी उत्कृष्ठ स्थिति का पता चलता ह। इत्सिग के अनुसार ब्राह्मण बहुत ही सम्माननीय जाति थी और उन्हें देवता कह कर आदर दिया जाता था।[3] अलबरुनी के अनुसार ब्राह्मण मानव जाति में सबसे उत्तम समझे जाते थे और अन्य वर्णों की तरह वह राजा की सेवा आदि के लिए बाध्य नही थे।[४] कश्मीर के राजा चन्द्रापीड के समय में (७१३ ७२० ई०) एक हत्यारे ब्राह्मण को जाति की विशिष्टता के ही कारण किसी भी प्रकार का शारीरिक दण्ड नही दिया गया था।[५] प्राचीन काल में तपे लोहे से दागना तथा देश से निर्वासित कर दना ही ब्राह्मणों के लिए सबसे बड़ा दण्ड था।[६]

समराइच्च कहा के इस उल्लेख की पुष्टि अन्य साक्ष्यो से भी हो जाती ह कि ब्राह्मण राजाओ के यहाँ सचिव आदि विशिष्ट पदों को भी सुशोभित करते थे। गर्ग गोत्रीय ब्राह्मण तथा उनके वशज मत्री के रूप में धमपाल तथा उसके उत्तराधिकारी देवपाल के दरबार में रहते थे।[७] कादम्बरी के उल्लेख स पता चलता ह कि कुमारपाल[८] तथा शुकनास[९] जो कि क्रमश शूद्रक और तारापीड के मत्री थे ब्राह्मण थे। मत्री एव सचिव के अतिरिक्त कुछ ब्राह्मण शासक भी हुए ह जो स्वभावत सेनानी रह चुके थे, यथा—शुग, सातवाहन, वाकाटक, कदम्ब एव गुहिल वशीय।

क्षत्रिय

समराइच्च कहा में क्षत्रियो को आय जाति की श्रेणी में ही गिनाया गया ह।[10] यद्यपि समराइच्च कहा में क्षत्रियों की सामाजिक स्थिति तथा उनके काय एव व्यवसाय का पता नही चलता ह फिर भी अन्यत्र इनकी स्थिति आदि के

---

१ यशस्तिलक पृ० १४० उत्तर खण्ड।
२ वही पृ० ३१६ पू० ख०, प० ३४५ उत्तर खण्ड।
३ तकाकुसू, प० २४ और पृ० १८२।
४ सचाऊ—अलबरुनीज इण्डिया २ पृ० १४९।
५ राजतरंगिणी ४, ९६।
६ पी० वी० काणे—धमशास्त्र का इतिहास भाग १, पृ० १४१।
७ राजतरंगिणी ४ १३७।
८ कादम्बरी पृ० २६।
९ वही प० ११४।
१० सम० क० ४ पृ० ३४८।

आधार पर हम वैश्यों को चार वर्गों में विभाजित कर सकते हैं। स्थानीय व्यापारी, कारवाँ व्यापारी समुद्र पार तक व्यापार करने वाले तथा उद्योग पति,[1] किन्तु समराइच्चकहा में हम सार्थवाह को ही कारवाँ बनाकर देश के अन्दर तथा यथेष्ट लाभ न पाकर देश के बाहर समुद्र पार तक व्यापार करते हुए पाते हैं।

स्थानीय व्यापारी (वणिक)

समराइच्चकहा में वणिक का उल्लेख किया गया है जो गाँवों की हाटों में तथा छोटे छोटे शहरों में व्यापार करते थे।[2] ये स्थानीय व्यापारी कहे जा सकते हैं जो तत्कालीन भारत के स्थानीय लोगों की आवश्यकतानुसार वस्तुओं का क्रय विक्रय कर यथेष्ट लाभ प्राप्त करते थे। यही उनकी आजीविका का प्रधान साधन था। प्रतिहार अभिलेख में वका नामक एक व्यवसायी का उल्लेख है जो विभिन्न स्थानों से व्यापार के योग्य सामग्रियों का क्रय करता था।[3]

सार्थवाह

वैश्यों में दूसरा वर्ग सार्थवाह का था। ये लोग साथ (कारवाँ) बनाकर व्यापार के लिए देश के अन्दर दूरस्थ प्रदेशों का आया-जाया करते थे।[4] साथ बनाकर व्यापार करने के कारण ही इन्हें सार्थवाह कहा जाने लगा। साथ का तात्पर्य उन व्यापारियों की टोली और वाह का अर्थ वहन करने वाला अर्थात् नेता (अगुआ) से लगाया जाता है। अतः स्पष्ट है कि सार्थवाह साथ (कारवाँ) का नेता होता था। धीरे धीरे वर्गों में यह एक महत्त्वपूर्ण वर्ग बन गया।[5] व्यापार में समुचित लाभ प्राप्त करने के लिए ये लोग जलयानों द्वारा समुद्रपार के द्वीपों में भी जाया करते थे[6]। ये बड़े ही धनी सम्पन्न तथा प्रतिष्ठित व्यक्ति समझे

१ वासुदेव उपाध्याय सोशियो रिलिजस कन्डीशन आफ नार्थ इंडिया पृ० ७१।

२ सम० क० ८ पृ० ७६८ ७/७ ६ पृ० ५२१ ५६०।

३ प्रति० हरि० २० पृ० ५८।

४ सम० क० ६ पृ० ५०७।

५ वही २ पृ० १०८ १०५ ११० ११ १२२ १४ १३६ १३७-१८ १२१ १२२ १२८ १३२ १ पृ० १६८ १७२ ४ २३७ २४० ३५१ ६० ७, पृ० ६ ८।

६ वही ५ पृ० ४८१ ४१६ ४२६ ४ २ ४७१ ४७१ ६ पृ० ४११ ५०६ ५२२ ५२४ ... ३४५ ... ५६० ६१५१८, ७ पृ० ६१० ६२४।

करते थे। समाज में इनको श्रेष्ठी (सेठ) का सम्मान सूचक पदवी प्राप्त थी।[1] व्यापारिक वृत्ति के होते हुए भी ये लोग धार्मिक प्रवृत्ति के होते थे।[2] बसाढ़ से मिली मुद्राओं से पता चलता है कि गुप्त काल में निगम श्रेष्ठि सार्थवाह तथा कुलिकों की संयुक्त मंडली होती थी जिसका उल्लेख ऊपर सार्थवाह के संदर्भ में किया गया है। समराइच्चकहा[3] की ही भाँति कुमार गुप्त प्रथम के दामोदरपुर ताम्रपत्र में नगर श्रेष्ठि का उल्लेख है।[4] जिसे व्यापारिक संस्था का मुखिया (सेठ) कहा जा सकता है।

शूद्र

भारतीय सामाजिक संगठन में चौथा वर्ण शूद्रों का था। समराइच्चकहा में इन्हें आर्य जातियों में चौथी तथा निम्न श्रेणी का बताया गया है।[5] ऋग्वेद में इनकी उत्पत्ति विराट पुरुष के पैर से बताया गई है।[6] शूद्रों को ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों का सेवक माना जाता रहा है। मनुस्मृति के उल्लेख से पता चलता है कि शूद्रों के सारे क्रिया संस्कार बिना वैदिक मंत्रों के हो सकते हैं।[7] गृहस्थ आश्रम के अतिरिक्त इनसे किसी दूसरे आश्रम की आशा नहीं की जा सकती।[8]

जैन ग्रन्थ आदि पुराण में भी शूद्रों को अन्य वर्णों का सेवक बताया गया है।[9] यशस्तिलक में शूद्र और छोटी जातियों के लिए पृथक् अंत्यज तथा पामर शब्द आये हैं। अन्त्यजों का स्पर्श वर्जनीय माना जाता था तथा पामरों की संतान उच्च कार्य के योग्य नहीं मानी जाती थी।[10] अलबरूनी के अनुसार समाज में शूद्रों की स्थिति अच्छी नहीं थी तथा वे वेदाध्ययन नहीं कर सकते थे।[11]

समराइच्च कहा में इसे शूद्रों के कई भेद गिनाए गए है यथा—चाण्डाल, डोम्बलिक, रजक, चमकार शाकुनिक और मछुआ।[1] सम्भवत यह पेशे के अनुसार आजीविका कमाने वाली शूद्रों की कई शाखाएँ थी जिनका विवेचन अधोलिखित ढग से किया जा सकता है।

चाण्डाल

समराइच्च कहा में इसे शूद्रों का एक शाखा बताया गया है। हरिभद्र सूरि ने चाण्डाल का उल्लेख कई बार किया है।[2] ये लोग समाज में अन्य वर्णों की अपेक्षा हेय दृष्टि से देखे जाते थे तथा इनका आवास भी पृथक होता था। इनका काय अभियोगियों को फासी देना, वधस्थल पर ले जाकर तलवार से मौत के घाट उतारना आदि था।

ऋग्वेद में चमम्न (खाल या चमडा शाधने वाले) शब्द का उल्लेख है।[3] छान्दोग्य उपनिषद् में चाण्डाल का अन्य तीन वर्णों से निम्न माना गया है।[4] गौतम ने लिखा है कि चाण्डाल ब्राह्मणी मे शूद्र द्वारा उत्पन्न सतान है। अत वह प्रतिलोमों में अत्यन्त गर्हित प्रतिलोम है।[5] आपस्तम्ब ने लिखा है कि चाण्डालस्पर्श पर वस्त्र के सहित स्नान करना चाहिए चाण्डाल सम्भाषण पर ब्राह्मण से बात कर लेना चाहिए, चाण्डाल दर्शन पर सूर्य चन्द्र या तारा का दख लेना चाहिए।[6] मनु ने केवल आन्ध्र, मेद चाण्डाल एव श्वपच का गाँव के बाहर तथा अन्त्यावसायी का श्मशान में रहने को कहा है।[7] अत स्पष्ट होता है कि स्मृतियों में भी चाण्डाल को हेय दृष्टि से देखा गया है।

फाहियान[8] तथा इत्सिंग[9] के अनुसार चाण्डाल समाज से बहिष्कृत जाति

---

१ सम० क ४ पृ० ३४८।

२ वही १ पृ० ५४ ३ पृ० १८३ ४ पृ० २६१ ६२ २६६ ६७ ३२१, ३४८ ६ पृ० ५०८ ९ ५४८, ८ पृ० ८२९ ३०।

३ ऋग्वेद ८।५।३८।

४ छान्दोग्य उपनिषद् ५।१०।७।

५ गौतम० ४।१५ २३।

६ आपस्तम्ब धर्म सूत्र २।१।२।८ ९—'यथा चाण्डालोपस्पर्शने सभाषाया दर्शने च दोषस्तत्र प्रायश्चित्तम्। अवगाहनमपामुपस्पर्शने सभाषायां ब्राह्मण सम्भाषण दर्शने ज्योतिषां दर्शनम्।

७ मनु० १०।३६ ५१।

८ लेगे (Legge)—ट्रैवेल आफ फाहियान पृ० ४३।

९ तकाकुसु पृ० १३९।

थी। ये लोग नगर बाजार आदि में प्रवेश करते समय लकड़ी या डंडा बजाते हुए चलते थे जिससे लोग सजग हो जायें और उनके स्पर्श से बचे रहे। यशस्तिलक में चाण्डाल का स्पर्श हो जाने पर मंत्र जाप करने का उल्लेख किया है।[1] बाणभट्ट ने भी चाण्डाल तथा मातंग का स्पर्श वर्जित बताया है।[2] वे अच्छे शिकारी होते थे शराब पीते, सफेद बैल की सवारी करते तथा अपने देवताओं को जीव बलि देते थे।[3]

उपरोक्त साक्ष्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि हरिभद्र सूरि के काल में भी चाण्डाल निम्नतर जाति की श्रेणी में गिने जाते थे। उनकी सामाजिक स्थिति बड़ी ही दयनीय थी तथा उनके कृत्य भी निकृष्ट श्रेणी के थे।

रजक

समराइच्चकहा में रजक को भी शूद्र जाति के अन्तर्गत माना गया है।[4] इन्हें वस्त्र शोधक भी कहा गया है।[5] व्यास स्मृति में रजक को बारह अन्त्यज जातियों में से एक माना गया है।[6] वैखानस स्मार्त सूत्र के अनुसार यह पुल्कस एवं ब्राह्मण स्त्री की संतान है।[7] महाभाष्य में इसे शूद्र कहा गया है।[8] यशस्तिलक में रजक की स्त्री को रजकी कहा गया है तथा उसका कार्य गंदे कपड़ों को साफ करना बताया गया है।[9] आदिपुराण में रजक को कारु शूद्र के अन्तर्गत गिनाया गया है।[10] इनका मुख्य कार्य वस्त्र प्रक्षालन था। सेवा की दृष्टि से इनकी अत्यधिक उपयोगिता थी किन्तु इनकी सामाजिक स्थिति अच्छी नहीं थी।

मालो (मालाकार)

समराइच्चकहा में माली का उल्लेख मिलता है।[11] इनका मुख्य कार्य

---

१ यशस्तिलक पृ० २८१ उत्त०।
२ कादम्बरी पृ० २०, २४।
३ वही पृ० ५९१-३।
४ सम० क० ८ पृ० ७८८।
५ वही १ पृ० ५१, ५३।
६ व्यास स्मृति १।१२।१।
७ वैखानसस्मार्त सूत्र १०।१५।
८ महाभाष्य २।४।१०।
९ यशस्तिलक पृ० २५४।
१० आदिपुराण १६।१८५।
११ सम० क० ८ पृ० ७७८।

फुलवारी की देख भाल करना तथा माला बनाना था। व्यास स्मृति में भी मालाकार का उल्लेख है।[1] अभिधानरत्नमाला में इसे शूद्रों की एक शाखा कहा गया है।[2] यशस्तिलक में मालाकार को फुलवारी एवं बगीचे को सजाने वाला तथा फूल चुनने वाला बताया गया है।[3] आदिपुराण के अनुसार मालाकार मांगलिक अवसर पर पुष्प माला गूंथ कर लाता था।[4] बाग-बगीचे तथा फुलवारी की देख भाल करना उसे सजाना एवं मालाओं का क्रय विक्रय करना इनका मुख्य काय था।

नापित (नाई)

समराइच्च कहा में नापित (नाई) को भी शूद्र वर्ग के अन्तर्गत माना गया है।[5] ये उच्च वर्णों के बाल तथा नाखून काटने और विवाहादि मांगलिक अवसरों पर स्नान आदि कराने का कार्य करते थे।[6] तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी इसका नाम आता है।[7] यशस्तिलक में भी नापित का उल्लेख है।[8] आदि-पुराण में नापित को कारु शूद्र की श्रेणी में रखा गया है। ये लोगों के बाल बनाने, स्नान कराने तथा अलङ्कृत करने का कार्य करते थे।[9]

चमकार

समराइच्च कहा में चमकार को भी शूद्रों की एक शाखा कहा गया है।[10] चमड़े का कार्य करने के कारण ही उन्हें चमकार कहा जाता था। विष्णु धर्मसूत्र आपस्तम्ब धर्मसूत्र तथा पराशर स्मृति में इसका उल्लेख है।[11] मनु ने इसे चर्मावकर्ती माना है।[12] यशस्तिलक में चमकार के साथ उसके एक उपकरण

१ व्यास स्मृति ११।१० ११।
२ अभिधानरत्नमाला २, पंक्ति ५८६ ९२।
३ यशस्तिलक, पृ० ३९३।
४ आदिपुराण—प्रथम खण्ड, पृ० २६२।
५ सम० क० ४, पृ० ३४८।
६ वही २ पृ० ९३ ९४।
७ तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।४।१।
८ यशस्तिलक, पृ० २४५।
९ आदि पुराण प्रथम खण्ड पृ० ३६२।
१० सम० क० ४ पृ० ३४८।
११ विष्णु धर्मसूत्र ५१।८, आपस्तम्ब धर्मसूत्र ९।३२ पराशर० ६।४४।
१२ मनु० ४।२१८।

(वाग्वी) या लूटना।[1] इनके क्रूर कर्मों के कारण ही इन्हें अनार्य जाति की श्रेणी में गिना जाता था। समराइच्चकहा में शबरों द्वारा चण्डिका देवी की उपासना करने का उल्लेख है।[2] देवी को प्रसन्न कर मनोनुकूल फल की प्राप्ति के लिए ये पशुबलि तथा नरबलि भी देते थे। इन शबरों में कुछ वैद्य भी होते थे जो प्राकृतिक उपचार द्वारा विभिन्न प्रकार के रोगों का उन्मूलन भी किया करते थे।[3]

किरात

शबरों की भाँति किरात भी एक जंगली जाति थी।[4] इनका जीवन बहुत कुछ शबरों जैसा होता था। ये जंगलों में रहते, फल-फूल खाते, वल्कल पहनते तथा धनुष बाण धारण करते थे। कात्यायन ने इसे शूद्र की एक उपजाति माना है।[5] मनु ने किरात को शूद्र की स्थिति को प्राप्त क्षत्रिय माना है।[6] वैदिक साहित्य में भी इनका उल्लेख प्राप्त होता है।[7] महाभारत के अनुशासन पर्व में भी किरात को शूद्र बताया गया है।[8] समराइच्चकहा की भाँति अमरकोश में भी किरात, शबर और पुलिन्द को म्लेच्छ जाति की उपजाति कहा गया है।[9] अभिधानरत्नमाला में किरात को एक उपेक्षित एवं जंगली जाति का बताया गया है।[10] किरातार्जुनीय में शिव अर्जुन की परीक्षा के लिए किरात रूप में उपस्थित होते हैं जिसमें उनके स्वरूप का वर्णन करते हुए भारवि ने लिखा है कि उनकी केश राशि फूलों वाली लताओं के अग्रभाग से बँधी थी। कपोल मोरपंख से सुशोभित थे और आँखों में लालिमा थी। सीने पर हरि चन्दन की टेढ़ी मेढ़ी रेखाएँ खिंची हुई थीं जिन्हें उष्णता के कारण बहते हुए पसीने ने

---

1 समरा॰ क॰ २ पृ॰ १२० ६ पृ॰ ५११ ७ पृ॰ ६५६-५७ ६६१-६२ ८ पृ॰ ७६८।
2 वही ६ पृ॰ ५२९।
3 वही ६ पृ॰ ५८० (आज भी कुछ जंगली जातियाँ इस प्रकार के उपचार के लिए गाँवों एवं नगरों में आकर घूमती हैं)।
4 वही १, पृ॰ ५५।
5 कात्यायनस्मृति ३।१० ११।
6 मनु॰ १०।४३-४४।
7 अथर्ववेद १०।४।१४ तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।४।१२।
8 महाभारत—अनुशासन पर्व ३५।१७-१८।
9 काणे—धर्मशास्त्र का इतिहास भाग—१, पृ॰ १२०।
10 अभिधानरत्नमाला २।५४८।

बीच-बीच म काट दिया था और हाथ में वाण सहित विशाल धनुष था।[1] यहा किरात के स्वरूप का भी स्पष्टीकरण हो जाता है। यशस्तिलक म किरात का शिकारी क रूप म उल्लिखित किया गया है।[2]

शक

समराइच्च कहा म शको को अनार्य जाति की श्रणी म गिनाया गया है।[3] इन्हे म्लेक्ष भी कहा जाता था क्योकि य लाग बड ही क्रूरकर्मी एव उद्दण्ड स्वभाव के होत थ। शक शब्द मध्यएशिया का सीथियन जाति के लिए प्रयुक्त हुआ है। भारत में इनका प्रवश पहली शताब्दी ईसा पूर्व में हुआ था किन्तु कदाचित इससे पूर्व भी भारतीयो को इनका ज्ञान था। शाकम्भरी वश क अभिलेखो में भी शक जातियो के उल्लेख है। इससे प्रतीत होता है कि बहुत पहले ही कुछ शक ईरान क समीप आकर बस गय थ। मनु न इन्हे म स्त क्षत्रिय माना ह और कहा है कि वशिष्ट सस्कारो के न करन स तथा ब्राह्मणों के सम्पर्क से दूर रहन के कारण य शूद्रों की श्रणी म आ गय।[4] महाभारत में शको का उल्लेख कई बार आया है।[5] अष्टाध्यायी म भी कम्बोजादि गण म शक का उल्लेख है।[6]

यवन

समराइच्च कहा म यवना का अनार्य जाति का कहा गया है।[7] मनु न इन्हे शूद्रो की स्थिति म पतित क्षत्रिय माना है।[8] गौतम के अनुसार यह शूद्र पुरुष एव क्षत्रिय नारी से उत्पन्न प्रतिलोम जाति है।[9] महाभारत म भी यवनो को अनार्यों के साथ उल्लिखित किया गया है।[10] अष्टाध्यायी म भी यवनो का

---

१ किराताजुनीयम १२।४० ४१ ४२ ४३।
२ यशस्तिलक प० २२०।
३ सम० क० ४ प० ३४८।
४ मनु० १०।४३ ४४।
५ महाभारत—सभापर्व ३२।१६ १७ उद्योग पर्व ४।१५ १९।२१ १६०। १०३ भीष्मपर्व २०।१३ द्रोण पर्व १२१।१३।
६ अष्टाध्यायी ४।१।१७५।
७ सम० क० ४ प० ३४८।
८ मनु० १०।४३ ४४।
९ गौतम ४।१७।
१० महाभारत सभापर्व ३२।१६ १७ वन पर्व २५४।१८ उद्योग पर्व १७।२१ भीष्मपर्व २०।१३ द्रोण पर्व ९३।४२ शान्ति पर्व ६५।१३।

उल्लेख है ।[1] मूलतः यवन शब्द ग्रीक लोगों के लिए प्रयुक्त होता था । इसकी उत्पत्ति आयोनियन से है । इस प्रकार प्रारम्भ में यह आयोनिया के ग्रीक लोगों का सूचक था किंतु बाद में समस्त ग्रीक जाति के लिए प्रयुक्त होने लगा ।[2] जैसा सर्व विदित है कि सिकन्दर ने सर्वप्रथम भारत में ग्रीक जाति का राजनीतिक अधिकार स्थापित किया था किंतु भारत में ग्रीक राज्य की स्थापना बैक्ट्रिया के इण्डोग्रीक राजाओं ने की थी । ऐसा प्रतीत होता है कि कालान्तर में जब ग्रीक लोगों की स्मृति शेष न रही यवन शब्द विदेशी मात्र के लिए रह गया ।

बर्बरकाय

इन्हें भी अनार्य जाति के अन्तर्गत गिनाया गया है[3] । महाभारत में भी बर्बरों को शक यवन शबर आदि अनार्यों की श्रेणी में गिनाया गया है ।[4] मेधातिथि ने बर्बरों को सवर्णभ्रान्ति का कहा है ।[5] अतः स्पष्ट होता है कि बर्बर तत्कालीन समाज में निम्न श्रेणी की उपेक्षित जाति समझी जाती थी, जो आचार विचार में भारतीय आर्य जातियों से कुछ भिन्न थी ।

मुरुण्डाड

समराइच्च कहा में इन्हें भी अनार्य जाति का बताया गया है ।[6] समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति में भी दैवपुत्र शाही शाहानुशाही-शक मुरुण्ड का उल्लेख है । कुछ विद्वानों की राय में शक-मुरुण्ड कथन में जाति का नाम जान पड़ता है जिसका तात्पर्य कुषाण उपाधिधारी राजा से भिन्न किसी राजा अथवा राज्य से है । उनका यह भी कथन है कि ये पश्चिमी भारत के शासक होंगे जो शकों के नाम से प्रसिद्ध हैं ।[7] परमेश्वरी लाल गुप्त के अनुसार इस सम्बन्ध में यह भी कहा जाता है कि मुरुण्ड शक शब्द है जिसका अर्थ स्वामी होता है और इस उपाधि का प्रयोग पहले शकों ने तत्पश्चात कुषाणों ने किया ।[8] स्टेनकोनो ने मुरुण्ड को

---

१ अष्टाध्यायी ४।१।४९ ।

२ जी० एस० घुर्ये—हूनिज्म इन ऐंशियण्ट इण्डिया पृ० २४० ।

३ सम० क० ४ पृ० ३४८ ।

४ महाभारत सभापर्व—३२।१६-१७, वन पर्व २५४।१८, भीष्म पर्व १२१।१३, अनुशासन पर्व ३५।१७, शान्ति पर्व ६५।१३ ।

५ मेधातिथि—मनु० १०।४ ।

६ सम० क० ४ पृ० ३४८ ।

७ परमेश्वरीलाल गुप्त—गुप्त साम्राज्य पृ० २६८ ।

८ वही पृ० २६० ।

कुषाण कहा है, विल्सन ने उन्हें हूणों की जाति बताया है और उसकी पहचान टालेमी कथित मुरुण्डाइ से की है सिल्वन लेवी ने उन्हें शक अथवा कुषाण बताने का प्रयत्न किया है। परमेश्वरी लाल गुप्त ने बताया है कि ईसा की प्रारंभिक शताब्दियों में गंगा के काँठे पर मुरुण्डों का एक शक्तिशाली राज्य था जो गुप्त साम्राज्य की सीमा से बहुत दूर न रहा होगा।[1] इन सभी उल्लेखों के आधार पर कहा जा सकता है कि समराइच्च कहा में उल्लिखित मरुण्ड एक विदेशी जाति थी जिसे हरिभद्र ने आर्येतर होने के कारण अनार्य जाति का बताया है।

गोंड

समराइच्च कहा में इन्हें शक मुरुण्ड की भाँति अनार्य जाति की श्रेणी में गिनाया गया है।[2] यह तत्कालीन समाज में एक निम्नकोटि की जाति समझी जाती थी जो नर्मदा तथा कृष्णा नदी के मध्यवर्ती विन्ध्य प्रदेश में निवास करती थी।[3]

आश्रम व्यवस्था

यद्यपि समराइच्च कहा में प्राचीन परम्परागत आश्रम व्यवस्था का क्रमिक चित्र प्रतिबिम्बित नहीं होता फिर भी मानव जीवन के क्रमिक विकास को दृष्टि में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि लोगों का जीवन चार अवस्थाओं में विभाजित था। आश्रम व्यवस्था जीवन के क्रमिक विकास की सीढ़ी या जिसे प्राचीन भारतीय मनीषियों ने व्यक्ति को उसके चरम लक्ष्य तक पहुँचने का एक प्रमुख साधन माना था। कुछ विचारकों के अनुसार यह व्यवस्था प्राचीन हिन्दुओं के व्यक्तिगत जीवन का प्राथमिक शिक्षा केन्द्र एवं अनुशासन की आधारशिला है।[4] आश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्ति को चार अवस्थाओं में से होकर गुजरना पड़ता था जिसे हम प्रशिक्षण की चार श्रेणी मान सकते हैं।[5] यह आश्रम व्यवस्था हर व्यक्ति को उसके अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचने के लिए जीवन यात्रा में विश्रामस्थल का कार्य करती है।[6] जीवन विकास की यात्रा में विश्रामस्थल का कार्य करने वाले इन आश्रमों की संख्या चार है—ब्रह्मचर्य

---

१ परमेश्वरीलाल गुप्त—गुप्त साम्राज्य पृ० २७०।
२ सम० क० ४, पृ० ३४८।
३ आप्टे—संस्कृत हिन्दी कोश।
४ प्रभु—हिन्दू सोशल आर्गनाइजेशन पृ० ७८।
५ वही पृ० ७८।
६ वही पृ० ८३।

गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। वशिष्ठ स्मृति में इन चारों आश्रमों को ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और परिव्राजक कहा गया है।[1]

समराइच्चकहा में इन चारों अवस्थाओं का क्रमिक उल्लेख नहीं है फिर भी कथा प्रसंग के आधार पर हम जीवन को चार श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं—कुमारावस्था,[2] गृहस्थाश्रम[3] तथा श्रमण[4] अर्थात् वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम। श्रमण धर्म में पत्नी के साथ प्रव्रज्या ग्रहण करना[5] वानप्रस्थ तथा अन्त में केवल ज्ञान की प्राप्ति के लिए श्मशान में तप, योग, नियम, संयम का विधान संन्यास आश्रम का प्रतीक है। यशस्तिलक में बाल्यावस्था को विद्याध्ययन का काल, यौवनावस्था को धनोपार्जन का काल तथा वृद्धावस्था को निवृत्ति का काल माना गया है।[6] आदि पुराण में ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा भिक्षुक ये चार आश्रम जीवन में उत्तरोत्तर अधिक विशुद्धि प्राप्त होने पर प्रतिपादित किये गये हैं।[7] सम्भवतः पुरुषार्थ चतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) की रचना ही इन चारों आश्रमों का आधार माना गया है।

ब्रह्मचर्य

समराइच्चकहा में जीवन की प्रथम अवस्था अर्थात् कुमारावस्था में शिक्षा-दीक्षा प्राप्त करने का उल्लेख है।[8] बच्चे का जन्म के पश्चात् कला, साहित्य, विज्ञान, दर्शनशास्त्र आदि की शिक्षा दी जाती थी। शिक्षा ग्रहण कर विवाह के पश्चात् कुमारावस्था का त्याग कर वह गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था।[9] मनु के अनुसार मनुष्य के जीवन का प्रथम भाग ब्रह्मचर्य आश्रम है जिसमें व्यक्ति गुरुकुल में रहकर अध्ययन करता है।[10] आपस्तम्ब धर्मसूत्र में भी गुरुगृह में रहने का

---

१ वशिष्ठ ७।२ (चत्वार आश्रमा ब्रह्मचारी गृहस्थवानप्रस्थ परिव्राजकाः)।
२ स० क० ६ पृ० ५०१, ८ पृ० ८०४।
३ वही पृ० १ १ १/१ ... ८० / पृ० ८०६।
४ वही १ पृ० १ ... २ पृ० १२० १२० ४ पृ० २८० ६ पृ० ५५७-५८ पृ० ६१४ ६१० / पृ० ८०१।
५ वही १ पृ० १ / पृ० ८०१।
६ यशस्तिलक पृ० १०८।
७ आदिपुराण ३९।१ २।
८ स० क० ८ पृ० ८०७।
९ वही ९ पृ० ८ / पृ० ८० ।
१० मनु० ४।१।

उल्लेख है।[1] गौतम ने चार आश्रमों में ब्रह्मचर्य आश्रम का उल्लेख किया है।[2] यशस्तिलक के अनुसार गुरु और गुरुकुल विद्याध्ययन की धुरी थे।[3] आदिपुराण में ब्रह्मचारी को भिक्षावृत्ति से जीवन निर्वाह करने का उल्लेख है। उसके लिए सिर के बाल का मुण्डन कराना भी आवश्यक बताया गया है जिससे मन, वचन और काया पवित्र रहे। अलबरूनी के अनुसार ब्रह्मचारी भिक्षा मांगता तथा उसे लाकर गुरु के सामने रखता था।[4] आठवीं शती में भोजदेव के दानपत्र में वासुदेव नामक ब्रह्मचारी का उल्लेख है।[5]

समराइच्च कहा में मात्र कौमारावस्था का ही उल्लेख है। जिसमें घर पर ही रह कर विद्याध्ययन करने का विधान था। यह काल प्रशिक्षण का काल था जिसमें हर व्यक्ति के लिए ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए शिक्षा दीक्षा ग्रहण करना आवश्यक समझा जाता था। किन्तु ब्रह्मचारी घर से दूर आश्रम में गुरु के पास ही रह कर गुरु की सेवा करते हुए शिक्षा ग्रहण करता था।

गृहस्थ आश्रम

कौमारावस्था के बाद विवाह संस्कार सम्पन्न होने पर व्यक्ति गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करता था।[6] गृहस्थ आश्रम में प्रविष्ट व्यक्ति को गृहपति कहा गया है।[7] मनु के अनुसार व्यक्ति अपने जीवन के दूसरे भाग में विवाह करके गृहस्थ हो जाता है और सन्तानोत्पत्ति करके पूर्वजों के ऋण से तथा यज्ञ आदि करके देवों के ऋण से मुक्ति पाता है।[8] आपस्तम्ब धर्म सूत्र तथा वशिष्ठ धर्म सूत्र में भी गृहस्थ आश्रम का उल्लेख है।[9] गौतम ने भी चार आश्रमों में गृहस्थ आश्रम

---

१ आपस्तम्ब धर्मसूत्र २।९।२१।१।

२ गौतम० ३।२।

३ यशस्तिलक पृ० ४३२ (न पुनरायु स्थितया इवानुपासित गुरुकुलस्यमतन वत्योऽपि सरस्वत्य)।

४ सचाऊ २ पृ० १३१।

५ एपि० इण्डि० ५ पृ० २१२।

६ सम० क० ८ पृ० ८०७।

७ वही ३ पृ० १७१ १८१ ५, पृ० ४४० ८ पृ० ८०६।

८ मनु० ४।१ ५।१६९।

९ आपस्तम्ब धर्मसूत्र २।९।२१।१ वशिष्ठ धर्मसूत्र ७।१ २।

का उल्लेख किया है।[1] मनु[2] वशिष्ठ[3] दक्ष[4] तथा विष्णु धर्मसूत्र[5] आदि ने गृहस्थाश्रम को सर्वश्रेष्ठ आश्रम माना है।

यशस्तिलक के उल्लेख से पता चलता है कि बाल्यावस्था या विद्याध्ययन के पश्चात् गार्हस्थ्य लिया जाता था तथा विधिवत गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया जाता था।[6] अग्निपुराण से पता चलता है कि विवाह हो जाने पर गृहस्थ अतिथि सत्कार, दान, पूजा, परोपकार आदि कार्यों को उत्साह पूर्वक सम्पन्न करता था।[7]

भारतीय परिकल्पना में गृहस्थ आश्रम को समाज सेवा का एक साधन माना गया है। गृहस्थाश्रम पर ही अन्य तीनों आश्रमों का अस्तित्व निर्भर है।[8]

वानप्रस्थ

समराइच्चकहा में गृहस्थाश्रम की सांसारिकता से ऊब कर पत्नी के साथ गुरु के समीप प्रव्रज्या ग्रहण करने का उल्लेख है।[9] पत्नी के साथ प्रव्रज्या ग्रहण कर श्रमण धर्म का पालन इस बात का सूचक है कि हरिभद्रसूरि के काल में भी वानप्रस्थाश्रम का प्रचलन था। कहीं-कहीं तो गृहस्थाश्रम की श्रमणत्व से हीन सांसारिक लोग अपने भी (पत्नी से विरक्त होकर) प्रव्रजित हो जाते थे।[10]

आपस्तम्ब धर्मसूत्र तथा वशिष्ठ धर्मसूत्र में वानप्रस्थ आश्रम का उल्लेख है।[11] मनुस्मृति के अनुसार व्यक्ति अपने सिर पर सफेद बाल तथा शरीर पर झुर्रियाँ देख कर उसे वानप्रस्थ हो जाना चाहिए।[12] मनु ने वानप्रस्थी को नाखून दाढ़ी एवं बाल रखने का विधान बताया है।[13] जैन ग्रन्थ आदिपुराण में भी

---

१ गौतम० ३।२।
२ मनु० ६।८९, ३।७७-८०।
३ वशिष्ठ धर्मसूत्र ८।१४, १७
४ दक्षस्मृति २। ६।
५ विष्णु धर्मसूत्र ५९।२९।
६ यशस्तिलक पृ० २२७।
७ अग्निपुराण १।१२४।२-२६।
८ प्रभु—हिन्दू सोशल आर्गनाइजेशन, पृ० ८६।
९ सम० भ० १ पृ० १५, २ पृ० १२०, भ० ८ पृ० ८०९।
१० वही ८ पृ० ७८०, ६ पृ० ५६३, ५८८, ७ पृ० ६१४, ६२०।
११ आपस्तम्ब धर्मसूत्र २।९।२१।१; वशिष्ठ धर्मसूत्र ७।१, २।
१२ मनु० ६।२।
१३ मनु० ६।६।

वानप्रस्थ आश्रम को जीवन की उत्तरोत्तर शुद्धि के लिए आवश्यक बताया गया ह। जिसमें घर छोडकर क्षुल्लक एव ऐल्क व्रतों द्वारा अपनी आत्मा की शुद्धि की जाती थी।[१] व्रत नियम सयम आदि के द्वारा आत्मसाधना के योग्य बनाना ही वानप्रस्थ आश्रम की उपादेयता थी।

सन्यास

धमशास्त्रीय परम्परा के अनुसार वानप्रस्थ के पश्चात सन्यास आश्रम ग्रहण करने का विधान है जिसमें व्यक्ति पत्नी को भी त्याग कर एकात स्थान में तप, यज्ञ, हवन-पूजन आदि विधान द्वारा मोक्ष प्राप्ति का यत्न करता है। समराइच्च कहा में जैनाचार के आधार पर श्रमण धम का पालन करने का विधान बताया गया है।[२] इस श्रमणाचार को सन्यास आश्रम से जोडा जा सकता ह जिसमें व्यक्ति श्रमण धम का पालन करते हुए जीवन के अन्तिम चरण में केवल ज्ञान (मोक्ष) प्राप्त करने का यत्न करता था।

मनुस्मृति में चारों आश्रमों का उल्लेख ह जिसमें चौथे आश्रम को सन्यास कहा गया ह।[3] वशिष्ट धमसूत्र में चौथे और अतिम आश्रम को 'परिव्राजक कहा गया ह।[४] जन ग्रन्थ आदि पुराण में चतुथ आश्रम को भिक्षुक नाम दिया गया ह।[५] इसमें मुनि दीक्षा सम्पन्न की जाती थी और सासारिक बन्धनों के साथ कम बन्धन को तोडने के लिए पूण सयम का पालन किया जाता था। यशस्तिलक के अनुसार वृद्धावस्था में समस्त परिग्रह का त्याग कर सन्यास लेना आवश्यक था।[६] इस आश्रम में चतुर्थ पुरुषाथ (मोक्ष) की साधना करना आवश्यक बताया गया ह।[७] महाशिव गुप्त के ताम्रपत्र अभिलेख में उल्लिखित ह कि सन्यासियों के रहने एव ठहरने का कोई निश्चित स्थान नही था।[८]

हरिभद्रसूरि के काल में सन्यास आश्रम को जीवन के अन्तिम लक्ष्य (मोक्ष) की प्राप्ति का साधन माना गया ह। समराइच्च कहा में उल्लिखित श्रमण आचाय की तुलना स्मृतिकालीन सन्यासियों से की जा सकती ह। यद्यपि इन दोनों

१ अग्नि पुराण ३९।१५२।
२ सम० क० ६ पृ० ५६७ ५६८, ७ पृ० ६२९।
३ मनु० ६।९६।
४ वशिष्ठ धमसूत्र ७।१ २।
५ आदिपुराण ३९।१५२।
६ यशस्तिलक पृ० १९८।
७ वही पृ० २८४।
८ ओरियन्टल कान्फरेन्स, बनारस ३, पृ० ५९६।

की दैनिक चर्या में अन्तर है फिर भी दोनों का लक्ष्य एक ही है अर्थात् मोक्ष प्राप्त करना।

संस्कार

संस्कार (सम्-कृ घञ्) शब्द का अर्थ सुसंस्कृत करना अर्थात् पुनीत कृत्यों द्वारा (शरीर और मन की) शुद्धि करना है।[1] डा० राजबली पाण्डेय के अनुसार संस्कार शब्द का अधिक उपयुक्त पर्याय अंग्रेजी का सैक्रामेंट है जिसका अर्थ धार्मिक विधि विधान अथवा कृत्य से है जो आंतरिक तथा आत्मिक सौन्दर्य का बाह्य तथा दृश्य प्रतीक माना जाता है और जिसका व्यवहार प्राच्य, प्राक् सुधार कालीन पाश्चात्य तथा रोमन कैथोलिक चर्च बपतिस्मा, सम्पुष्टि (कन्फर्मेशन) यूखारिस्त व्रत (पीनान्स) अभ्यञ्जन (एक्स्ट्रीम अंक्शन), आदेश तथा विवाह के सत्कृत्यों के लिए करते थे।[2] संस्कार उसे कहते हैं जिसके होने से कोई पदार्थ या व्यक्ति किसी कार्य के योग्य हो जाता है।[3] तन्त्रवार्तिक के अनुसार संस्कार वे क्रियायें तथा रीतियां हैं जो योग्यता प्रदान करती हैं। यह योग्यता दो प्रकार की होती है पाप मोचन से उत्पन्न योग्यता तथा नवीन गुणों से उत्पन्न योग्यता।[4] डा० राजबली पाण्डेय ने संस्कार के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए बताया है कि संस्कार मानव जीवन के परिष्कार और शुद्धि में सहायक होते हैं। व्यक्तित्व के विकास में योगदान करते हैं तथा मनुष्य के शरीर को पवित्र करते हैं। इतना ही नहीं वरन् वे मनुष्य की समस्त भौतिक तथा आध्यात्मिक महत्त्वाकांक्षाओं को गति प्रदान करते हैं और उसे जटिलताओं तथा समस्याओं के संसार से मुक्ति दिलाते हैं।[5] अतः व्यक्ति के विकास के लिए यह आवश्यक माना गया है। संस्कार मानो दिशा का कार्य करते हैं जो आयु के बढ़ने के साथ साथ व्यक्ति के जीवन को एक निर्दिष्ट दिशा की ओर ले जाते हैं।

समराइच्चकहा में चार संस्कारों का उल्लेख है—जन्मोत्सव[6] (जात कर्म) नामकरण[7] विवाह संस्कार[8] तथा अन्त्येष्टि क्रिया।[9] स्मृतियों में संस्कारों का

---

१ आप्टे—संस्कृत हिन्दी कोश पृ० १०५१।
२ राजबली पाण्डेय—हिन्दू संस्कार पृ० १७।
३ पा० वा० काणे—धर्मशास्त्र का इतिहास भाग १ पृ० १७६।
४ वही पृ० १७९।
५ राजबली पाण्डेय—हिन्दू संस्कार पृ० ३५१।
६ सम० क० ३ पृ० १८५।
७ वही ६ पृ० ४९८ ७ पृ० ६०६ ६०७ ८ पृ० ७३८।
८ वही ? पृ० ९१ १०१ ७ पृ० ६३३ ६०५ ८ पृ० ७६५ ९ पृ० ९०१।
९ वही ? पृ० १३४ १० ८, पृ० २६० ६ पृ० ५८३ ७ पृ० ७१९।

सख्या भिन्न भिन्न दी गयी है। गौतम ने चालीस संस्कारों का वर्णन किया है जिनमें गर्भाधान पुसवन सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण अन्नप्राशन, चौल उपनयन आदि मुख्य हैं।[1] व्यास ने गर्भाधान से अन्त्येष्टि[2] तक १६ संस्कार गिनाए हैं—गर्भाधान पुंसवन सीमन्त, जातकर्म नामकरण अन्नप्राशन चौल, मौञ्जी (उपनयन) व्रत (चार), गोदान, समावर्तन विवाह एव अन्त्येष्टि।[3] आदि पुराण में संस्कार का तीन वर्गों में विभक्त किया गया है यथा—गर्भान्वय-क्रिया दीक्षान्वय क्रिया तथा क्रियान्वय क्रिया।[4] वासुदेव उपाध्याय ने शिला लेखा के आधार पर उच्च वर्ग के लोगों में चार प्रकार के संस्कारों का प्रचलन बताया है ये हैं जातकर्म (जन्मोत्सव) नामकरण, विवाह तथा श्राद्ध संस्कार।[5]

जातकर्म

समराइच्च कहा में पुत्र जन्मोत्सव का उल्लेख है। किन्तु उसकी विधि आदि का विवरण नहीं दिया गया है। पुत्र जन्म के समय नाना प्रकार की वधाइयाँ तथा दान आदि वितरित किये जाते थे और नृत्य-गान आदि के साथ पुत्र का जन्माभ्युदय मनाया जाता था।[6] तैत्तिरीय संहिता में उल्लिखित है कि जब किसी का पुत्र उत्पन्न हो तो उसे १२ विभिन्न पात्रों में पकी हुई रोटी की बलि वैश्वानर को देनी चाहिए। वह पुत्र जिसके लिए यह कर्म किया जाता था पवित्र गौरव तथा धन धान्य से परिपूर्ण होता है।[7] बृहदारण्यक उपनिषद में जातकर्म संस्कार को ६ भागों में बाँटा गया है—(१) दही एव घृत का मंत्रों के साथ होम, (२) बच्चे के दाहिने कान में 'वाक्' शब्द को तीन बार कहना, (३) सुनहले चम्मच या शलाका से बच्चे को दही मधु एव घृत चटाना, (४) बच्चे का एक गुप्त नाम देना (५) बच्चे को मा के स्तन पर रखना, (६) माता को मंत्रों द्वारा सम्बोधित करना।[8] जातकर्म का उल्लेख अन्य स्मृतियों में भी किया गया है।[9]

---

१ गौतम० ८।१४ २४।

२ व्यासस्मृति १।१४ १५।

३ द्रष्टव्य—पी०वी० काणे—धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १ पृ० १७८।

४ आदिपुराण ३८।४७ ३८।५२।

५ वासुदेव उपाध्याय—सोसिओ रिलिजस कन्डीशन आफ नार्दन इण्डिया पृ० १४०।

६ सम० ३, पृ० १८५।

७ तैत्तिरीय संहिता २।२।५।३ ४।

८ बृहदारण्यक उपनिषद ६।४।२४ २८।

९ व्यास स्मृति १।१४ १५ गौतम० ८।१४।

नामकरण

समराइच्चकहा में जातकर्म के पश्चात् नाना प्रकार की खुशियाँ एवं उत्सवों के साथ जन्म के एक मास पश्चात् पुत्र का नामकरण संस्कार सम्पन्न किये जाने का उल्लेख है।[1] कभी-कभी गर्भावस्था में माता के द्वारा देखे गए स्वप्न के आधार पर[2] तो कभी गुरुजनों द्वारा नामकरण करने की बात कही गयी है[3]। किन्तु यहाँ समराइच्चकहा में नामकरण के समय के विधि विधान का उल्लेख नहीं है। शतपथ ब्राह्मण में जन्म के दिन नाम रखने की व्यवस्था है।[4] मनुस्मृति में दसवें या बारहवें दिन अथवा कोई शुभ तिथि नामकरण के लिए ठीक मानी गई है।[5] याज्ञवल्क्य ने जन्म के ग्यारहवें दिन नामकरण की व्यवस्था की है।[6] गहड़वाल वंशीय राजा जयचन्द्र के एक दान-पत्र में पुत्र के नामकरण का उल्लेख है।[7] वासुदेव उपाध्याय के अनुसार अभिलेखों के आधार पर यह संस्कार पुत्र जन्म के उन्नीस दिन पश्चात् सम्पन्न किया जाता था।[8] इस प्रकार धर्म शास्त्रों तथा पूर्व मध्यकाल में नामकरण की विधि आदि पर मतभेद दिखलाई पड़ता है।

बौधायन पारस्कर गोभिल एवं महाभाष्य आदि के अनुसार बच्चे का नाम पिता के किसी पूर्वज का होना चाहिए।[9] मनु के अनुसार सभी वर्णों के नाम शुभसूचक शक्तिद्योतक एवं शान्तिसूचक होना चाहिए।[10] धर्मशास्त्रकारों के अनुसार गोद में बच्चे को रखकर माता अपने पति के दाहिने बैठती है। कुछ लोगों के मत से माता ही गुह्य नाम देती है और धान की भूसी को काँसे के बर्तन में छिड़क कर सोने की लेखनी से श्री गणेशायनमः लिखने के पश्चात् बच्चे के चार नाम लिखती है यथा—कुल देवता, मास नाम, व्यावहारिक नाम तथा

---

१ सम० क० ४ पृ० ४०, ७ पृ० ०६३, ८ पृ० ७३८।
२ वही २, पृ० ७३, ४ पृ० ८६२।
३ वही ८ पृ० ८०४।
४ शतपथ ब्राह्मण ६।१।३।९।
५ मनु० २।३०।
६ याज्ञवल्क्य स्मृति १।१२।
७ इंडियन एंटीक्वेरी १८ पृ० १२९ ३४।
८ वासुदेव उपाध्याय—सोशियो रिलिजस कंडीशन आफ नार्थ इंडिया पृ० १४२।
९ पा०वा० काणे—धर्मशास्त्र का इतिहास भाग १ पृ० १९८।
१० मनु० २।३१-३२।

नक्षत्र नाम । अतः यहाँ माता द्वारा नामकरण का संकेत प्राप्त होता है। किन्तु समराइच्च कहा में गुरुजनों द्वारा नाम रखने की बात कही गयी है।[1]

विवाह संस्कार

अन्य संस्कारों के साथ-साथ विवाह संस्कार को भी पवित्र कर्म माना जाता था। समराइच्च कहा में विवाह को यज्ञ स्वरूप बताया गया है।[2] विवाह की पवित्रता तथा पति-पत्नी के आदर्श एवं स्थायी सम्बन्ध के लिए दान, पूजा-हवन एवं पाणिग्रहण आदि क्रिया विधि का यथावत सम्पादन किया जाता था।[3] गृहस्थाश्रम में प्रवेश पाने के लिए विवाह संस्कार ही आवश्यक कृत्य माना जाता था। समराइच्च कहा में विवाह का उद्देश्य कुशल गृहस्थ बनकर लोकधर्म का पालन करना, कुशल संतति पैदा करना, परोपकार तथा कुल परम्परागत कार्यों को क्रियान्वित करना आदि बताया गया है।[4]

ऋग्वेद में विवाह का उद्देश्य गृहस्थ होकर देवों के लिए यज्ञ करना तथा सन्तानोत्पत्ति करना था।[5] शतपथ ब्राह्मण में उल्लिखित है कि पत्नी-पति की अर्धांगिनी है इसलिए जब तक वह विवाह नहीं करता, तब तक पूर्ण नहीं है।[6] मनुस्मृति के उल्लेख से स्पष्ट होता है कि पत्नी पर पुत्रोत्पत्ति, धार्मिक कृत्य, सेवा, सर्वोत्तम आनन्द, अपने तथा अपने पूर्वजों के लिए स्वर्ग की प्राप्ति निर्भर रहती है।[7] अतः स्पष्ट है कि गृहस्थ जीवन के लिए वेद, ब्राह्मण तथा स्मृतियों में भी विवाह का आवश्यक कृत्य माना गया है। स्मृतियों में अग्नि, देव और द्विज को साक्षी देकर वर-कन्या का पाणिग्रहण संस्कार सम्पन्न किये जाने का विधान है।[8]

गृहस्थाश्रम अन्य आश्रमों की अपेक्षा श्रेष्ठ माना गया है। और उस गृहस्थ आश्रम में प्रवेश पाने के लिए विवाह अत्यन्त आवश्यक माना जाता था जिसे एक पवित्र संस्कार बताया गया है।

---

१ पी०वी० काणे—धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० २०१।

२ सम० क० ७, पृ० ६३५ ९, पृ० ९०१।

३ वही २ पृ० ९३ से पृ० १०१, ४, पृ० ३३९ ४०, ७ पृ० ६३३-३४ ३५ ८ पृ० ८६५ ६६ ६७, ९, पृ० ८९९ १०१।

४ सम० क० ९ पृ० ८९५।

५ ऋग्वेद १०।८५।३६ ५।३।२ ५।२८।३।

६ शतपथ ब्राह्मण ५।२।१।१०।

७ मनुस्मृति ९।२८ देखिए—याज्ञवल्क्य स्मृति १।७८।

८ व्यास स्मृति २।२ वशिष्ठ स्मृति १।२ नारदस्मृति ४।१।

मृतक सस्कार

अतिम सस्कार मृतक सस्कार था। श्मशान भूमि पर मृतक के शव दाह के साथ अन्त्यष्टि क्रिया सम्पन्न की जाती थी।[1] समराइच्च कहा में एक अन्य स्थान पर मृतक आत्मा की शान्ति के लिए ब्राह्मणो को भोजन कराये जाने तथा दान हवन आदि विविध कृत्या के साथ अन्त्येष्टि क्रिया सम्पन्न किये जाने का उल्लेख है।[2] मृतकों के सुख एव उसकी आत्मा की शाति के लिए और्ध्वदहिक क्रिया भी सम्पन्न की जाती थी जिसमें काला अगरु लवग, चदन तथा काष्ठ आदि से सत्कार किया जाता था और दान वितरित किया जाता था।[3] स्मृतियो में भी अन्त्यष्टि क्रिया सम्पन्न किये जाने का उल्लेख है।[4] पूर्व मध्य कालीन अभिलेखो में मृतक सस्कार के अन्तगत श्राद्ध क्रिया का उल्लेख है।[5] यह श्राद्ध क्रिया मृतकों के भावी कल्याण के लिए प्रतिवर्ष मनाया जाता था।[6] हिन्दुओ की अन्त्येष्टि क्रिया का अन्तिम भाग पिण्डदान है। इस पिण्ड दान के समय प्राचीन काल में मृतक की आत्मा की शान्ति के लिए ब्राह्मणों को भोजन तथा दान दिया जाता था।[7]

विवाह

समराइच्च कहा में कुशल गृहस्थ जीवन के लिए विवाह को एक आवश्यक एव पवित्र कृत्य माना गया है जिसके महत्व एवं उपयोगिता का उल्लेख सस्कारो की श्रेणी में किया गया है। यहाँ वर-कन्या के विवाह के पूर्व निम्नलिखित योग्य ताओ को आवश्यक बताया गया है।

वय और रूप यौवन

समराइच्च कहा में विवाह के पूर्व वर-कन्या के निर्वाचन में समान रूप और समान आयु का होना आवश्यक बताया गया है।[8] पति-पत्नी के भावी प्रेम के लिए समान आयु और समान रूप का होना वाछनीय है क्योंकि पति-पत्नी के प्रेम के अभाव में गृहस्थ जीवन में सहयोग की भावना नहीं पनप सकती। यहाँ

---

१ सम० क० २ पृ० १२९ ३० ४ पृ० २६०।
२ वही ६ पृ० ५८३ ७ पृ० ७११।
३ वही ४ पृ० ३१०।
४ मनुस्मृति २।१६ याज्ञवल्क्य स्मृति १।१०।
५ इपि० इडि० २ पृ० ३१०—समप्रश्रद्धया श्राद्ध विधाय।
६ वही ४ पृ० १०५ १२८—सम्वत्सरिक पार्वणि श्राद्ध।
७ राजबली पाण्डेय—हिन्दू सस्कार पृ० ३०६।
८ सम० क० ४, पृ० २३५।

अनमेल विवाह से बचने के लिए हरिभद्र ने समान वय का आवश्यक बताया है। पति-पत्नी के आपसी सहयोग के बिना लोक धर्म का पालन संभव नहीं है। स्मृतियों में उल्लिखित है कि कन्या को वर से अवस्था में छोटी होनी चाहिए।[1] मनु एवं याज्ञवल्क्य ने बताया है कि विवाह के लिए कन्या को शुभ लक्षणों वाली होनी चाहिए और उनके अनुसार शुभ-लक्षण दो प्रकार के होने चाहिए बाह्य (शारीरिक लक्षण) एवं आभ्यंतर।[2] हिन्दू धर्मशास्त्रों में कन्या के युवा होने के पूर्व ही विवाह कर देना उचित बताया गया है। स्मृतियों में कन्या के रजस्वला हो जाने के पूर्व ही उसका विवाह न करने वाले अभिभावकों को अत्यन्त पाप का भागी माना गया है।[3] भवभूति ने भी उत्तर राम चरितम में कन्या के अल्पायु में ही विवाह किये जाने का संकेत किया है।[4] जैन ग्रन्थ आदि पुराण में वय और रूप यौवन विवाह निर्वाचन के लिए प्रथम गुण स्वीकार किये गये हैं।[5] सोमदेव ने यशस्तिलक में बारह वर्ष की कन्या और सोलह वर्ष के युवक को विवाह के योग्य बताया है।[6] अलबरूनी ने भी लिखा है कि हिन्दू लोग बारह वर्ष से अधिक आयु की कन्या से विवाह करना उचित नहीं मानते थे।[7]

विभव

समराइच्च कहा में विवाह द्वारा दो परिवारों के बीच सुसम्बन्ध के लिए समान विभव अर्थात वैभव (धन सम्पत्ति) को आवश्यक बताया गया है।[8] महाभारत में भी विवाह के समय वर-कन्या के लिए बराबर धन (वैभव) तथा विद्या पर विशेष बल दिया गया है।[9] भारद्वाज गृह्यसूत्र में कन्या के विवाह के समय धन, सौन्दर्य, बुद्धि एवं कुल इन चार बातों को देखना आवश्यक बताया गया है।[10] यम ने वर के लिए कुल, शक्ति, वपु (शरीर) यश, विद्या, धन एवं सनाथता (सम्बन्धी एवं मित्र लोगों का आलंबन) इन सात गुणों को गिनाया

---

१ गौतम० ४।१ वशिष्ठ० ८।१ याज्ञवल्क्य स्मृति १।५२।
२ मनु० ३।४ याज्ञवल्क्य० १।५२।
३ पराशर स्मृति २।७, शंख स्मृति १५।८।
४ उत्तरराम चरितम १।२०।
५ आदिपुराण १५।६९ तथा ६३४।
६ यशस्तिलक पृ० ३१७।
७ सचाऊ २ पृ० १३१।
८ सम० क० ४ पृ० २३५।
९ महाभारत आदि पर्व १३१।१० उद्योग पर्व ३३।११७।
१० भारद्वाज गृह्यसूत्र १।११।

लेने पर कन्या तीन वर्ष[1] या तीन मास[2] जोह कर स्वयंवर का वरण कर सकती है। याज्ञवल्क्य के अनुसार पितहीन तथा अभिभावक हीन कन्या स्वयं योग्य वर का वरण कर सकती है।[3] समराइच्चकहा की ही भाँति यशस्तिलक में भी उल्लिखित है कि स्वयंवर मंडप में जन समुदाय उपस्थित होता था तथा कन्या हाथ में वरमाला लिए मंडप में प्रवेश करती और अपनी रुचि के अनुसार किसी योग्य व्यक्ति के गले में जयमाला डाल देती थी।[4] इस प्रकार पति के निर्वाचन के पश्चात शुभ मुहूर्त में विवाह संस्कार सम्पन्न किया जाता था। इस प्रथा के अनुसार कन्या को अपने भावी पति के चयन की पूर्ण स्वतन्त्रता थी। उपरोक्त उल्लेखों से स्पष्ट होता है कि स्वयम्वर प्रथा का प्रचलन अधिकतर राजघराना में ही था। स्वयम्वर के आयोजन का पूरा उत्तरदायित्व कन्या पक्ष वालों पर ही होता था।

प्रेम विवाह

समराइच्च कहा में प्रेम विवाह का भी उल्लेख प्राप्त होता है। कन्या और पुरुष द्वारा परस्पर अवलोकन मात्र से ही रूप गुण यौवन आदि के प्रति आकर्षण वश प्रेम स्रोत प्रवाहित हो जाता था। परिणामत यही प्रेम धीरे धीरे वृद्धिगत होकर विवाह के रूप में परिणत हो जाता था।[5] महाभारत में अर्जुन और सुभद्रा के प्रेम विवाह का उल्लेख है।[6] मनुस्मृति में वर और कन्या की परस्पर सम्मति से जो प्रेम की भावना के उद्रेक का प्रतिफल हो तथा सम्भोग जिसका उद्देश्य हो, उस विवाह को गान्धर्व विवाह कहा गया है।[7] कादम्बरी में भी कादम्बरी और चन्द्रापीड का विवाह प्रेम विवाह का ही प्रतिफल है।[8] प्रेम विवाह के आधार पर पति-पत्नी के जीवन में परस्पर प्रेम, सहयोग एवं सहकारिता आदि की भावना बढ़ती है।

---

१ बौधायन धर्मसूत्र ४।१।१३ मनु० ९।९०।
२ गौतम० १८।२०, विष्णु धर्मसूत्र २५।४० ४१।
३ याज्ञवल्क्य स्मृति, ११६४।
४ यशस्तिलक पृ० ७९ ४७८, ३५८ उत्त० देखिए—दी ऐज आफ इम्पीरियल कन्नौज पृ० ३७६।
५ सम० क० द्वितीय एवं सप्तम् भव की कथा तथा ९, पृ० ८९५।
६ महाभारत—आदि पर्व २१९।२२।
७ मनु० ३।२७-३४।
८ कादम्बरी पृ० ४१३, देखिए—उपमितिभवप्रपंचा कथा पृ० २५३।

परिवार द्वारा विवाह

समराइच्च कहा में वरान्वेषण की प्रथा का भी उल्लेख प्राप्त होता है।[1] विवाह के योग्य हो जाने पर कन्या के माता पिता द्वारा उसके योग्य रूप तथा कलाओं आदि में निपुण वर की खोज की जाती थी। कन्या के योग्य वर की प्राप्ति होने पर शुभ लग्न मुहूर्त में विवाह क्रिया सम्पन्न की जाती थी। वरान्वेषण कार्य में धात्री और पुरोहित का कार्य महत्त्वपूर्ण था। मनुस्मृति में ब्राह्म विवाह की व्याख्या करते हुए बताया गया है कि जिस विवाह में बहुमूल्य अलंकारों और परिधानों से सुसज्जित, रत्नों से मंडित कन्या पंडित एवं सुचरित्रवान व्यक्ति को निमंत्रित कर (पिता द्वारा) दी जाती है उसे ब्राह्म विवाह कहते हैं।[2] यशस्तिलक में भी उल्लिखित है कि वरान्वेषण क्रिया में धात्री और पुरोहित का कार्य महत्त्व का होता था।[3] अतः स्पष्ट है कि प्राचीन काल में परिवार द्वारा वरान्वेषण करके शुभ लग्न मुहूर्त में जो विवाह क्रिया सम्पन्न की जाती थी उसे हम ब्राह्म विवाह के अन्तर्गत मान सकते हैं। इसे समराइच्च कहा में यज्ञ स्वरूप कहा गया है।

विवाह विधि

भारतीय सामाजिक व्यवस्था में विवाह क्रिया को एक पवित्र संस्कार माना गया है। गृहस्थ आश्रम की सफल भूमिका निभाने के लिए हर व्यक्ति का विवाह सूत्र में बंधना परम आवश्यक समझा जाता था। समराइच्च कहा में तो विवाह क्रिया को यज्ञ क्रिया का सा महत्त्व दिया गया है।[4] हरिभद्र ने समराइच्च कहा में विवाह विधि का सांगोपांग वर्णन किया है[5] जिसका विश्लेषण हम अधोलिखित ढंग से कर सकते हैं।

दान क्रिया

समराइच्च कहा में विवाह के अवसर पर मांगलिक वाद्य, नृत्य आदि के साथ याचकों को दान दिये जाने का उल्लेख है। शांखायन धर्मसूत्र में ब्राह्मणों के लिए एक गाय, राजा महाराजा के विवाह में एक ग्राम, वैश्य के विवाह में एक

---

१ सम० क० ७ पृ० ७१९।

२ मनु० ३।२७ ३८।

३ यशस्तिलक पृ० ३५० ५१ उत्त०।

४ सम० क० ७ प० ६३५, ९, पृ० ९०१।

५ वही प० ९३ १०१, ४ प० ३३९ ४० ७ प० ६३३ से ३५ तक, ८ प० ७६५ ६७, तथा ९ प० ८९९ ९०१।

घाडे का दक्षिणा दान देना उचित बताया गया ।[१] बौधायन घमसूत्र में धवल एक गाय दान देने की बात कही गयी ह ।[२] अत विवाह के समय दान दने की प्रवृत्ति घम शास्त्रों में भी दखने को मिलती ह । आग्निपुराण में भी विवाह के अवसर पर दान क्रिया का उल्लेख है ।[३]

शुभ दिन निर्धारण

ज्यातिषियो द्वारा विवाह क्रिया सम्पन्न करने के लिए शुभ दिन का निर्धारण किया जाता था । हषचरित में भी विवाह के लिए शुभ मुहूत निर्धारित करने का उल्लेख ह ।[४]

वर-वधू का अग प्रसाधन

विवाह क्रिया सम्पन्न होने से पूर्व वर-वधू को सुगन्धित पदार्थों का लेप किया जाता था । तत्पश्चात लाल-वस्त्र पहने हुए युवतियों द्वारा दूर्वाकुर दधि अक्षत आदि छिड़का जाता था । मानव धमसूत्र में वर-वधू के परिधान एव सग्रहन का उल्लेख ह ।[५] शाखायन धमसूत्र में वर-वधू के लिए उबटन लगाने का उल्लेख है ।[६] आग्नि पुराण में उल्लिखित ह कि वर-वधू उज्ज्वल सूक्ष्म एवं रेशमी वस्त्र धारण करते थे । परिधान धारण करने के पश्चात उन्हें प्रसाधन गृह में ले जा कर अलकृत किया जाता था ।[७]

मजन क्रिया

वर-वधू को विवाह मडप में ले जाने के पूव सुवण कलशों में भर सुगन्धित जल से स्नान कराया जाता था । आग्निपुराण में उल्लिखित ह कि वर-वधू को आंगन में बैठाया जाता था तत्पश्चात विधि विधान जानने वाले लोग कलशों में भरे पवित्र जल स वर-वधू का अभिषेक करते थे । उस समय शख ध्वनि की जाती थी तथा मंगल वाद्य बजाए जाते थे ।[८]

---

१ शांखायन धमसूत्र १।१४।१३ १७ ।
२ बौधायन धमसूत्र १।४।३८ ।
३ आग्निपुराण ७।२६८-७० ।
४ हषचरित ४ पृ० १४५ ।
५ मानव धमसूत्र १।११।४ ६ ।
६ शांखायन धमसूत्र १।१३।५ ।
७ आग्निपुराण ७।२२२ २३१ ।
८ वही ७।२२२ २३१ ।

पुरोहित द्वारा पुष्पक्षेपण

पाणिग्रहण के पूव पुराहित द्वारा सौभाग्य वृद्धि के लिए स्वस्ति क्रिया के पश्चात मागलिक पुष्पक्षेपण किया जाता था। आदिपुराण में भी उल्लिखित है कि पुरोहित के द्वारा पुष्पक्षेपण के साथ-साथ अभिषेक सस्कार किया जाता था। तदनन्तर वारागनाएँ, कुलवधुएँ और समस्त नगरवासी जन वर-वधू को आशीर्वाद देकर पुष्प एव अक्षतों का क्षपण करते थे।[1]

नख-छेदन

समराइच्च कहा में अन्य कर्मों के साथ-साथ नाई द्वारा नहछू कम भी सम्पन्न करने का उल्लेख है।

वधू अलकरण

विवाह मडप में जाने से पूव वधू को नाना प्रकार के अग प्रसाधन सामग्रियों तथा अलकरणों द्वारा अलकृत किया जाता था। पैरा में लाक्षारस (महावर), अधर रजित करना, नेत्रों में अजन, मस्तक पर तिलक, स्तन युगल पर पत्र लेखन, केश प्रसाधन परों में नूपुर अगुलियों में मुद्रिका, नितम्बों पर मणि-मेखला बाहु माला स्तनों पर पद्मराग मणि जटित वस्त्र, मुक्ताहार, कर्णाभूषण और मस्तक पर चूडा मणि आदि प्रसाधना तथा अलकरणों द्वारा वधू का अलकृत करने का उल्लेख ह। शाखायन धमसूत्र में वधू के हाथ में कगन बाँधने का उल्लेख ह।[2] आदिपुराण में भी उल्लिखित ह कि वधू को प्रसाधन गृह में ले जाकर विवाह मगल के याग्य उत्तम आभूषणों से अलकृत किया जाता था। ललाट पर चदन-कुकुम का तिलक लगाया जाता था वक्षस्थल पर श्वेत लेप गले में मुक्ता के हार, केशा में पुष्पमालाएँ, कानो में कर्णाभूषण तथा कमर में क्षुद्र घटिकाओं से जटिल करधनी आदि आभूषणा से अलकृत किया जाता था।[3]

वर अलकरण

समराइच्च कहा में वधू के साथ-साथ वर को भी नाना प्रकार के अलकरणों से अलकृत किये जाने का उल्लेख है।

मडपकरण

विवाह क्रिया का सम्पादन मडप में किया जाता था। समराइच्च कहा में

---

१ आदि पु० ७।२२२ २३३।
२ शाखायन धमसूत्र १।१२।६-८।
३ आदिपुराण ७।२२२ २३३।

विवाह मंडप को मणिमुक्ता आदि से सजाये जाने का उल्लेख है। धर्मशास्त्र में भी मंडपकरण का उल्लेख है। पारस्कर गृह्यसूत्र में उल्लिखित है कि विवाह, चौल, उपनयन, केशान्त एवं सीमान्त आदि घर के बाहर मंडप में करना चाहिए।[1] अग्निपुराण में भी मंडपकरण का सांगोपांग वर्णन मिलता है। मंडप का निर्माण बहुमूल्य पदार्थों द्वारा किया जाता था। मांगलिक द्रव्यों के साथ सौंदर्यवर्धक पदार्थों का भी उपयोग किया जाता था। विवाह मंडप के स्तम्भ स्वर्ण मणि मुक्ताओं से रचित होते थे और उनके नीचे रत्नों से शोभायमान बड़े-बड़े कुम्भ लगे रहते थे। उस मंडप की दीवालें स्फटिक की बनी होती थीं जिसमें लोगों के प्रतिबिम्ब झलकते थे। मंडप की भूमि नीले रत्नों से बनायी जाती थी और उस पर पुष्प बिखरे रहते थे। मंडप के भीतर मोतियों की मालायें लटकती रहती थीं तथा मध्य में वेदी बनायी जाती थी। उस वेदी को अपने वैभव के अनुसार पाषाण, मृत्तिका या मणियों आदि से निर्मित किया जाता था। उस मंडप के पर्यन्त भाग में चूना से पुते हुए श्वेत शिखर शोभित होते थे। मंडप के सभी ओर एक छोटी-सी वेदिका बनी होती थी जो कटिसूत्र के समान होती थी। मंडप का गोपुर द्वार उन्नत रहता था और गोपुर को अनेक प्रकार से सजाया जाता था।[2] मंडपकरण की यह अलंकरण विधि सम्भवतः राजाओं एवं महाराजाओं के सामर्थ्य के अनुसार ही सम्भव थी।

लग्न निर्धारण

विवाह मंडप में प्रवेश करने तथा विवाह की क्रिया विधि सम्पादित करने के लिए ज्योतिषियों द्वारा शुभ मुहूर्त निर्धारित किया जाता था।

वर-यात्रा

बारात को जनवास से विवाह मंडप के लिए प्रस्थान करने को वर यात्रा कहा गया है। वर के मंडप में पहुँचने पर विलासिनियों द्वारा स्वागत किया जाता था। राजबली पाण्डेय के अनुसार वर के पहुँचने पर वहाँ सीकर तथा मंगल घट लिए हुए स्त्रियों का एक झुण्ड स्वागत के लिए उपस्थित रहता था।[3]

भृकुटि भंग क्रिया

समराइच्चकहा में उल्लिखित अन्य क्रिया विधि के साथ-साथ रत्नमयी अंगूठियों से बँधे सुवर्ण मृणाल द्वारा भौंह स्पर्श कराने का भी उल्लेख है।

१ पारस्कर गृह्यसूत्र १।४।
२ अग्नि पु० ७।२२-२३।
३ राजबली पाण्डेय—हिन्दू संस्कार पृ० २८६।

परस्पर वदनावलोकन

वर वधू का परस्पर मुख दर्शयावलोकन क्रिया भी सम्पन्न की जाती थी। वौधायन धर्मसूत्र में भी वर-वधू द्वारा परस्पर अवलोकन क्रिया का उल्लेख है।[1] आश्वलायन गृह्यसूत्र-परिशिष्ट के अनुसार सर्वप्रथम वर एवं वधू के बीच में एक वस्त्र रखा जाना चाहिए और ज्योतिषघटिका के अनुसार हटा लिया जाना चाहिए तब वर वधू को एक दूसरे को देखना चाहिए।[2]

उत्तरीय प्रतिबन्धन

विवाह मंडप में विवाह क्रिया का सम्पादन वर-वधू के परस्पर गठबन्धन के साथ किया जाता था। इस क्रिया में वर-वधू के उत्तरीय के एक एक छोर को बांधा जाता था। हर्ष चरित में भी उत्तरीय प्रतिबन्धन द्वारा वर-वधू की वेदी की भाँवर करने का उल्लेख है।[3] यह प्रथा आज भी प्रचलित है।

पाणिग्रहण

वर-वधू का मंत्रोच्चारण के साथ पाणिग्रहण होता था। ऋग्वेद में भी पाणिग्रहण क्रिया के सम्पादन में बताया गया है कि मैं तुम्हारा हाथ सुख के लिए ग्रहण करता हूँ।[4] काणे ने विवाह संस्कार को तीन भागों में बाँटा है। उनके अनुसार कुछ कृत्य प्रारंभिक कहे जा सकते हैं उनके उपरांत कुछ ऐसे कृत्य हैं जिन्हें हम संस्कार का सार तत्त्व कह सकते हैं यथा—पाणिग्रहण, होम अग्नि प्रदक्षिणा एवं सप्तपदी तथा कुछ कृत्य ऐसे हैं जो उक्त मुख्य कृत्यों के प्रतिफल मात्र हैं यथा ध्रुवतारा, अरुन्धती आदि का दर्शन।[5] इस प्रकार पाणिग्रहण विवाह संस्कार का आवश्यक अंग है। आदि पुराण में उल्लिखित है कि वर-वधू को जल से पवित्र किया जाता था और मंत्रोच्चारण के साथ मंगलाक्षत छोड़ जाते थे। तत्पश्चात् पाणिग्रहण क्रिया सम्पन्न की जाती थी।[6] आश्वलायन गृह्यसूत्र के अनुसार कन्या के साथ वर अग्नि एवं कलश की दाहिनी ओर से तीन बार प्रदक्षिणा करेगा और कहेगा—"मैं अम (यह) हूँ, तुम सा (वह) हो, तुम सा हो और मैं अम; हूँ मैं स्वर्ग हूँ तुम पृथ्वी हो मैं साम हूँ तुम

---

१ काणे—धर्मशास्त्र का इतिहास भाग १ पृ० ३०४।

२ वही भाग १ पृ० ३०४।

३ हर्षचरित ४ पृ० १४७।

४ ऋग्वेद १०।८५।३६।

५ पी० वी० काणे—धर्मशास्त्र का इतिहास भाग १, पृ० ३०२।

६ आदिपुराण—७।२४६ २५०।

ऋक हो। हम दोनों विवाह कर लें। हम संतान उत्पन्न करें। एक दूसरे को प्यारे, चमकीले एक दूसरे की ओर झुके हुए हम लोग सौ वर्ष तक जीयें[1]।' पाणिग्रहण के समय आज भी वर-वधू एक दूसरे के साथ सुसम्बन्ध बनाए रखने के लिए शपथ ग्रहण करते हैं।

बरातियों का स्वागत

वधू पक्ष वाले वर पक्ष से आये हुए बरातियों के स्वागत में सुगंधित पुष्प मालाएं, सुगंधित विलेपन, कपूर मिश्रित ताम्बूल, वस्त्र एवं आभूषण आदि का वितरण करते थे। आदि पुराण में विवाहोत्सव में सम्मिलित होने वालों का दान, मान एवं सम्भाषण द्वारा यथोचित आदर किये जाने का उल्लेख है।[2]

हवन विधि

विवाह मंडप के बीच बनी हवन कुण्ड में अग्नि प्रज्वलित की जाती थी और उस अग्निकुण्ड में धूप, घृत, चीनी आदि पदार्थों की मंत्र सहित हवन क्रिया सम्पन्न की जाती थी। विवाह संस्कार के समय हवन क्रिया का प्रचलन अति प्राचीन है। आश्वलायन गृह्यसूत्र में उल्लिखित है कि अग्नि के पश्चिम चक्की तथा उत्तर-पूर्व पानी का घड़ा रख कर वर को होम करना चाहिए।[3] काणे ने हवन क्रिया को विवाह संस्कार का सारतत्त्व कहा है।[4] हर्ष चरित में भी विवाह संस्कार के समय मंत्रोच्चारण द्वारा हवन कुण्ड में आहुति देने का उल्लेख है।[5]

भाँवर क्रिया

समराइच्चकहा में पाणिग्रहण के पश्चात् वर-वधू द्वारा परस्पर उत्तरीय के एक-एक छोर के गठबंधन के साथ अग्नि कुण्ड की परिक्रमा किये जाने का उल्लेख है। यहाँ यह परिक्रमा चार-चार करायी गयी है। यहाँ समराइच्च कहा में प्रथम भाँवर के समय वधू के पिता द्वारा वर को दक्षिणा-स्वरूप सो स्वर्ण धन्य देने का उल्लेख है। दूसरी भाँवर में वर के पिता द्वारा वधू के लिए हार, कुण्डल, करधनी, त्रुटितसार, कंगन आदि, तीसरी भाँवर के समय चाँदी के थाल, तश्तरी आदि बर्तन तथा चौथी भाँवर के समय बहुमूल्य वस्त्र आदि

---

१ आश्वलायन गृह्यसूत्र १।७।३ १।८।
२ आदि पुराण ७।२६८ ७०।
३ आश्वलायन गृह्यसूत्र १।७।३ १।८।
४ काणे—धर्म शास्त्र का इतिहास भाग १ पृ० ३०२।
५ हर्ष चरित ४ पृ० १४७।

वधू के पिता द्वारा वर पक्ष को दक्षिणा स्वरूप दिये जाने का उल्लेख है। धर्मशास्त्रों में वर-वधू द्वारा अग्नि एवं कलश की प्रदक्षिणा करने का उल्लेख है,[1] किन्तु दक्षिणा आदि देने का उल्लेख नहीं है। मालती माधव तथा कर्पूरमंजरी में भी हवन क्रिया के पश्चात वर-वधू द्वारा विवाह वेदी की परिक्रमा किये जाने का उल्लेख है।[2] उपरोक्त विवरण के आधार पर कहा जा सकता है कि हरिभद्र के काल में दहेज प्रथा का भी प्रचलन हो चुका था जिसमें भाँवर के समय वर पक्ष के लोग वधू को अलंकरण आदि तथा वधू पक्ष वाले वर के लिए विविध प्रकार की सामग्रियाँ तथा सोना चाँदी आदि धन-सम्पत्ति अपनी सामर्थ्य के अनुसार दक्षिणा स्वरूप प्रदान करते थे।

नारी

प्राचीन भारतीय समाज की भित्ति पर नारी जीवन के अनेक चित्र देखने को मिलते हैं। वैदिक काल से ही स्त्रियों ने पुरुषों की सहगामिनी के रूप में सामाजिक उत्थान में बराबर योगदान दिया है। वैदिक काल में स्त्रियों ने भी ऋचायें बनायी, वेद पढ़े तथा पतियों के साथ धार्मिक कृत्य किये। अगस्त्य की पत्नी लोपामुद्रा ने दो पद्यों की रचना की थी।[3] अपाला नाम की एक अन्य दार्शनिक स्त्री का भी उल्लेख प्राप्त होता है।[4] वैदिक काल में स्त्रियाँ पुरुषों के समान शिक्षित होती थी तथा वे पुरुषों के साथ वाद विवाद में बराबर भाग लेती थी।[5] काणे के अनुसार उत्तर कालीन युग की तुलना में उनकी स्थिति अपेक्षाकृत अच्छी थी।[6] वैदिक काल से लेकर हरिभद्र के काल तक आते-आते हम नारी जीवन का एक विकसित रूप देखते हैं। समराइच्च कहा में यदि दुष्टशीला नारी की निन्दा की गयी है तो सच्चरित्र नारी की प्रशंसा भी की गयी है। उसे सुधाहार तुल्य बताया गया है[7] जिससे तत्कालीन समाज में नारी वर्ग के गौरव का पता चलता है। एक अन्य स्थान पर नारी को प्रजापति कला की चरमोत्कृष्ट पृष्ठभूमि, लावण्य की उत्पत्ति तथा विशुद्ध शीलवाली[8] कहा गया

---

१ पी० वी० काणे—धर्मशास्त्र का इतिहास भाग १ पृ० ३०४।
२ मालती माधव अंक ६ कर्पूर मंजरी अंक ४।
३ ऋग्वेद १।१७९।१ २।
४ वही ८।८०।९१।
५ प्रभु—हिन्दू सोशल आर्गनाइजेशन पृ० २५८।
६ पी० वी० काणे—धर्मशास्त्र का इतिहास भाग १ पृ० ३२४।
७ सम० क० ९ पृ० ९२२।
८ वही ८, पृ० ७३१।
९

है। दूसरे स्थान पर नारी की प्रशंसा में उसे सरल स्वभाव वाली स्थिर स्नेहालु अनगराजधानी तथा 'अमृत कल्प वृक्ष'[1] के समान स्वीकार कर गौरव प्रदान किया गया है। महाभारत में भी नारी को पूज्य बताया गया है और कहा गया है कि जहाँ स्त्रियों का सत्कार होता है वहाँ हर प्रकार की सम्पन्नता सुलभ रहती है लेकिन जहाँ इनका अनादर होता है वहाँ सारे प्रयास अफलित होते हैं।[2] बौधायन धर्मसूत्र एवं स्मृतियों में भी स्त्रियों की प्रशंसा की गयी है।[3] कामसूत्र में तो स्त्रियों को पुष्प के समान माना गया है।[4] यशस्तिलक में भी दुश्चरित्र वाली स्त्रियों की जहाँ निन्दा करके उन्हें तिरस्कृत किया गया है वहीं उनकी प्रशंसा में बताया गया है कि स्त्री के बिना संसार में गार काय व्यर्थ है घर जंगल के समान है और जिन्दगी बेकार है।[5]

नारी तत्कालीन समाज में भोग विलास की सामग्री नहीं समझी जाती थी वरन् उसका भी अपना व्यक्तित्व था तथा उसे भी स्वतन्त्र रूप से विकसित एवं पल्लवित होने की पूर्ण सुविधायें प्राप्त थीं। वह जीवन में पुरुष की सहगामिनी बनती थी दासी नहीं। हरिभद्र के काल में हमें नारी जीवन के विभिन्न रूपों यथा—कन्या रूप, पत्नी रूप माता विधवा दासी वेश्या तथा साध्वी रूप का पता चलता है।

कन्या

भारतीय समाज में कन्या सदा से ही लालन-पालन के साथ आदर की पात्र रही है। हरिभद्र के काल में यद्यपि पुत्र की अपेक्षा पुत्री के जन्म के अवसर पर माता पिता को उतनी खुशी नहीं होती थी क्योंकि पुत्री एक न्यास (धरोहर) के रूप में समझी जाती थी *फिर भी कन्या के प्रति माता पिता के* हृदय में अपूर्व प्रेम की भावना विद्यमान था।[6] परिवार में उसका पालन पोषण बड़े ही सुव्यवस्थित ढंग से होता था जिसके लिए धायी नियुक्त रहती थी।[7]

---

१ सम० क० २ पृ० १२३।

२ महाभारत—अनुशासन पर्व ४६।५।

३ बौधायन धर्मसू० २।२।६ ६४ मनु० ३।५५ ६२ याज्ञवल्क्य० १।७१ ७४ ७८।

४ कामसूत्र ३।२ (कुसुम सधर्माणाहियोषित)।

५ यशस्तिलक पृ० १२० (कामन्तरम अगता विपण्य प्रयाग यामन्तरण मयानि वनायन्ते। यामन्तरण स्त् गगनि आवितं च)।

६ सम० क० ७ पृ० ६३२ ८,८ ३११ ३ ० ० पृ० ८०४।

७ वही ५ पृ० ३३१।

आदिपुराण मे भी पता चलता ह कि कन्या और पुत्र म कोई अन्तर नही था। दोनों के सस्कार समान रूप मे सम्पन्न कर कन्या की महत्ता पर प्रकाश डाला गया है।[1] आदिपुराण में कन्या जन्म को अभिशाप नही माना गया ह।[2] बाल्यावस्था से ही कन्या को नूपर आदि विभिन्न अलकारा स अलकृत किया जाता था।[3] समराइच्च कहा में कन्या की शिक्षा दीक्षा पर विशेष बल दिया गया है, क्योकि रूप कला तथा विज्ञान आदि कन्या के गुण माने जाते थे।[4] इन्हीं गुणा मे युक्त कन्या विवाह के योग्य मानी जाती थी। चित्रकला के साथ साथ उभ काव्य आदि साहित्य की भी शिक्षा दी जाती थी[5]। समराइच्च कहा के उल्लेख से पता चलता है कि माता पिता अपनी कन्या का कला विज्ञान आदि से सुशिक्षित करने का भरपूर प्रयास करते थे।[6]

नारी शिक्षा के प्रमाण हमें वदिक काल से ही मिलते ह। अगस्त्य की पत्नी लोपा मुद्रा तथा अपाला एव इन्द्राणी आदि सुशिक्षित एव विदुषी स्त्रिया इसके प्रमाण ह। इसस पता चलता है कि वदिक काल में भी स्त्रियों को बाल्यावस्था से पुरुषों के समान सुशिक्षित एव सुसस्कृत करने का प्रयास किया जाता था। आदिपुराण में भी विद्या की महत्ता बताते हुए कन्या को विद्या ग्रहण करने की प्रेरणा दी गयी ह।[7] अन्य सस्कृत ग्रन्थों में भी सगीत, वाद्य, नृत्य आदि कलाओं में नारी वर्ग की प्रवीणता का सकेत इस बात को स्पष्ट करता ह कि कन्या को उक्त विषयों की शिक्षा दी जाती थी। समराइच्च कहा की भाति रत्नावली में भी कन्या द्वारा चित्र-पट पर चित्र अकित करने का उल्लेख ह।[8] कपूरमजरी तथा विद्धशाल भजिका की नायिकाए अपने प्रियतम का पत्र रचना तथा पत्र लेख द्वारा समाचार भजती थी।[9] अशिक्षित स्त्रिया में अशिष्टता एव कुमार्ग प्रवृत्ति का प्रमाण मिलता

---

१ आदिपुराण २८।७०।

२ वही ६।८३।

३ सम० क० ८ पृ० ७४४।

४ वही ८ पृ० ७३८ ३९।

५ वही २ पृ० ८७ ८८ ८ पृ० ७१९।

६ सम० क० ८ पृ० ७५९—अह्वा मे धूयाये वित्तयम्म घउरत्तण।

७ आदि पुराण १६।९८ विद्यावान पुरुषो लोके सम्मतिं याति कोविद । नारी च तद्वती धत्त स्त्री सृष्टेरग्रिम पदम्।

८ प्रिय दर्शिका पृ० १६ हर्ष चरित ४ पृ० १४० कादम्बरी पृ० ३२४।

९ रत्नावली अक २ पृ० ३२।

१० कपूर मजरी अक ३ पृ० २४ विद्धशाल भजिका अक १ पृ० ६८ अक ३, पृ० १६६।

है[1] जिससे स्पष्ट होता है कि लोगों में इस भावना को लेकर शिक्षा के प्रति विशेष झुकाव था। शिक्षित तथा सुसंस्कृत स्त्रियाँ सदा अपने कुल एवं मर्यादा का ध्यान रख कर आत्मकल्याण के मार्ग पर बढ़ती रहती थी। अत एव सफल गृहणी बनने के लिए कन्या को सभी प्रकार की शिक्षा दी जाती थी।

रूप, कला एवं विनय आदि से युक्त कन्याएं युवावस्था को प्राप्त होने पर विवाह योग्य समझी जाती थीं।[2] स्वेच्छा से अपने भावी पति का वरण कर सकती थी।[3] नायाधम्मकहा एवं जातक कथा में भी स्वयम्वर का उल्लेख प्राप्त होता है जिसमें कन्या को अपने पति का चयन करने की स्वतन्त्रता प्राप्त थी।[4]

यद्यपि तत्कालीन समाज के लोगों में कन्या के प्रति स्नेह पूर्ण भावना थी फिर भी युवावस्था को प्राप्त सौन्दर्य युक्त कन्या के अपहरण का भी उल्लेख मिलता है।[5] सम्भवतः ऐसी भावना राजघराना में थी। समान रूप कुल तथा अनुराग वाली कन्याओं का अपहरण अनिन्दनीय माना जाता था।[6]

भार्या

विवाह के पश्चात् ही वधू गृहस्थ आश्रम में प्रविष्ट होकर गृहणीपद प्राप्त करती थी। समराइच्च कहा में भार्या को गृहणी नामक संज्ञा से सम्बोधित किया गया है।[7] यह घर-गृहस्थी की स्वामिनी समझी जाती थी तथा अपने पति की जीवन संगिनी तथा सलाहकार समझी जाती थी।[8] घर में प्रवेश करते ही सास-ससुर बहू का सम्मान करते थे तथा पति उसे जीवन साथी के रूप में ग्रहण करता था। अतः पति-पत्नी के बीच सहकारिता पूर्ण भावना के फलस्वरूप पत्नी को मित्रवत समझा जाता था।[9] स्मृतियों में उल्लिखित है कि एक वस्त्रागार पत्नी पर गृहस्थी की पद्धति स्थित होती है क्योंकि उसी की सहायता से परिवार

---

१ सम० क० ९ पृ० ९२२।
२ वही ३ पृ० १८५ ७ पृ० ६७३ ७१ ८ पृ० ७ ७-१/।
३ वही ७ पृ ६३७ ८ पृ० ७५७ ९ पृ० ८९४।
४ नायाधम्मकहा १।१६।१२२ १२५, जातक ५ १२६।
५ सम० क० ६ पृ० ५०१ ८, पृ० ७४३।
६ वही ५ पृ० ३७७।
७ सम० क० ४ पृ० ३५८ ५, पृ० ३८८ ६ पृ० ५६८ ५६६, ७ पृ० ६८६ ९ पृ० ९१७।
८ सवाङ्‌ १ प० १८१।
९ सम० क० ९ पृ० ९२५।

के लोग त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) का सम्पादन कर पाते हैं।[1] दाम्पत्य जीवन की सुन्दरता के लिए पति का अतिक्रमण न करना पत्नी के लिए अति आवश्यक समझा जाता था।[2] आपस्तम्ब धर्मसूत्र में पति-पत्नी को धार्मिक कृत्यों में समान माना गया है।[3] मनुस्मृति में भी पति और पत्नी को एक माना गया है।[4] एक आदर्श पत्नी बनने के लिए समान कुल रूप विभव और स्वभाव आदि का ध्यान रखा जाता था।[5] पत्नी के लिए समराइच्च कहा में विविध नाम प्रयुक्त हुए हैं यथा—भार्या[6] वल्लभा[7] तथा गृहणी आदि। कहीं-कहीं उसे देवी नामक मर्यादित शब्द से सम्बोधित किया गया है।[8] इससे स्पष्ट होता है कि परिवार में पत्नी की प्रतिष्ठा थी। घर में उसका सम्मान होता था तथा सास-ससुर वधू के हर प्रकार के कष्ट को दूर करने का प्रयास करते थे।[9] सास, बहू को उसकी इच्छा के अनुसार पति के साथ बाहर जाने की आज्ञा भी देती थी।[10] आदि पुराण से भी पता चलता है कि विवाहित स्त्री को घूमने फिरने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी।[11] अतः स्पष्ट होता है कि पत्नी के रूप में नारी जीवन बाधित नहीं था। वह अपने मनोनुकूल मर्यादित ढंग से आचरण करने में स्वतन्त्र थी।

पति पत्नी का सबसे बड़ा प्रतिपालक माना जाता था। वह उसके सुख सुविधा एवं सुरक्षा आदि का दायित्व वहन करता था।[12] पत्नी के प्रति उसका अपूर्व प्रेम था। वह उसके वियोग में दुखी होता था तथा उसे प्राप्त करने का हर सम्भव प्रयास भी करता था।[13] यहाँ तक कि पत्नी पति के लिए सुधाहार

१ दक्ष स्मृति देखिए अध्याय ४।
२ अंगुत्तर निकाय ३।१७।
३ आपस्तम्ब धर्मसूत्र २।६।१३।१६ १८।
४ मनुस्मृति ९।४५।
५ सम० क० ६, पृ० ४९५।
६ वही ४ पृ० ३४५ ५, पृ० ३६४, ४११ १२, ४४० ४७४ ६, पृ० ४९५, ५११ ५५६ ५७९, ७ पृ० ६१२ ९, पृ० ९२५।
७ वही ९, पृ० ९२०।
८ वही ५ पृ० ४४५।
९ सम० क० ७ पृ० ६२३, ८, पृ० ८१४।
१० वही ४ पृ० २४१।
११ आदि पुराण ४।७६।
१२ सम० क० ६ पृ० ५५० ९ पृ० ९२१।
१३ वही ५, पृ० ४५४ ५५ ६, पृ० ५४६।

तुल्य कही गयी है[1]। अतः वह सहगामिनी तथा सदाचारितापूर्ण आचरण के साथ-साथ अपने सरल स्वभाव, स्थिर स्नेह, विशुद्ध शील, अपूर्व सौन्दर्य तथा धर्म रूपी कल्प वृक्ष के समान पति के हृदय को सदा विकसित करती रहती थी।[2] पत्नी पति के हित में अपना सर्वस्व अर्पण करने को तैयार रहती थी।[3] वह पति को अपना देवता समझकर उसकी [illegible] करती थी[4] तथा बिना उसे भोजन कराये स्वयं अन्न नहीं ग्रहण करती थी।[5] यहाँ तक कि एक आदर्श पत्नी पति के अलावा दूसरे पुरुष की मन में भी कल्पना नहीं करती थी और पति से वियुक्त हो जाने की अपेक्षा आत्महत्या कर लेना श्रेयस्कर समझती थी।[6] समराइच्च कहा में एक स्थान पर एक स्त्री द्वारा अपने पति की मृत्यु के पश्चात् उसकी दिवंगत आत्मा की शांति के लिए नीपवन जाकर पूजा करने का उल्लेख है।[7] एक अन्य स्थान पर एक स्त्री अपने पति की मृत्यु का समाचार पाते ही अपना पतिव्रत धर्म निभाने के लिए अग्नि में जलकर भस्म हो जाने को उद्यत हो जाती है।[8]

ऋग्वेद में भी पति-पत्नी के सुन्दर सम्बन्धों की चर्चा है। एक स्थान पर पत्नी के साथ पूजा के साथ अग्नि की पूजा करने का उल्लेख है।[9] एक अन्य स्थान पर पति एवं पत्नी का एक मन का होकर अच्छे मित्र की भाँति धार्मिक कृत्य करने का उल्लेख है।[10] आश्वलायन गृह्यसूत्र में विधान है कि पति की अनुपस्थिति में पत्नी घर की अग्नि की पूजा करे और उस अग्नि के बुझ जाने पर उपवास करे।[11] रामायण में राम ने भी यज्ञ करते समय सीता की मूर्ति बनवाकर अपने पास रखा था।[12] धर्मशास्त्र में भी पत्नी का सर्वप्रमुख कर्तव्य

१ सम० क० १ पृ० ९२२।
२ वही ३ पृ० १६२, ८ पृ० ७३१।
३ वही २ पृ० १४३।
४ वही ७ पृ० ६७१, ६७८-७९।
५ वही २ पृ० १२३।
६ सम० क० ७ पृ० ६६२।
७ वही १ पृ० ९२२।
८ वही ४ पृ० २७६, ६ पृ० ५०५, ८ पृ० ८०६, ८२१।
९ ऋग्वेद १।७२।५।
१० वही ५।३।२।
११ आश्वलायन गृह्यसूत्र १।८।१९।
१२ रामायण ७।९१।१९।

पति की आज्ञा मानना एव उसे दवता की भाति सम्मान देना बताया गया ह।[१] महाभारत में तो पत्नी का पति से दूर रहना बुरा कहा गया ह।[२] एक अन्य स्थान पर द्रौपदा क द्वारा अपने पति के अनुसार ही आचरण करने की बात कही गयी ह।[३] आदि पुराण क उल्लेख म स्पष्ट हाता ह कि पति स ही स्त्री की शोभा नही थी बल्कि पति भी स्त्री से शोभित हाता था।[४] अत स्पष्ट होता ह कि हरिभद्र के काल में भी पति-पत्नी का जीवन परस्पर सहयोग एव उच्चादर्शों पर अवलम्बित था।

समराइच्च कहा में भार्या के रूप में स्त्रियों को पति क साथ मात्र सास ससुर तथा गुरुजना क सम्मान करने की बात कही गयी है।[५] उसका दायित्व पूर्ण कर्तव्य घर गृहस्थी तक सीमित न हाकर पूरे समाज में भी था। पति कुल में पत्नी के रूप में प्रवेश करने क उपरान्त ही नारी परिवार एव समाज के प्रति अपने दायित्वा का उचित रूप स निर्वाह करती थी। अत वैदिक एव आगम कालीन समाज में पारिवारिक एव सामाजिक जीवन की दृष्टि स पत्नी का विशिष्ट स्थान था।[६]

समराइच्च कहा में पतिव्रता एव आदर्श स्त्रिया क अलावा कुछ दुष्टशीला पत्निया के भी उल्लेख प्राप्त हाते ह जिनके स्वभाव स ऊब कर पति उन्हे त्याग कर दूसरा विवाह सम्पन्न कर लेते थे।[७] इस प्रकार की पत्निया अपने जीवित पति का त्याग कर देती थी[८] तथा उन्हे छल कपट म मार डालने का प्रयास करती थी।[९] ऐसी दुष्टशीला स्त्रियों की निन्दा करते हुए उन्हें मायावी विषधर विपल्ता विद्युत की तरह नष्ट प्रेम वाली उल्का अनाम, व्याधि मूर्छा, अरज्जुपाश तथा बिना हेतु की मृत्यु कहा गया ह।[१०] यहा तक कि ऐसी दुष्ट आचरण वाली पत्निया का सतति का नाश करने वाली तथा कुल में कलंक

---

१ पा० वी० काणे धर्मशास्त्र का इतिहास भाग १ पृ० ३१८।
२ महाभारत, आदि पर्व ७४।१२।
३ वही वन पर्व २३३।७ १४।
४ आदिपुराण ६।५९ (स तया कल्पवल्लेव सुरागोऽल्कृतो नृप)।
५ सम० क० ८ पृ० ८१४ ९ पृ० ९१७।
६ कोमल चन्द्र जन—बौद्ध एव जन आगमों में नारी जीवन पृ० ८८।
७ सम० क० ६ पृ० ५२६ २७ ७ पृ० ६२१ २२ २३।
८ वही ४ पृ० ३०५।
९ वही ६ पृ० ५२६ २७।
१० सम० क० २ पृ० २२५, ४ पृ० २९४ ९५ ५ ३०४।६ पृ० ५२७।

ग्लाने वाला कह कर निन्दित किया गया है।[1] दुष्ट नारी स्त्रियों के उल्लेख वैदिक काल में भी प्राप्त होते हैं। ऋग्वेद में उल्लिखित है कि नारी का मन दुर्दमनीय है।[2] एक अन्य स्थान पर कहा गया है कि स्त्रियों के साथ कोई मित्रता नहीं उनके हृदय भेड़िए के हृदय हैं।[3] शतपथ ब्राह्मण के अनुसार स्त्री शूद्र, कुत्ता एवं कौआ में असत्य विराजमान रहता है।[4] महाभारत में स्त्रियों को अनृत (झूठा) कहा गया है।[5] एक अन्य स्थान पर उन्हें विष, सर्प एवं अग्नि कह कर निन्दित किया गया है।[6] रामायण में उन्हें धर्म भ्रष्ट चंचल, क्रूर एवं विरक्ति उत्पन्न करने वाली कहा गया है।[7] मनु ने भी ऐसी स्त्रियों को कामिनी, चंचल प्रेमहीन पतिद्रोही, परपुरुष प्रेमी आदि कह कर निन्दा की है।[8] गौतम[9] एवं मनु[10] दोनों स्मृतिकारों ने दुष्टशीला स्त्रियों की निन्दा करते हुए उन्हें दण्ड का भागी बताया है। अग्निपुराण में स्त्रियों के स्वभाव का विश्लेषण करते हुए दुष्टशीला स्त्रियों का स्वभावतः चंचल कपटी क्रोधी और मायाचारिणी बताया गया है। वासना के आवेग में आकर ऐसी स्त्रियाँ धर्म का भी परित्याग कर देती हैं।[11] यशस्तिलक में तो यहाँ तक उल्लेख है कि अग्नि शान्त हो जाय विष अमृत बन जाय नागिनियों को वश में कर लिया जाय क्रूर जन्तुओं को भी वश में कर लिया जाय पत्थर भी मृदु हो जाय किन्तु स्त्रियाँ वक्र स्वभाव को नहीं छोड़ती।[12] आगे कहा गया है कि ऐसी दुष्टशीला स्त्रियों का निग्रह करना ठीक वैसे ही है जैसे साँप को दूध पिलाना।[13] किन्तु

---

१ समरा० क० ६ पृ० ५२६ २७ ७ पृ० ६१६ १७।
२ ऋग्वेद ८।३३।१६।
३ वही १०।९५।१५।
४ शतपथ ब्राह्मण १४।१।१।३१।
५ महाभारत, अनुशासन पर्व १९।६।
६ वही ३८।१२।
७ रामायण अरण्य काण्ड ४५।२९ ३०।
८ मनु० ९।१४ १५।
९ गौतम० २२।१४।
१० मनु० ८।३७१।
११ अग्निपुराण ४३।१०० ११३।
१२ यशस्तिलक पृ० ५३ ६३ उत्त०।
१३ वही पृ० ३५२ उत्त० (दुष्टगृहस्थमनर्थ शान्ति निग्रह विन्यासे मनु क करोति। स्तन्येन स पायपने भुजगी गन भुजगस्य भुजंगानि)।

तत्कालीन समाज में ऐसी दुष्टशील स्त्रियाँ अपवाद स्वरूप थी। अधिकतर साक्ष्य से पता चलता है कि पतिव्रत धर्म परायण एवं आदर्श स्त्रियों की प्रशंसा की गयी है। इन स्त्रियों को परिवार एवं समाज में आदर तथा सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था।

माता

भारतीय संस्कृति में माता रूप नारी का आदर की दृष्टि से देखा जाता है। नारी जीवन की सार्थकता माता रूप में ही निहित रही है। समराइच्च कहा में माता को जननी कह कर सम्मानित किया गया है।[1] एक अन्य स्थान पर पुत्र द्वारा माता की वन्दना का उल्लेख है।[2] वैदिक तथा उत्तर वैदिक काल में माता ही एक ऐसी पात्र थी जिसे सामाजिक, पारिवारिक एवं धार्मिक आदि सभी दृष्टियों से महत्त्व दिया जाता था।[3] राम ने अपनी सौतेली माता की आज्ञा मानकर जंगल चले जाने का निश्चय किया और अवधि पूर्ण होने पर ही पुनः अयोध्या लौटे।[4] धर्मशास्त्रों में पिता गुरु की अपेक्षा सौ गुना अधिक आदरणीय बताया गया है, किन्तु माता पिता से भी हजारों गुना अधिक आदरणीय समझी गयी है।[5] आपस्तम्ब धर्मसूत्र में उल्लिखित है कि पुत्र को चाहिए कि वह अपनी माता की सदा सेवा करे चाहे वह जाति च्युत ही क्यों न हो, क्योंकि वह उसके लिऐ अत्यधिक कष्ट सहन करती है।[6]

जैन ग्रन्थ उपमितिभवप्रपंचा कथा में बताया गया है कि परिवार में माता का स्थान पिता से उच्च था क्योंकि परिस्थितियों के वशीभूत होकर पिता दुष्ट हो सकता है लेकिन माता किसी भी परिस्थितियों में रह कर सन्तान की सेवा सुश्रूषा करती रहती है।[7] आदि पुराण में माता की वन्दना के सन्दर्भ में उसे तीनों लोकों की कल्याणकारिणी माता मंगल करने वाली महादेवी, पुण्यवती और यशस्विनी कहा गया है।[8]

---

१ सम० क० ४ पृ० ३४५, ६ पृ० ५६४।
२ वही ४ पृ० २९६ ९७।
३ कोमल चन्द्र जैन—बौद्ध एवं जैन आगमों में नारी जीवन, पृ० ११२।
४ रामायण ६।१३८।३८।
५ मनु० २।१४५ याज्ञवल्क्य० १।३५ गौतम० ६।५१।
६ आपस्तम्ब धर्मसूत्र १।१०।२८।९।
७ उपमितिभवप्रपंचा कथा पृ० १५३।
८ आदि पुराण १३।३०।

गाना, गन्ध पुष्प आभूषण एवं रंगीन परिधान का प्रयोग छोड देना चाहिए, पीतल कासे के बर्तन में भोजन नहीं करना चाहिए दो बार भोजन करना, अंजन आदि लगाना त्याग देना चाहिए, उसे श्वेत वस्त्र धारण करना चाहिए इंद्रियों एवं क्रोध को दबाना चाहिए, धोखाधडी से दूर रहना चाहिए प्रमाद एवं निन्दा से मुक्त होना चाहिए, पवित्र एवं सदाचरण वाली होना चाहिए सदा हरि की पूजा करनी चाहिए, रात्रि में पृथ्वी पर कुश की चटाई पर शयन करना चाहिए तथा सत्संगति में लगा रहना चाहिए।[1]

बाणे के अनुसार हिन्दू विधवा की स्थिति अत्यंत शोचनीय थी। उसका माग्य किसी भी स्थिति में स्पृहणीय नहीं माना जा सकता था। वह अमंगल सूचक था और किसी भी उत्सव में भाग नहीं ले सकती थी।[2] कभी-कभी विधवा स्त्रियाँ जीवन यापन के तीन उपायों (पति की सम्पत्ति, पातिकुल का संरक्षण तथा पर पुरुष का ग्रहण) को न अपना कर भिक्षुणी बन जाती थी तथा भिक्षुणी गण की वरिष्ठ भिक्षुणी के संरक्षण में अपना जीवन बिताती थी।[3] उच्चवर्गीय स्त्रियाँ अधिकतर पति की मृत्यु पर चिता में ही जल कर मर जाना श्रेयस्कर समझती थी किन्तु कुछ स्त्रियाँ तो अपने घरों में ही रहकर सफेद वस्त्र पहनती, अलंकार आदि को अलग रख देती तथा तप, व्रत आदि धारण करती थी।[4] अग्निपुराण के एक आख्यान से भी पता चलता है कि विधवा स्त्रियों को अनाथ एवं बलहीन समझा जाता था।[5] अतः स्पष्ट होता है कि विधवा स्त्रियाँ अपनी प्रतिदिन की कठिनाइयों के कारण ही या तो चिता में जल कर सती हो जाती थी अथवा भक्ति भजन में लीन हो जाती थी।

साध्वी

हरिभद्र के काल में नारी के माता रूप की भाँति साध्वी रूप भी अत्यधिक पूजनीय था। समराइच्च कहा में कुछ स्त्रियों द्वारा प्रव्रज्या ग्रहण कर धार्मिक क्षेत्र में अनुरक्त होने का उल्लेख है।[6] कुछ तो बाल्यावस्था से ही भक्ति-पूजा आदि में लीन हो जाती थी जिन्हें तापस कन्या कहा गया है।[7] ऐसी साध्वी

---

१ वृद्धहारीत स्मृति ११।२०५ २१०।
२ पी० वी० काणे—धर्मशास्त्र का इतिहास भाग १ पृ० ३३१ ३२।
३ कोमल चन्द्र जैन—बौद्ध एवं जैन आगमों में नारी जीवन पृ० १२९।
४ हर्षचरित ५ पृ० १७१, कादम्बरी पृ० ४२।
५ अग्निपुराण ४३।१८।
६ सम० क० ३, पृ० १८२।
७ वही ५ पृ० ४०७-८ ४१८।

स्त्रियाँ तपाभूमि में रहती, वल्कल धारण करती[1] तथा पानी पीने के लिए कमण्डलु लिए रहती थी।[2] अत समाज का हर व्यक्ति उनकी धर्मनिष्ठा पर पूजा, वन्दना के साथ उन्हें सत्कार प्रदान करता था।[3] नारियों में धार्मिक भावना के प्रादुर्भाव के उल्लेख आदि काल से ही प्राप्त होते ह। वदिक काल में नारी की धार्मिक प्रवृत्ति में किसी प्रकार की हीनता नही थी। उस समय वह प्रत्येक धार्मिक कार्य में पुरुष को सहयोग प्रदान करती थी।[4] जन एव बौद्ध आगमों स भी पता चलता ह कि नारिया को न केवल गृहस्थाश्रम में पुरुषा के समान धर्माचरण करने का अधिकार था, अपितु भिक्षुणी बनने में भी कालान्तर में उन पर सघ की ओर से किसी पकार का प्रतिबन्ध नही था।[5]

समराइच्च कहा में श्रमण धम का पालन करने वाली साध्वी स्त्रियों के सघ का उल्लेख ह और उस सघ की प्रधान गणिनी होती थी।[6] गणिनी के साथ ही आत्म कल्याण के लिए श्रमण व्रता का पालन करती हुई अनेक साध्वी स्त्रिया भी रहा करती थी। ये गणिनी यथोचित कल्प विहार भी करती थी तथा लोगों को शिक्षा-दीक्षा देकर प्रव्रजित किया करती थी। परिणामत समाज के प्रत्येक लोग श्रद्धा एव भक्ति से उनकी पूजा-वदना किया करते थे।[7] समस्त प्राणिमात्र के कल्याणार्थ हर प्रकार का त्याग करने के कारण ही साध्वी स्त्रियों का अत्यधिक सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था।

वेश्या

हरिभद्र के काल में वेश्यावृत्ति का भी प्रचलन था जो उनकी (वेश्याओं की) जीविका का एक मात्र साधन था। समराइच्च कहा में एक स्थान पर उल्लिखित ह कि धन ही वश्याओ का पति ह।[8] इसी ग्रन्थ में अन्य कई स्थाना पर वेश्या का उल्लेख आया है।[9] वश्यावृत्ति का प्रमाण वैदिक काल से प्राप्त होता

१ सम० क० ५ पृ० ४०७-८।
२ वही ५ पृ० ४१४।
३ वही २ पृ० १०४५ ४ पृ० ३४४, ५ पृ० ४१८, ४२३ ४२६ ७,पृ० ६८५।
४ कोमलचन्द्र जन—जन और बौद्ध आगमों में नारी जीवन पृ० २२७।
५ वही, पृ० १८३।
६ सम० क० २ पृ० १०४ ७ पृ० ६१३।
७ सम० क० २, पृ० १०४, ७ पृ० ६१३।
८ सम० क० २ पृ० १५०, (वेसित्थियाहियय पिव अत्थ वल्लह)।
९ वही १, पृ० ५३ २ पृ० ९२ ७, पृ० ६३४।

है। ऋग्वेद में मरुत्गण विद्युत के साथ उसी प्रकार संयुक्त माने गये हैं जिस प्रकार युवती वेश्या से पुरुष लोग संयुक्त होते हैं।[1] मनुस्मृति में ब्राह्मणों को वेश्या के साथ भोजन करना वर्जित बताया गया है।[2] एक अन्य स्थान पर धूर्त वेश्याओं को दण्डित करने के लिए राजा को प्रेरित किया गया है।[3] महाभारत में भी वेश्यावृत्ति का उल्लेख कई स्थान पर किया गया है।[4] वात्स्यायन के कामसूत्र में उल्लिखित है कि वेश्याएं सभी प्रकार की कलाएं सीखती थीं तथा राजाओं की तरफ से उन्हें सम्मान मिलता था।[5] बाणभट्ट ने भी वेश्याओं का उल्लेख किया है जो हर्षवर्धन के राजदरबार में रहा करती थी।[6] दण्डी के दशकुमार चरित में भी वेश्याओं के उल्लेख हैं।[7]

समराइच्चकहा में वेश्या से भिन्न वारांगना नाम का उल्लेख है जो मदन महोत्सव तथा विवाह आदि उत्सवों पर नृत्य गान आदि कर जन समूह का आनन्दवर्धन करती थी।[8] विवाह के शुभ अवसर पर ये ही वारांगनाएं वर का शृंगार करती थीं।[9] अग्निपुराण में वारांगना और वेश्या को एक दूसरे से पृथक बताया गया है। इन वारांगनाओं को वेश्या की अपेक्षा उच्चतर स्थान प्राप्त था। विवाह, जन्म एवं राज्याभिषेक के अवसर पर वारांगनाओं का सम्मिलित होना आवश्यक माना जाता था।[10] वह मंगलमय गीत गाती तथा लय तान युक्त एवं भावपूर्ण नृत्य भी करती थी। अग्निपुराण में ये वारांगनाएं नृत्य-गान के अतिरिक्त अन्य कोई कार्य करती हुई नहीं दिखाई पड़ती। ये धार्मिक तथा सामाजिक अवसरों पर ही बुलाई जाती थी।[11] अतः स्पष्ट होता है कि वारांगनाएं वेश्याओं की तुलना में शुभ सूचक मानी जाती थी।

---

१ ऋग्वेद १।१६७।४।
२ मनुस्मृति ४।२०९।
३ वही २।२५९।
४ महाभारत आदिपर्व ११५।३९, उद्योग पर्व ३०।३८, वन पर्व २३९।३७।
५ कामसूत्र १।३।
६ हर्षचरित २ पृ० ७९, दक्षिण नाम्भरा १७२।
७ दशकुमार चरित २, पृ० ६६ ६८।
८ सम० क० १ पृ० ५२, २ पृ० ९३ ९८, ४ पृ० ३३९ ४०, ७, पृ० ६४।
९ वही २ पृ० ९६।
१० अग्निपुराण ७१२८ ८८।
११ वही १७।८ ८६।

दासी

समराइच्च कहा में नारी के दासी रूप का भी उल्लेख है।[१] नारी का यह परिचर्या कर्म उनकी निधनता का प्रतिफल था। निधनता से प्रेरित होकर वे धनिका के यहाँ उनकी सेवा-सुश्रुषा कर अपना जीवन यापन करती थी। कुछ दासियाँ तो कुल परम्परागत होती जिन्हें धनी-सम्पन्न परिवारों में सम्मान प्राप्त होता था तथा विवाह एवं पुत्र जन्मोत्सव में उन्हें पुरस्कार भी प्राप्त होता था।[२] कुछ दासियाँ विवाह के पश्चात् वहू के साथ उनकी परिचर्या के लिए आती थी। दास प्रथा का प्रचलन अति प्राचीन काल से चला आ रहा है। ऋग्वेद के कई मन्त्रों से दासत्व की झलक मिलती है।[३] उपनिषदों में भी दासियों का उल्लेख है।[४] जैन एवं बौद्ध आगमों से भी सम्पन्न परिवारों द्वारा दास-दासियाँ रखने का पता चलता है। दासी परिवार की ऐसी सेविका थी जिसके जीवन की सार्थकता स्वामी की आज्ञाओं के पालन में थी।[५]

समराइच्च कहा में दासी के तीन रूपों का उल्लेख प्राप्त होता है—दासी[६], चेटी[७] और धात्री रूप।[८] दासी सम्पन्न परिवारों में व्यक्तिगत परिचर्या के साथ साथ घर गृहस्थी के कार्यों को सेवा भाव से करती थी। ये दासियाँ कुल परम्परागत भी होती थी। यहाँ तक कि कन्या के विवाह हो जाने पर उसके पति के घर भी सेवा कार्य के लिए जाती थी।

परिचारिका के रूप में नारी का चेटी रूप दासी तथा धात्री दोनों का सम्मिलित रूप था। ये चेटियाँ धात्री का भी कार्य करती थी तथा परिवार के

---

१ सम० क० १ पृ० ३३ २ पृ० ७९ ८९, १४६ ३ पृ० १७६ ८ पृ० २९० ३१२, ५ पृ० ३७३ ३८४, ८ पृ० ७३३।

२ वही २ पृ० ७७ ४ पृ० २३६ ५ पृ० ४७१ ६ पृ० ४९५, ९ पृ० ९६०।

३ ऋग्वेद ८।५।३८, ८।१९।३६ ८।५६।३।

४ कठोपनिषद् १।१।२५ छान्दोग्य उपनिषद् ७।२४।२।

५ कोमल चन्द्र जैन—जैन और बौद्ध आगमों में नारी जीवन पृ० १३४।

६ सम० क० २, पृ० १८७ ५ पृ० ३७१।

७ वही १ पृ० ३३, २ पृ० ७९ ८७ ४ पृ० २५४ ३५७ ५, पृ० ३७३ ८ पृ० ७३३ ७६२।

८ वही १ पृ० ५४, २ ७७ ८० १४६, ३ पृ० १७६, ४ पृ० २३६ ५ पृ० ४७ १८ पृ० ४९५ ९ पृ० ९०४, ५ ८०।

अन्य लोगों की सेवा सुश्रूषा करती हुई आगन्तुकों का स्वागत भी करती थी। पुत्र जन्म की सूचना में इन्हें पुरस्कार प्रदान किया जाता था।

धात्री की नियुक्ति परिवार में संतान के लालन-पालन के लिए की जाती थी। ये बच्चा की देख रख उनका पालन-पोषण खेल-कूद सिखाना तथा वस्त्र आभूषण आदि पहनाने का काय करती थी। इनका स्तर दासियों से उच्च होता था। आगम कालीन समाज में पाँच प्रकार की धाइयाँ रखने की प्रथा थी। दूध पिलाने वाली वस्त्र एव अलकार आदि पहनाने वाली स्नान कराने वाली क्रीड़ा कराने वाली तथा बच्चों को गोद में लेकर खिलाने वाली।[1] आदि पुराण में भी धात्री के कार्यों को पाँच भागों में बाँटा गया है यथा—मंजन मण्डन स्तन्य संस्कार तथा क्रीडन।[2] धात्री द्वारा शिशुओं को स्नान कराने की क्रिया को मजन वस्त्राभूषण पहनाने की क्रिया को मण्डन दुग्ध पिलाने को (जिसमें स्तन पान भी सम्मिलित है) स्तन्य, तेल मर्दन नेत्र में अंजन तथा शरीर में उबटन लगाने की क्रिया को संस्कार तथा मनोरंजन के लिए विविध प्रकार के खेल खिलाने की क्रिया को क्रीडन काय के अंतर्गत माना जाता था। आदिपुराण में कुछ धात्री माता एव सखी के रूप में भी उल्लिखित है। श्रीमती की पण्डिता धात्री इसी श्रेणी में आती है।[3]

ये परिचारिकाएँ अधिकतर घर के अन्दर अर्थात अन्त पुर में सेवा सुश्रूषा करती हुई अन्त पुर की स्त्रियों के सुख-दुख में सहगामिनी होती थी। कहीं-कहीं तो उनके सम्बन्ध मित्रवत भी होते थे।



---

१ कामता चन्द्र जैन—बौद्ध एवं जैन आगमों में नारी जीवन पृ० १४८।

२ आदि पुराण १४।१६५ (धात्र्यो नियोजितास्यास्य देव्यः शक्रेण सादरम्। मज्जने मण्डने स्तन्ये संस्कारे क्रीडनेऽपि च।

३ वही ६।११८ १२५।

पाँचवा–अध्याय

शिक्षा एव कला

प्राचीन भारत में चरित्र निर्माण प्रतिभाशाली व्यक्तित्व, सस्कृति की रक्षा तथा सामाजिक एव धार्मिक कर्तव्या का सम्पन्न करने के लिए शिक्षा का समाज का अनिवाय अग माना जाता था।[1] समराइच्चकहा म शिक्षा को व्यक्तित्व के विकास के लिए अत्यधिक आवश्यक बताया गया है। राजकुमार को किशोरावस्था में ही लेखाचाय की शिक्षा प्राप्त करने के लिए आचाय को सौंप दिया जाता था।[2] ये लाग राजकुमारोचित कलाओं को सीखते थे।[3] काव्य रचना[4] तथा चित्रकला[5] के साथ-साथ वेद, श्रुत आदि का भी ज्ञान प्राप्त करते थे।[6] समराइच्चकहा के विवरणों से पता चलता है कि गुरुप्रदत्त शिक्षा के साथ लाग स्वाध्याय पर भी बल देते थे।[7] इस प्रकार ये राजकुमार अपने परिश्रम एव अभ्यास के द्वारा समस्त शास्त्र एव कलाओ में प्रवीण हो जाते थे।[8] समराइच्चकहा के उद्धरणों से पता चलता है कि शिक्षा का प्रचार मुख्यतया धनी सम्पन्न एव राजघराने के लोगों में ही अधिक था। गरीब लाग इसका लाभ कम उठा पाते थे।

हरिभद्र सूरि ने समराइच्चकहा में तत्कालीन समाज में प्रचलित शिक्षा के विषय के सन्दर्भ में ८९ प्रकार की कलाओ का उल्लेख किया है। हरिभद्र सूरी की भाँति अन्य बौद्ध एव जैन सूत्रों, यथा ज्ञाता धमकथा, समवायाग, औपपातिक सूत्र राजप्रश्नाय सूत्र एव कुवलयमालाकहा आदि में ७२ प्रकार की कलाओ का

१ ए० यस० अल्तेकर—एजूकेशन इन ऐंसियन्ट इडिया, पृ० ३२६।
२ सम० क० २ पृ० १२८ (समप्पिया य लेहायरियस्स)।
३ वही ४, पृ० ३६५ ७ पृ० ६०९।
४ वही ८ पृ० ७५७।
५ वही ८, पृ० ७६०—'उवणीया से कुमार लिहिया चित्तवट्टिया।'
६ वही ३ पृ० २२६।
७ वही ५, पृ० ४८०।
८ वही ९, पृ० ८६३ --'सयल सत्थ कला सपत्ति सु दर पत्ता कुमार भाव।'

उल्लेख आया है।[1] बौद्ध एवं जैन सूत्रों के अतिरिक्त रामायण, महाभारत, कामसूत्र एवं कादम्बरी आदि ब्राह्मण ग्रंथों में ६४ प्रकार की कलाओं का विवरण प्राप्त होता है।[2] जैन सूत्रों में उल्लिखित कलाओं की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए हीरालाल जैन ने बताया है कि जैन धर्म में गृहस्थ धर्म की व्यवस्थाओं द्वारा उन सब प्रवृत्तियों को यथोचित स्थान दिया गया है जिनके द्वारा मनुष्य सभ्य एवं शिष्ट बनकर अपनी अपने कुटुम्बों की तथा समाज एवं देश की सेवा करता हुआ उन्नत बना सके।[3] प्राचीनतम जैन आगमों में बालकों को उनके शिक्षण काल में शिल्पों एवं कलाओं की शिक्षा पर जोर दिया गया है। यहाँ गृहस्थों के लिए जो षटकर्म बताए गये हैं उनमें असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य के साथ-साथ शिल्प का भी विशेष उल्लेख है।[4]

समराइच्चकहा के आठवें भव में जिन ८० कलाओं एवं विद्याओं का उल्लेख आया है[5] उनका क्रमशः विवरण इस प्रकार से दिया जा सकता है—

लेख—सुन्दर एवं स्पष्ट लिपि द्वारा अपने भावों एवं विचारों को कलात्मक ढंग से व्यक्त करना लेखन कला के अन्तर्गत आता था। इस कला के अन्तर्गत दो बातों का ध्यान दिया गया है—लिपि और लेख विषय। जैन सूत्रों के अध्ययन से ब्राह्मी और खरोष्ठी आदि १८ प्रकार की लिपियाँ प्राप्त होती हैं।[6] प्राचीन काल में लेख का आधार पत्र, वल्कल, काष्ठ, दंत, लोहा, ताम्र, रजत

---

१ नायाधम्मकहा १ पृ० २१, समवायांग पृ० ७७ अ, औपपातिक सूत्र ४० पृ० १८६, राजप्रश्नीय सूत्र २११, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति टीका २, पृ० १३६, द्रष्टव्य—अमूल्य चन्द्र सेन—सोशल लाइफ इन जैन लिटरेचर—कलकत्ता रिव्यू, मार्च १९३३ पृ० ३६४, डा० सी० दास गुप्त—जैन सिस्टम आफ एजूकेशन पृ० ७४, दिव्यावदान पृ० ५८, १००, ३९१, ललित विस्तर पृ० १५६।

२ रामायण १/९/५, भागवतपुराण १०/४५/३६, महाभाष्य १/१/५७, कादम्बरी पृ० २३१-३२ चौखम्भा संस्कृत सीरीज वाराणसी १९६१, दशकुमारचरित २/२१।

३ हीरालाल जैन—प्राचीन भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान पृ० २८४।

४ वही, पृ० २८४।

५ सम० क० ८, पृ० ७३४-३९।

६ जगदीशचन्द्र जैन—जैनागम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० ३०१।

आदि बताये गये हैं और उनपर उत्कीर्णकर, सीकर बुनकर, भेदकर, जलाकर, ठप्पा लगाकर अप्सरा का अंकन किया जाता था।[1] कामसूत्र में ६४ कलाओं के अन्तर्गत आलेख्य का भी उल्लेख आया है।[2] जैन ग्रंथ समवायांग एवं कुवलयमाला आदि में भी इस कला का उल्लेख आया है।

गणित—ज्योतिष ज्ञान के लिए गणना के उद्देश्य से अत्यन्त प्राचीनकाल से ही भारत में गणितशास्त्र का विशेष महत्त्व था। कल्प-सूत्र से ज्ञात होता है कि भगवान महावीर ने गणित एवं ज्योतिष में निपुणता प्राप्त की थी।[3] जैन सूत्रों से पता चलता है कि ऋषभदेव ने अपनी पुत्री सुन्दरी को गणित की शिक्षा दी थी।[4] छान्दोग्यउपनिषद में वेद, पुराण व्याकरण आदि के साथ-साथ राशि विद्या का उल्लेख आया है जिसका तात्पर्य गणित विद्या से लगाया जा सकता है।[5] इसी प्रकार समवायांग एवं कुवलयमाला में भी गणित को शिक्षा के विषय के रूप में गिनाया गया है।

आलेख—समराइच्चकहा में उल्लिखित आलेख्य कला के अन्तर्गत धूलि चित्र, सादृश्य चित्र और रस चित्र आदि आते थे।

नाट्य—मनोरंजन एवं कला की दृष्टि से इस विषय को अनिवार्य माना जाता था। इस कला के अन्तर्गत नाटक लिखने एवं उसके अभिनय को लिया जा सकता है। इसमें सुर ताल आदि की गति के अनुसार अनेक प्रकार की शिक्षा भी दी जाती थी। नाट्य, नृत्य, गीत, वाद्य, स्वरगत, पुष्करगत, समताल आदि का प्राचीन काल में संगीत कला के अन्तर्गत माना जाता था। नाट्य, वाद्य गेय और अभिनय के भेद से संगीत का चार प्रकार का बताया गया है। इसमें वीणा, तन्त्र, ताल लय और वादित्र को मुख्य माना गया है।[6] राजप्रश्नीय सूत्र में ३२ प्रकार की नाट्यविधियों का उल्लेख है।[7] मुकर्जी के अनुसार वात्स्यायन के कामसूत्र में अभिनय के सन्दर्भ में नपथ्य प्रयोग और नाटका-

---

१ हीरालाल जैन—प्राचीन भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, पृ० २८६ ८७।

२ कामसूत्र १/३ १६

३ कल्पसूत्र १/१०।

४ आवश्यक चूर्णी, पृ० १५६।

५ छान्दोग्य उपनिषद ७/१।

६ स्थानांग सूत्र ४, पृ० २७१।

७ राजप्रश्नीय—टीका पृ० १३६।

स्थापित का उल्लेख किया है।[1] कुवलयमालाकहा में आये ७२ प्रकार की कलाओं में तथा बाणभट्ट की कादम्बरी में चन्द्रापीड द्वारा विभिन्न प्रकार की विद्याओं एवं कलाओं में पारंगत होने के सन्दर्भ में नाट्य शास्त्र का भी उल्लेख आया है।[2]

गीत—नाट्यकला के अतिरिक्त समराइच्चकहा में गान कला का भी उल्लेख है। तत्कालीन समाज में बौद्धिक उत्थान एवं मनोविनोद के उद्देश्य से संगीत कला का अत्यधिक महत्व था। गीत में स्वर, ताल और लय का प्राधान्य माना जाता था। अन्य प्रकार की विद्याओं एवं कलाओं के साथ-साथ शतपथ ब्राह्मण तथा छान्दोग्य उपनिषद् में नृत्य, गीत एवं वाद्य कला का भी उल्लेख आया है।[3] अतः यह कला अत्यधिक प्राचीन काल से चली आ रही थी। इसी प्रकार राजप्रश्नीय सूत्र, समवायांग एवं कादम्बरी आदि ग्रन्थों में भी गीत, वाद्य एवं नृत्य आदि कलाओं का उल्लेख आया है जो तत्कालीन समाज में शिक्षा का एक प्रमुख विषय माना जाता था।[4]

वाद्य—इसे भी संगीत कला का एक अंग माना जाता था। वैदिक काल से ही इसकी परम्परा देखी जाती है। राजप्रश्नीय सूत्र में वाद्य कला के अन्तर्गत शंख, शृंग, भेरी, पटह आदि ४९ प्रकार के वाद्यों का उल्लेख है, किन्तु कुछ लोगों के विचार से पाठानुसार इनकी संख्या ५९ मानी गयी है।[5] कादम्बरी में भी वाद्य कला के अन्तर्गत वीणा, बांसुरी, मृदंग, कांसा, मंजीर, तूती आदि वाद्य कलाओं का उल्लेख आया है।[6]

स्वरगत—इसके अन्तर्गत स्वर विज्ञान की शिक्षा दी जाती थी। जैन सूत्रों में षड्ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद आदि सात स्वरों का उल्लेख है।[7] समवायांग सूत्र में भी ७२ कलाओं के अन्तर्गत स्वरगत, पुष्करगत और समताल आदि कलाओं का उल्लेख आया है।[8]

---

१ आर० के० मुकर्जी—एजुकेशन इन एंशियण्ट इण्डिया, पृ० ३५८।
२ कादम्बरी पृ० २११-१२, कुवलयमाला कहा २२, १-१०।
३ शतपथ ब्राह्मण २१/, छान्दोग्य उपनिषद् ७, १।
४ राजप्रश्नीय सूत्र १/३ १९, समवायांग पृ० ७७ अ, कादम्बरी पृ० २११-१२।
५ जगदीशचन्द्र जैन—जैनागम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० २३१।
६ कादम्बरी, पृ० २११-१२।
७ स्थानांग सूत्र ७, पृ० ३७२, अनुयोगद्वार पृ० ११७।
८ समवायांग सूत्र पृ० ७७ अ।

पुष्करगत—बाँसुरी और भेरी आदि का अनेक प्रकार म बजाने की कला को पुष्करगत कला क रूप में लिया जाता था।

द्यूत—जुआ खेलने की कला को द्यूतकला माना जाता था। यह मनोरंजन का एक साधन समझा जाता था। द्यूत कला के अन्तगत द्यूत जनवाद आदि कलाओं का ज्ञान कराया जाता था। ऋग्वेद में अक्ष और पाश क्रीडा का उल्लेख है[1]। यहा अक्ष और पाश का तात्पय द्यूत क्रीडा म ही ह। महाभारत में तो कौरव और पाडवों क बीच हुए द्यूत क्रीडा के फलस्वरूप ही पाडवों को निर्वासित जीवन बिताना पडा।[2] वात्स्यायन कामसूत्र में इसे ६४ कलाओं क अन्तगत गिनाया गया ह।[3]

जनवाद—मनुष्य के शरीर रहन-सहन, बातचीत, खान-पान तथा हाव-भाव आदि के द्वारा उसका परीक्षण करना जनवाद की शिक्षा क अन्तगत आता था। समवायाग में भी इसे ७२ कलाओं में गिनाया गया ह।[4]

होरा—जात शास्त्र अर्थात जन्म पत्री का निर्माण और फलादेश इस शिक्षा क अन्तगत आते थे। कुवलयमाला में इसे ७२ कलाओं म गिनाया गया ह।[5]

काव्य—काव्य रचना तथा पुरातन काव्यों का अध्ययन आदि काव्य विषय क अन्तगत आते थे। काव्य कला को कला एव शिक्षा का प्रमुख विषय माना गया ह।[6]

दकमाटिकम[7]—इस विषय के अन्तगत भूमि सम्बन्धी अध्ययन सम्मिलित था। किस भूमि में कौन सी वस्तु उगायी जा सकती ह। खाद मिट्टी तथा बीज आदि की यथार्थ जानकारी इस विषय में सम्मिलित थी। सम्भवत यह कृषि विज्ञान के विषय के रूप में था।

---

१ ऋग्वेद १०/३४/८।

२ महाभारत—शांति पर्व।

३ कामसूत्र १/३ १६, तुलना क लिए देखिए—कादम्बरी पृ० २३१ ३१ दशकुमार चरित पृ० ६६ कुवलयमाला कहा २२/१ १०, समवायाग पृ० ७७ अ आदि।

४ समवायाग पृ० ७७ अ।

५ कुवलयमाला कहा २२/१ १०।

६ देखिये—कादम्बरी पृ० २३१ ३२ कामसूत्र १/३ १६ काव्यसमस्यापूरणम्, समवायाग, पृ० ७७ अ, कुवलयमाला कहा २२/१-१०।

७ देखिए—समवायाग पृ० ७७ अ।

अट्ठावय (अष्टपद)—अर्थात अर्थशास्त्र अथवा सम्पत्ति सम्बन्धी बातों का ज्ञान।[1] समवायांग सूत्र तथा प्रश्न व्याकरण में भी इसका उल्लेख आया है।[2]

अन्न विधि—भोजन बनाने और भोज्य पदार्थ सम्बन्धी सभी बातों का ज्ञान इस कला के अन्तर्गत आता था। स्वास्थ्य सम्बन्धी अन्न विधि पानविधि, शयन-विधि आदि का उल्लेख विविध जैन सूत्रों में आया है।[3]

पान विधि—पेय पदार्थ सम्बन्धी सभी बातों की जानकारी इस विषय के अन्तर्गत था।

शयन-विधि—शयन अर्थात शय्या सम्बन्धी सभी बातों का ज्ञान इसमें सम्मिलित था। कुवलयमाला कहा में शयन विधि के साथ साथ आसन विधि का भी उल्लेख है।[4]

आर्या—यह एक प्रकार का छन्द था जिसके विविध रूपों की जानकारी की जाती थी। काव्यकला के अन्तर्गत आर्या प्रहेलिका, मागधिका आदि का ज्ञान कराए जाने का उल्लेख है।[5]

प्रहेलिका—[6]पहेली बूझने एवं बुझाने की कला।

मागधिका—इसके अन्तर्गत मागधी भाषा और साहित्य का ज्ञान कराया जाता था।

गाथा[7]—छन्द अथवा श्लोक रचना सम्बन्धी कला का ज्ञान गाथा के अन्तर्गत आता था। वैदिक काल में भी गाथा का उल्लेख प्राप्त होता है। ऋग्वेद में गाथापति[8], गाथिन[9] तथा ऋजुगाथा[10] आदि का उल्लेख आया है।

---

१ पाइअ सद्द महण्णवा, पृ० २७।
२ समवायांग पृ० ७७ अ प्रश्न व्याकरण १/४—आगमोदय समिति बम्बई १९१०।
३ जगदीश चन्द्र जैन—जैनागम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० २९७।
४ कुवलयमाला कहा २२/११० देखिए—कामसूत्र १/३ १६—शयन रचनम्।
५ समवायांग, पृ० ७७ अ।
६ कामसूत्र १/३ १६।
७ समवायांग पृ० ७७ अ।
८ ऋग्वेद १/४३/४।
९ वही १/७/१।
१० वही ५, ४४/५।

गीति—गीति काव्यों की रचना और उसका अध्ययन करना।

श्लोक[1]—साहित्य के अन्तगत पद्य श्लोक की रचना तथा उसकी जानकारी करना था।

महुसित्य (मधुसिक्थ)[2]—मधु तथा मोम आदि बनाने की कला सम्मिलित थी।

गन्धजुत्ति (गन्धयुक्ति)[3]—इत्र केशर तथा कस्तूरी आदि सुगन्धित पदार्थों की पहचान करना तथा उनके गुण-दोषों की जानकारी रखना इस कला के अन्तगत था।

आभरणविधि[4]—वस्त्र तथा आभूषण निर्माण एव धारण करने की कला इसमें सन्निहित थी।

तरुण प्रीति क्रम[5]—तरुण व्यक्तियों से मित्रवत व्यवहार एव प्रसन्न करने का कला को तरुणप्रीतिकम कहते थे।

स्त्री लक्षण—स्त्रियों की जाति तथा उनके गुण दोषों की पहचान इस कला के अन्तगत थी। जन सूत्रों में विविध प्रकार के लक्षणों और चिह्नो आदि के ज्ञान कराये जाने का उल्लेख आया है जिसके अन्तगत स्त्री, पुरुष, हय गज, गो, मेष कुक्कुट, चक्र, छत्र दड असि, मणि काकिनी आदि के लक्षणा का ज्ञान कराना था।[5]

पुरुष लक्षण—पुरुष वर्गों की जाति और उनके गुण दोष की विशिष्ट जानकारी रखना इस कला का विषय था।

हय लक्षण—घोडों की जाति एव उनके अच्छे बुरे लक्षणों की जानकारी करना था।

गज लक्षण—हाथियों की जाति तथा उनके शुभ अशुभ लक्षणा की जानकारी रखना था।

गो लक्षण—गाया की जाति तथा उनकी अच्छी-बुरी नस्लो की जानकारी थी।

मेष लक्षण—अच्छे तथा खराब मेष (भेंड) की पहचान एव परीक्षण करने की कला।

---

१ तुलना के लिए—देखिए समवायाग पृ० ७७ अ।

२ देखिए—वही, पृ० ७७ अ।

३ वही पृ० ७७ अ, कुवलयमाला कहा २२/१ १०, कामसूत्र १/३ १६।

४ तुलना के लिए देखिए—समवायाग प० ७७ अ।

५ जगदीश चन्द्र जन—जन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० २९७।

कुक्कुट लक्षण—कुक्कुट अर्थात मुर्गों की पहचान एवं उसके शुभाशुभ लक्षणों की जानकारी प्राप्त करना था।

चक्र लक्षण—चक्र परीक्षण और चक्र सम्बन्धी शुभ अशुभ ज्ञान प्राप्त करना था।

छत्र लक्षण—छत्र सम्बन्धी शुभाशुभ की विशेष जानकारी रखना।

दण्ड लक्षण—दण्ड सम्बन्धी लक्षणों की विशिष्ट जानकारी रखना।

असि लक्षण—तलवार चलाने की कला तथा उसकी परीक्षा सम्बन्धी विशिष्ट जानकारी प्राप्त करना।

मणि लक्षण—मणि मुक्ता रत्न आदि की विशिष्ट जानकारी प्राप्त करना इस कला के अन्तर्गत था।

काकिनी लक्षण—प्राकृत शब्द महार्णव में काकिनी का अर्थ कौड़ी और सिक्कों से लगाया गया है।[1] यहां काकिनी लक्षण का तात्पर्य कौड़ी अथवा रत्न विशेष की जानकारी से है।

चर्म लक्षण—चर्म की परीक्षा तथा चर्म सम्बन्धी अन्य प्रकार की सम्पूर्ण जानकारी प्राप्त करना चर्म लक्षण के अन्तर्गत था।

चन्द्र चरित—चन्द्रमा की गति तथा तद्विषयक अन्य प्रकार की जानकारी प्राप्त करना। सम्भवतः यह ज्योतिष विद्या का एक अंग था। चन्द्र सूर्य राहु ग्रह चरित आदि ज्योतिष विद्या के अन्तर्गत आता था। जैनाचार्यों ने गणित तथा ज्योतिष विद्या में आश्चर्यजनक प्रगति की थी। आगमग्रंथों में चन्द्रप्रज्ञप्ति और सूर्यप्रज्ञप्ति का महत्त्वपूर्ण वर्णन प्राप्त होता है[2]। साथ साथ यहाँ सूर्य के उदय अस्त आज तथा चन्द्र-सूर्य के आकार परिभ्रमण आदि नक्षत्रों के गोत्र, सीमा तथा सूर्य चन्द्र ग्रह नक्षत्र एवं तारों की गति का उल्लेख है।[3]

सूर्य चरित—सूर्य की गति गमन पथ तथा उस विषय सम्बन्धी सम्पूर्ण जानकारी प्राप्त करना सूर्य चरित का विषय था।

राहु चरित—राहु ग्रह सम्बन्धी सभी प्रकार की जानकारी राहु चरित के अन्तर्गत था।

ग्रह चरित—सम्पूर्ण ग्रहों के विषय में विस्तृत ज्ञान प्राप्त करना ग्रह चरित कहा जाता था। बाणभट्ट ने कादम्बरी में ग्रह-नक्षत्र निर्णय तथा ज्योतिष विद्या को विभिन्न कलाओं के साथ-साथ गिनाया है।[4]

---

१ देखिए—पाइअ सद्द महण्णवो।

२ जगदीश चन्द्र जैन—जैनागम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० ३०६।

३ विन्टर नित्स—हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर भाग २, पृ० ४५७।

४ कादम्बरी, पृ० २३१–३३।

सूत्र-क्रीडा[1]—सूत्र द्वारा विभिन्न प्रकार के खेल करने की कला का सूत्र क्रीडा कहा जाता था। समवायाग सूत्र में ७२ प्रकार की कलाओं के अन्तगत सूत्र क्रीडा, वृत्त क्रीडा, धम क्रीडा तथा नलिका क्रीडा का उल्लेख क्रीडा कला के अन्तगत किया गया ह।[2]

वस्त्र क्रीडा—वस्त्रों द्वारा विभिन्न प्रकार के खेल-कूद करने की कला का वस्त्र क्रीडा कहा जाता था।

बाह्य क्रीडा—वाह्याली में घुडसवारी करने की कला को वाह्य क्रीडा कहते थे।

नलिका क्रीडा—द्यूत क्रीडा की तरह का ही एक खेल।

पत्रच्छेद[3]—पत्रा व पत्तों पर भेदने की कला अर्थात निशानेवाजी।

कटकछेद—सेना में सनिका का वेधने की कला इस कला क अन्तगत थी। समवायाग सूत्र में पत्रच्छेद की भाँति कटच्छेद्य नामक कला का भा उल्लेख ह।[4]

प्रतरच्छद—वृत्ताकार वस्तु को भेदने की कला को प्रतरच्छेद कला कहते थे।

सजीव—मृत या मृत तुल्य व्यक्ति को जीवित कर देने की कला को सजीव कहा जाता था। सजीव और निर्जीव कला का समवायाग की ७२ कलाओ में मे एक माना गया ह।[5]

निर्जीव[6]—मरण कला अर्थात मारने की कला का निर्जीव कला कहते थे।

शकुनरुत—पक्षियों की आवाज द्वारा शुभ-अशुभ का ज्ञान प्राप्त करना शकुनरुत कला कही जाता थी।

सूयाकार (सूचाकार)[7]—आकार मात्र से ही रहस्य की जानकारी प्राप्त कर लेने की कला का सूचाकार कहते थे।

दूयाकार (दूताकार)—दूत की आकृति तथा हाव भाव स ही सब कुछ जान

---

१ तुलना के लिए-देखिये—कामसूत्र १/३–१६।

२ कुट्टनीमतम् श्लोक १२४।

३ समवायाग, प० ७७अ।

४ तुलना के लिए देखिय—समवायाग, पृ० ७७अ, कुट्टनीमतम श्लोक २३६, कुवलयमाला कहा २२/१–१०।

५ समवायाग प० ७७अ।

६ तुलना के लिए देखिये—कामसूत्र १/३–१६—'शुकसारिकाप्रलापनम' समवायाग प० ७७अ कादम्बरी पृ० २३१–३२—यहा विभिन्न प्रकार की कलाओ क साथ शकुन शास्त्र' नामक विद्या का उल्लेख ह।

७ तुलना क लिए देखिय—पिंडनियुक्ति ४३७, प्रकाशन (वम्बई १९२२)।

लेने की कला तथा दूत नियुक्ति के समय दूत के अनुरूप गुणों की जानकारी का ध्यान रखना आदि दूताकार के अन्तर्गत था।

विद्यागत—वेद शास्त्र आदि का ज्ञान प्राप्त करना विद्यागत कला का विषय था। समवायांग सूत्र में विभिन्न कलाओं के अन्तर्गत विद्यागत मन्त्रगत, रहस्यगत सभव चार प्रतिचार, व्यूह प्रतिव्यूह आदि कलाओं को अलग-अलग गिनाया गया है।[1]

मन्त्रगत—दैहिक, दैविक और भौतिक बाधाओं को दूर करने के लिए मन्त्र विधि का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना मन्त्रगत विद्या का विषय था।

रहस्यगत—रहस्य (गूढ़तम) की समस्त जानकारी अथवा जादू-टोने आदि की जानकारी इस विषय के अन्तर्गत मानी जाती थी।

सभव—सम्भवत प्रसूति विज्ञान सम्बन्धी ज्ञान इसके अन्तर्गत था।

चार—तेज गमन करने की कला चार कला का विषय था। चार प्रतिचार व्यूह और प्रतिव्यूह आदि युद्ध सम्बन्धी विद्याएं हैं जिनके द्वारा क्रमश सेना को आगे बढ़ाना शत्रु की सेना की चाल को विफल करने के लिए सेना का सचार करना चक्रव्यूह रचना द्वारा सेना का विन्यास करना एव शत्रु की व्यूह रचना को तोड़ने योग्य सेना का विन्यास किया जाता था।

प्रतिचार—सम्भवत उपचार सम्बन्धी विषय यथा-रोगी, घायल आदि के उपचार की विद्या।

व्यूह—युद्ध के समय व्यूह रचना की कला इसका विषय क्षेत्र था। युद्ध के समय व्यूह की रचना कर लेने के पश्चात उसके प्रत्युत्तर में व्यूह रचने की कला को प्रतिव्यूह कहा जाता था।

स्कन्धावारमान[2]—छावनी के प्रमाण यथा-लम्बाई-चौडाई तथा तद्विषयक अन्य प्रकार की जानकारी इस कला में सम्मिलित थी। वास्तुकला के अन्तर्गत नगरमान वास्तुमान स्कन्धावार निवेशन आदि का आभास होता है।[3] स्कन्धावारमान नगरमान, वास्तुमान स्कन्धावार निवेशन, नगर निवेशन का आशय शिविर आदि का बनाने एव उसके योग्य भूमि गृह आदि का मान प्रमाण निश्चित करना था।[4]

---

१ समवायांग सूत्र, पृ० ७७अ।

२ तुलना के लिए देखिये—समवायांग सूत्र पृ० ७७अ, कामशास्त्र १/३–१६ तथा कादम्बरी पृ० २३१–३२ में वास्तुविद्या।

३ जगदीशचन्द्र जैन—जैनागम साहित्य में भारतीय समाज पृ० २९८।

४ हीरालाल जैन—प्राचीन भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, पृ० २९०।

नगरमान—नगर के प्रमाण आदि की जानकारी प्राप्त करना नगरमान विद्या का विषय क्षेत्र था। समवायाग सूत्र में स्कन्धावारमान, नगरमान, वास्तुमान, स्कन्धावरनिवेश, वास्तुनिवेश तथा नगरनिवेश का अलग अलग कला के रूप में गिनाया गया है।[1]

वास्तुमान—भवन प्रासाद तथा गृह के प्रमाण आदि का जानने की कला वास्तुमान कला था।

स्कन्धावार निवेशम—छावनिया की रचना सम्बन्धी सम्पूर्ण जानकारी यथा—छावनियों के डालने का उचित स्थान तथा उचित रचना रसद की समुचित व्यवस्था तथा शत्रु स सुरक्षा आदि का विशेष ज्ञान स्कन्धावार निवेश विद्या का विषय था।

नगर निवेशम—नगर बसाने की कला का नगर निवश विद्या कहते थ।

वास्तु निवेन—भवन प्रासाद एव घर बनाने की कला का वास्तु निवेश के अन्तगत माना जाता था।

इष्वस्त्र[2]—वाण प्रयाग करने की कला को इष्वस्त्र कला कहते थे।

तत्वप्रवाद—तत्वज्ञान की शिक्षा ज्ञान आदि तत्व प्रवाद के अन्तगत आता था। कादम्बरी में अन्य कलाओं के अन्तगत मीमासा, न्याय, वैशेषिक आदि दर्शन शास्त्र के विषय के रूप में उल्लेख आया है।[3]

अश्व शिक्षा—घोडा का नाना प्रकार के कदम तथा चालें सिखलाने की कला का अश्व शिक्षा कहा जाता था। समवायाग, कादम्बरी, कुवलयमाला कहा आदि ग्रन्थों में अश्व शिक्षा, हस्ति शिक्षा आदि का उल्लेख विविध कलाओं के अन्तगत आया है।[4]

हस्ति शिक्षा—हाथिया का युद्ध करने का शिक्षा देना तथा रणक्षेत्र में सचालन आदि का शिक्षा आदि हस्ति शिक्षा के अन्तगत था।

मणि शिक्षा—मणिया का सुन्दर एव आकर्षक बनाना तथा मणि की सही जानकारी रखना आदि का मणि शिक्षा कहा गया है।

---

४ समवायाग, पृ० ७७अ।

१ तुलना के लिए देखिए—समवायाग सूत्र, पृ० ७७ अ०, प्रश्नव्याकरणसूत्र ११५, पउमचरिअ ९८।४०—प्राकृत ग्रथ परिषद्—वाराणसी—५ म प्रकाशित।

२ कादम्बरी, पृ० २३१—३२।

३ समवायागसूत्र, पृ० ७७ अ, कादम्बरी, पृ० २३१ ३२ कुवलयमाला कहा २२।१—१०।

धनुर्वेद[1]—धनुष चलाने की कला को धनुर्वेद के अन्तर्गत माना जाता था।

हिरण्यवाद—चाँदी के विभिन्न प्रकार के प्रयोग को जानने की कला को हिरण्यवाद कहा जाता था। हिरण्यपाक सुवर्णपाक, मणिपाक धातुपाक का उल्लेख समवायांग सूत्र में एक ही कला के अन्तर्गत आया है।[2] कादम्बरी में विविध कलाओं के अन्तर्गत 'रत्नपरीक्षा' का उल्लेख है।[3] कामसूत्र में भी विभिन्न कलाओं के साथ रूप्यरत्नपरीक्षा, धातुवाद और मणिरागाकरज्ञान आदि का उल्लेख है।[4]

सुवर्णवाद[5]—सोने के अनेक भेद तथा उसके प्रयोग करने की कला को सुवर्णवाद कहा जाता था।

मणिवाद—मणियों के भेद तथा उनके प्रयोगों को मणिवाद कहा जाता था।

धातुवाद—धातु सम्बन्धी विशिष्ट जानकारी रखना धातुवाद की श्रेणी में आता था।

बाहु युद्ध—बाहु युद्ध करने की कला का नाम जिसे मल्ल युद्ध भी कहा जाता था। युद्ध विद्या में युद्धनियुद्ध युद्धातियुद्ध, मुष्टि युद्ध धनुर्वेद व्यूह, प्रतिव्यूह आदि कलाएं मानी जाती थीं। समवायांगसूत्र में बाहुयुद्ध दंडयुद्ध, मुष्टियुद्ध अस्थि युद्ध युद्ध नियुद्ध और युद्धनियुद्ध आदि सभी को एक ही कला अर्थात् युद्ध-कला के रूप में गिनाया गया है।[6]

दण्ड युद्ध—दण्ड अर्थात् लाठी से युद्ध करने की कला को दण्ड युद्ध कहते थे।

मुष्टि युद्ध—मुक्का या घूँसा मारकर युद्ध करने की कला को मुष्टि युद्ध के अन्तर्गत रखा गया था।

अस्थि युद्ध—हड्डियों से युद्ध करने की कला को अस्थि युद्ध कहते थे।

युद्ध—रणक्षेत्र में युद्ध करने की कला को युद्ध विद्या माना जाता था।

नियुद्ध—कुश्ती लड़ने की कला को नियुद्ध की संज्ञा दी जाती थी।

युद्ध नियुद्ध—घमासान लड़ाई करने की कला को युद्ध नियुद्ध विद्या कहा जाता था।

---

१ तुलना के लिए देखिए—कादम्बरी, पृ० २३१ ३२ समवायांगसूत्र, पृ० ७७ अ।
२ समवायांगसूत्र, पृ० ७७ अ।
३ कादम्बरी पृ० २३१ ३२।
४ कामसूत्र १।३–१६।
५ तुलना के लिए, देखिए—कुवलयमाला कहा २२।१–१०।
६ समवायांग सूत्र, पृ० ७७ अ।

छठा-अध्याय

आर्थिक दशा

अथ का महत्व

भारतीय जीवन का मूल आधार पुरुषाथ चतुष्टय (धम, अथ, काम और मोक्ष) बताया गया है।[1] अतएव बिना धम, अथ, काम और मोक्ष के जीवन का सन्तुलन सम्भव नहीं। यद्यपि जीवन का अन्तिम और सवश्रेष्ठ लक्ष्य मोक्ष माना गया है फिर भी त्रिवग (धम अथ और काम) पूणतया त्याज्य नहीं है क्योंकि बिना इन तीनों पुरुषार्थों को प्राप्त किये मोक्ष नामक शाश्वत सुख असम्भव है। जीवन के उद्देश्य का दृश्य दो रूपों में (व्यवहार और परमाथ अथवा प्रवृत्ति और निवृत्ति) रखा जा सकता है।[2] जिसमें मोक्ष का परमाथ अथवा निवृत्ति से तथा धम, अथ और काम का व्यवहार अथवा प्रवृत्ति से जोड़ा गया है।

जीवन के तीन मूल उद्देश्य त्रिवग के सेवन से ही सम्भव है जिनमें धम सर्वोच्च है।[3] समराइच्च कहा में त्रिवर्ग[4] (धम अथ, काम) का सेवन करना ही लोक धम बताया गया है। यही समस्त भौतिक सुखों का मूलाधार बताया गया है। अथ (धन) के अभाव में धम और काम तथा इन तीनों के अभाव में मोक्ष की सिद्धि असम्भव है। धम अथ, काम आदि सभी पुरुषाथ की सिद्धि एक दूसरे पर आधारित है।[5] अग्निपुराण में युवराज की शिक्षा में धम, अथ और काम का आवश्यक बताया गया है।[6]

---

१ महाभारत १२ ५९, ७२–७६, १८, ५, ५०, २, ५ ६, मनु० ७, १००, विष्णु पुराण १ १८, २१, अमर कोश २, ७, ५८।

२ महाभारत १२ ५९ २९–३१, कठोपनिषद २ १ २ (यहाँ श्रेय और प्रेय का भेद बताया गया है) मनु० १२।२८।

३ गोपीनाथ कविराज अभिनन्दन ग्रन्थ में—लल्लन जी गोपाल—इकोनामिक परसूट आफ ऐंसियट इंडिया पृ० ४०६।

४ सम० क० ९ पृ० ८६५–६६।

५ पद्मपुराण, ६, २८४, १२।

६ अग्निपुराण—राजधम २ पृ० ४०६ धर्मार्थे काम शास्त्राणि धनुर्वेद च शिल्पमेन।

समराइच्च कहा में उल्लिखित है कि अर्थ रहित पुरुष पुरुष नहीं कहा जा सकता क्योंकि दरिद्र व्यक्ति न यश प्राप्त कर सकता है न सज्जनों की संगति प्राप्त कर सकता है और न तो परोपकार सम्पादन ही कर सकता है।[1] इसके साथ-साथ अर्थ को ही देवता बताया गया है। अर्थ ही व्यक्ति का सम्मान बढ़ाता है गौरव जताता है मनुष्य का मूल्य बढ़ाता है सौभाग्यशाली बनाता है तथा यही (अर्थ) कुल रूप और बुद्धि को प्रकाशित करता है।[2] महाभारत[3] में अर्थ की महत्ता को स्वीकार किया गया है और इसे जीवन का बहुमूल्य अंग बताया गया है। यहाँ अर्जुन कहते हैं गरीबी एक पाप है। जीवन के सर्वश्रेष्ठ कार्य धन सम्पत्ति पर आधारित हैं सम्पूर्ण धार्मिक कृत्य अर्थ पर ही निर्भर रहते हैं, सभी प्रकार के सुखों तथा स्वर्ग की प्राप्ति धन से ही सम्भव है। धन से ही बुद्धि प्रकाशित होती है। अतः वह व्यक्ति जिसके पास धन नहीं है वह धार्मिक क्षेत्र में सफल नहीं हो सकता और न तो समाज में सुखी जीवन ही व्यतीत कर सकता है। अतः बिना धर्म और अर्थ के समान योगदान के वह सुख अलभ्य है। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र[4] में धर्म और काम का मूलाधार अर्थ ही बताया है। सर्वदर्शन संग्रह में भी चतुर्वर्ग (धर्म, अर्थ काम मोक्ष) में अर्थ और काम को जीवन का सर्वोच्च उद्देश्य बताया गया है।[5]

जैन ग्रंथ आदि पुराण में भी बताया गया है कि आदि तीर्थंकर ने अपने पुत्र भरत को अर्थशास्त्र की शिक्षा दी थी।[6] अर्थशास्त्र के अन्तर्गत भौतिक कल्याण सम्बन्धी सभी बातों यथा—उत्पादन, उपभोग विनिमय और वितरण आदि का अध्ययन किया जाता है। आर्थिक विचार के अन्तर्गत धन कमाना, अर्जित धन का रक्षण करना पुनः उसका सम्वर्द्धन करना तथा योग्य पात्रों को दान देना बताया गया है।[7] अतः स्पष्ट होता है कि प्राचीन काल में जीवन के चार

१ सम० क० ४, पृ० २४६—अत्थरहिआ पुरिसा अपुरिसो चेव।
२ वही ६, पृ० ५३८–३९—'अत्थ च एस अत्थो नाम महन्त ववयारुव—॥, देखिए—आदिपुराण ४१।१५८—'लक्ष्मी वाग्वनिता समागम सुखस्यैका धिपत्य दधत।
३ महाभारत १२ ८, ६–३३, १२, १६७ १२–१४।
४ अर्थशास्त्र १ ७–अर्थ एव प्रधान इति कौटिल्या। अर्थमूलौ हि धर्म कामौ इति, देखिए—पराशर० ८।३–'अर्थ मूलौधर्मकामौ।'
५ सर्वदर्शन संग्रह, पृ० २, प्रबोध चन्द्रोदय, पृ० ५६।
६ आदिपुराण १६।११९॥
७ वही ४२।१२०— अर्थसमार्जन, रक्षण वर्धन पात्रे च विनियोजनम्॥

मूल उद्देश्य में अर्थ का अत्यधिक महत्त्व था जिसे सम्पूर्ण सुखों का उद्गम स्रोत माना जा सकता है तथा जिसके उत्पादन के प्रधान स्रोत कृषि, व्यापार वाणिज्य शिल्प आदि थे।

व्यापार-वाणिज्य

बाजार

प्राचीन काल में कृषि के अतिरिक्त देश की समृद्धि का मुख्य आधार व्यापार वाणिज्य था। व्यापार का मुख्य ध्येय समाज के लिए विभिन्न प्रकार की आवश्यकीय वस्तुओं को उत्पादक के पास से उपभोक्ता के पास पहुँचाना था।

समराइच्च कहा में 'हट्ट'[१] शब्द का उल्लेख है जिसका प्रयाग आजकल हाट अथवा बाजार के रूप में किया जाता है। इन हाटों के बीच में सड़कें विस्तृत तथा चौरस होती थी। विशेष अवसरों पर उन्हें सजाया जाता था।[२] भोजन, वस्त्र आदि उपभोग की सभी सामग्रियाँ बाजारों में सुलभ थी।[3] पाल अभिलेख में 'हाटक'[४] नामक अधिकारी का उल्लेख है जो सम्भवतः हाट (बाजार) का प्रबन्ध करता था। प्रतिहार अभिलेख में उल्लिखित है कि वका नामक वैश्य भिन्न भिन्न स्थानों (हाटों) से क्रय विक्रय की सामग्री खरीद कर लाता था।[५] परमार लेख उन वणिकों के विषय में संकेत करते हैं जो सामान लाते तथा हाटों में बेचते थे।[६]

बाजार सामग्री

समराइच्च कहा में बाजार से भोजन सामग्री ले आने का वर्णन है।[७] इससे प्रतीत होता है कि उस समय के बाजारों में गेहूँ चावल घी दूध साग सब्जी आदि की बिक्री होती थी। चेलादि भाण्ड[८]—' के उल्लेख से भी यह

---

१ सम० क० ४ पृ० २६०, ७ ६१४–७१७, ९ ८५८।।

२ वही ७, पृ० ६३३–३४, ९ ८५८।

३ वही ७ पृ० ७१७ 'हट्टाओ अह किञ्चिभोयण जाय—तथा पृ० १७२—चेलादिभाण्ड—।

४ इपि० इंडि० १७, पृ० ५२५।

५ वही २०, पृ० ५५।

६ वही २१ पृ० ४८ लेख में हाट शब्द का उल्लेख किया गया है जिसका प्रबन्ध एक मण्डल द्वारा किया जाता था—आर्कियालोजिकल सर्वे आफ इंडिया ऐनुअल रिपोर्ट, १९३६–३७, पृ० ९१।।

७ सम० क० ७ पृ० ७१७ (हट्टाओ अह किञ्चिभोयणजाय)।

८ वही ३ पृ० १७२।

सूचित होता है कि वस्त्र-कपास सन अनाज आदि का क्रय विक्रय दूरस्थ व्यापारिक केन्द्रों के साथ-साथ इन हाटों (बाजारों) में भी होता था।

मार्ग

हरिभद्र कालीन भारत में हाट[1] में जाने-आने की सुविधा के लिए चौरस एवं विस्तृत मार्ग थे।[2] इन मार्गों का प्रबन्ध एवं मरम्मत सम्भवतः राज्य की तरफ से किया जाता था जिससे व्यापारिक वर्ग तथा अन्य लोगों के आवागमन की सुविधा रहे।

वाहन

हाटों से व्यापारिक सामग्रियों को ले आने तथा ले जाने की सुविधा के लिए बैल गाडी[3] का प्रयोग होता था। मनुस्मृति में गाडी का उल्लेख है, जिसे बैल खच्चर, भैंस आदि खींचते थे।[4] निशीथ चूर्णी में भी व्यापारिक सामग्री ढोने के लिए गाडी का उल्लेख है।[5] ये बैल गाडियाँ निजी तथा भाड़ा कमाने वाली (किराये पर बोझ ढोने वाली) होती थी।[6] चाहमान अभिलेख में व्यापारिक सामग्री ढोने वाली बैलगाडी का उल्लेख है।[7]

दूरस्थ प्रदेशों से व्यापार के लिए सार्थवाह की अध्यक्षता में व्यापारियों का सार्थ[8] चला करता था। उस सार्थ में भार-वाहक तथा गाडी रथ आदि खींचने के लिए हाथी, घोडे बैल, खच्चर, ऊँट आदि जानवरों का उपयोग होता था।[9]

---

१ सम० क० ४, पृ० २६०, ७ पृ० ७१४–७१६ ।।
२ वही ९ पृ० ८५८ ।।
३ वही ४ पृ० ३५५, ७, पृ० ८५०, देखिए–उपमितिभव प्रपंचा कथा, पृ० ८६७–६८ ।
४ आन मनु० ८ २९० ।
५ निशीथ चूर्णी ४ पृ० १११–अणुरगा णामघसिआ तथा ३, पृ० ९९–अणुरगा गड्डी ।
६ सम० क० पृ० ३३५ ।
७ इपि० इंडि० ११ पृ० ३७ और ४३ ।
८ सम० क० ४ पृ० २४२, ६ पृ० ५०४, ५०९ ५११ १२ ५३५, ५३७, ५५३ ५५४५५, ७, पृ० ६५६, ६५८, ६६६ ६७, ६७२, देखिए–तिलकमंजरी, पृ० ११७, पतंजलि–महाभाष्य १, १, ७४, पृ० ४६३–'कश्चित कान्तारे समुपस्थिते सार्थमुपादत्त, तथा २, २ २४, पृ० ३७० ।
९ निशीथ चूर्णी ३, पृ० ९९ हत्थि तुरगादि गमेव जाण ४ पृ० १११, २, पृ० ९ त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित १, ७ ।

बृहत्कल्प भाष्य[1] में पाच प्रकार के सार्थों का उल्लेख है, यथा गाडियां और छकडों से माल ढोने वाले (भडी), ऊँट खच्चर बैल आदि से माल ढोने वाले (वहिलग) अपना माल स्वय ढोने वाले (भारवह) अपनी आजीविका के योग्य द्रव्य लेकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर भ्रमण करने वाले (ओदरिया) और कापटिक (कप्पडिय) साधुओं का सार्थ।

तौल माप

समराइच्च कहा में ताराज-बाट[2] का उल्लेख हुआ है जिससे स्पष्ट होता है कि आधुनिक काल की तरह प्राचीन काल में भी वस्तुओं का क्रय विक्रय और उसका मूल्य निर्धारण तौल के ही आधार पर किया जाता था। निशीथ चूर्णी[3] में भी तुला का उल्लेख है। वणिक लोग बहुत चालाक होते थे। अतएव वे गलत तौल (कुडा तुला) और गलत परिमाप से ग्राहकों को धोखा भी देते थे।[4] हरिभद्र के पूर्वकाल में भी तुला बाट और परिमाण आदि का बराबर प्राप्त होता है।[5]

समराइच्च कहा में 'निओइय भाण्ड'[6] का उल्लेख है जिससे स्पष्ट होता है कि वस्तुओं का मूल्य निर्धारण तौल के साथ-साथ माप से भी किया जाता था।

सिक्के

समराइच्च कहा में दीनार नामक सिक्के का उल्लेख कई बार आया है।[7] इस सिक्के का व्यवहार सख्या में किया जाता था।[8] आपसी लेन-देन अथवा वस्तुओं के क्रय विक्रय में इन सिक्कों का प्रयोग किया जाता था। प्राचीन काल में दीनार ग्रीक से लिया गया लटिन का 'देनरियस' था, जो एक प्रकार का चादी का सिक्का था।[9] किन्तु सस्कृत शब्द कोशो में इसे एक स्वर्ण सिक्का

---

१ बृहत्कल्प भाष्य १ ३०६६।

२ सम० क० १, पृ० ६२ ३, पृ० २१२।

३ निशीथ चूर्णी १, पृ० १४४ ४ पृ० १११, धरिम य तुलाए धरिजति।

४ वही १ पृ० ११५।

५ पतजलि महाभाष्य ४ ४ ११, काशिका० ३ ३, ५७।

६ सम० क० ६, पृ० ५३९, देखिए—निशीथ चूर्णी १, पृ० ११५—कुदामन।

७ वही २, पृ० ११४, ३, १७१ ४, २६७ ६, ५०९ ८, ७४६।

८ वही २ पृ० ११४, ८, पृ० ७४६।

९ ल्लन जी गोपाल—एकोनामिक लाइफ आफ नार्दन इण्डिया पृ० २०९।

सूचित होता ह कि वस्त्र-कपास सन अनाज आदि का क्रय विक्रय दूरस्थ ्यापारिक केन्द्रा के साथ-साथ इन हाटा (बाजारों) में भी होता था।

मार्ग

हरिभद्र कालान भारत में हाट¹ में जाने-आने की सुविधा के लिए चौरस एव विस्तत माग थे।² इन मार्गों का प्रबन्ध एव मरम्मत सभवत राज्य की तरफ से किया जाता था जिसम व्यापारिक वग तथा अन्य लागों के आवागमन की सुविधा रहे।

वाहन

हाटा स ्यापारिक सामग्रिया को ले आने तथा ल जाने की सुविधा क लिए बल गाडी³ का प्रयोग हाता था। मनुस्मृति में गाडी का उल्लेख ह जिसे बल, खच्चर, भस आदि खीचते थ।⁴ निशीथ चूर्णी में भी ्यापारिक सामग्री ढोने क लिए गाडी का उल्लेख ह।⁵ ये बैल गाडियाँ निजी तथा भाडा कमाने वाली (किराये पर बोझ ढान वाली) होती थी।⁶ चाहमान अभिलेख में ्यापारिक सामग्री ढोन वाली बलगाडी का उल्लेख ह।⁷

दूरस्थ प्रदेशों स ्यापार के लिए साथवाह की अध्यक्षता में ्यापारिया का साथ⁸ चला करता था। उस साथ में भार-वाहक तथा गाडी रथ आदि खीचने के लिए हाथी घोडे बल खच्चर ऊँट आदि जानवरा का उपयोग हाता था।⁹

---

१ सम० क० ४, पृ० २६०, ७ पृ० ७१४–७१६॥
२ वही ९ प० ८५८॥
३ वही ४ प० ३५५, ७ प० ८५० देखिए–उपमितिभव प्रपचा कथा प० ८६७–६८।
४ श्रान मनु० ८ २९०।
५ निशीथ चूर्णी ४ प० १११–अणुरगा णामघसिआ तथा ३, प० ९९— अणुरगा गडडी।
६ सम० क० पृ० ३३५।
७ इपि० इडि० ११ पृ० ३७ और ४३।
८ सम० क० ४ प० २४२, ६ प० ५०४ ५०९ ५११ १२ ५३५, ५३७, ५५३ ५५४५५ ७ पृ० ६५६ ६५८ ६६६ ६७, ६७२, देखिए— तिलकमजरी, पृ० ११७, पतजलि–महाभाष्य १, १, ७४ पृ० ४६३— 'कश्चित कांतार समुपस्थिते साथमुपादत्त तथा २ २, २४, पृ० ३७०।
९ निशीथ चूर्णी ३ पृ० ९९ 'हत्थि तुरगादि गमेव जाण ४ पृ० १११, २ पृ० ९ त्रिशष्टि शलाका पुरुष चरित्र १, ७।

वहत्कल्प भाष्य[1] में पाँच प्रकार के सार्थों का उल्लेख है यथा-गाडियों और छकड़ों से माल ढोने वाले (मडी), ऊँट खच्चर बैल आदि से माल ढोने वाले (वहिलग) अपना माल स्वय ढोने वाले (भारवह) अपनी आजीविका के योग्य द्रव्य लेकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर भ्रमण करने वाले (आदरिया) और कापटिक (कप्पडिय) साधुओ का साथ।

तौल-माप

समराइच्च कहा में तराजू बाट[2] का उल्लेख हुआ है जिससे स्पष्ट होता है कि आधुनिक काल की तरह प्राचीन काल में भी वस्तुओं का क्रय विक्रय और उसका मूल्य निर्धारण तौल के ही आधार पर किया जाता था। निशीथ चूर्णी[3] में भी तुला का उल्लेख है। वणिक लोग बहुत चालाक होते थे। अतएव वे गलत तौल (कुडा तुला) और गलत परिमाप से ग्राहकों को धोखा भी देते थे।[4] हरिभद्र के पूर्वकाल में भी तुला बाट और परिमाण आदि का बराबर प्राप्त होता है।[5]

समराइच्च कहा में 'निओइय भाण्ड'[6] का उल्लेख है जिससे स्पष्ट होता है कि वस्तुओं का मूल्य निर्धारण तौल के साथ-साथ माप से भी किया जाता था।

सिक्के

समराइच्च कहा में दीनार नामक सिक्के का उल्लेख कई बार आया है।[7] इस सिक्के का व्यवहार सर्वथा में किया जाता था।[8] आपसी लेन-देन अथवा वस्तुओं के क्रय विक्रय में इन सिक्कों का प्रयोग किया जाता था। प्राचीन काल में दीनार ग्रीक से लिया गया लटिन का 'देनरियस' था, जो एक प्रकार का चाँदी का सिक्का था।[9] किन्तु सस्कृत शब्द कोशों में इसे एक स्वर्ण सिक्का

---

१ वहत्कल्प भाष्य १, ३०६६।
२ सम० क० १, पृ० ६२, ३, पृ० २१२।
३ निशीथ चूर्णी १, पृ० १४४ ४ पृ० १११ धरिम य तुलाए धरिजति।
४ वही १ पृ० ११५।
५ पतंजलि महाभाष्य ४ ४, ११, काशिका० ३, ३ ५२।
६ सम० क० ६, पृ० ५३९, देखिए—निशीथ चूर्णी १ पृ० ११५—कुडामन।
७ वही २, पृ० ११४ ३, १७१ ४, २६७, ६ ५०९, ८, ७४६।
८ वही २ पृ० ११४, ८ पृ० ७४६।
९ लल्लन जी गोपाल—एकोनामिक लाइफ आफ नादर्न इण्डिया, पृ० २००।

बताया गया है। राजतरंगिणी[1] में सोने, चांदी और तांबे के दीनारों का उल्लेख ह। निशीथ चूर्णी में दीनार का उल्लेख एक स्वण सिक्के के रूप में किया गया ह जिसका प्रचलन पूव देश में अधिक था।[2] एक अन्य स्थान पर मयूर से अंकित दीनारों का उल्लेख है।[3] गुप्तकाल म दो प्रकार के स्वण सिक्का का प्रचलन था, जिनमें प्रथम ता रोमन दीनैरस के वजन के बराबर था तथा दूसरा मनु का सुवण था।[4]

समराइच्च कहा में 'पोडस सुवण'[5] के उल्लेख से स्पष्ट होता ह कि दीनारा के अलावा सुवण का भी व्यवहार सख्या में किया जाता था, जिसकी पुष्टि गुप्तकाल में प्राप्त सिक्कों से की जा सकती ह।[6] पूवकाल में कुषाण और गुप्तो के शासन काल में स्वण सिक्का का पचलन था। अनेक शताब्दियों तक कोई सोने के सिक्के नहीं बन। इस काल में सवप्रथम गगेय देव (त्रिपुरी का कल्चुरी वंशज) ने सोने के सिक्के बनवाए जिसके स्वण सिक्के उपलब्ध हुए ह।[7] प्रथम चदेल राजा कीर्तिवमन ने भी स्वण सिक्के चलाए थे जो सख्या में कम थे।[8] रत्नपुर के कल्चुरी वशज पथ्वी देव, जज्जल देव और रत्न देव ततीय ने १३ ग्रेन स लेकर ६० ग्रेन तक के वजन के स्वण सिक्के चलाए थे।[9] उदयादित्य नामक परमार वश के शासक (१०६०–१०८७ ई०) ने स्वण सिक्के चलाए थे।[10] उत्तर प्रदेश के झाँसी जिले में सिद्धराज जयसिंह के चलाये गये सिक्के प्राप्त हुए ह।[11]

---

१ राजतरंगिणी ८७ ९५०।

२ निशीथ चूर्णी ३, पृ० १११ वहत्कल्प भाष्य वृत्ति २ पृ० ५७४।

३ वही ३ प० ३८८।

४ भण्डारकर—लेक्चस आन नुमिस्मेटिक्स प० १८३ तथा ब्राउन—दी क्वायन्स आफ इण्डिया प० ४५।

५ सम० क० ४ प० २४४ (पोडस सुवण), ५५८।

६ *लल्लन जी गोपाल—एकोनामिक लाइफ आफ नादन इण्डिया*, प० २०१।

७ २२ स्वण सिक्के–आजमगढ स–जनल आफ दी नुमिस्मेटिक सोसायटी आफ इण्डिया १७।१११, ३ स्वण सिक्के–कनिंघम–आर्कियालोजिकल सर्वे आफ इण्डिया, रिपाट स १०।२५, कापस इन्सक्रिप्सनम इंडिकेरम ४ पृ० CL XXXIII

८ इण्डियन ऐण्टीक्वेरी ३७ पृ० १४८।

९ जनल आफ दी एशियाटिक सोसाइटी आफ बगाल २६ (१९३०) न० ३५।

१० सी० आर० सिंहल—बिब्लियोग्राफी आफ इण्डियन क्वायन्स प्लेट १ प० ९६।

११ वही प० ९६।

धर्मशास्त्र में ७० रूपक को १ सुवर्ण के बराबर तथा २८ रूपक (चाँदी) का १ दीनार के बराबर बताया गया है।[1] इस प्रकार दीनार और सुवर्ण सिक्के के मूल्य में २५ का सम्बन्ध था।

प्रादेशिक व्यापार-केन्द्र

छोटे एवं बड़े स्थानीय हाटों के अलावा भारत के व्यापारी व्यापार के निमित्त देश के अन्दर विभिन्न व्यापारिक केन्द्रों को भी जाया करते थे। ये व्यापारी अपनी सुविधा तथा जान माल की रक्षा के लिए सार्थ[2] बना कर चलते थे। समराइच्च कहा में अमरपुर के साथ लक्ष्मी निलय[3], सुशर्म नगर[4] वराट नगर[5] आदि के व्यापार का उल्लेख है। इसी प्रकार श्रीपुर से श्वेतविका[6] नामक व्यापारिक केन्द्र के बीच व्यापार का उल्लेख प्राप्त होता है। माकंदी का रहने वाला धरण उत्तरा-पथ के अचलपुर नामक प्रसिद्ध नगर में व्यापार के निमित्त जाता है और वहां से आठ गुना लाभ प्राप्त कर वापस लौटता है।[7] श्रावस्ती[8] तथा उज्जयिनी[9] नामक प्रसिद्ध व्यापारिक नगरों का वर्णन भी आया है जहां पर देश के विभिन्न भागों के व्यापारी व्यापार के निमित्त आते जाते रहते थे।

इस प्रकार के उल्लेखों से स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन काल में देश के अन्दर विभिन्न व्यापारिक केन्द्रों का आपसी व्यापार होता था जो मनुष्यों के उपयोग की विभिन्न सामग्रियों को देश के एक कोने से दूसरे कोने तक सुलभ करने का एक साधन था। व्यापारिक केन्द्रों में अमरपुर लक्ष्मी निलय सुशर्म नगर वराट नगर, श्रीपुर श्वेतविका, माकन्दी, अचलपुर, श्रावस्ती तथा

---

१ पी० वी० काणे—हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र भाग ३, पृ० १२२।
२ सम० क० ४, पृ०—२४२, ६ ५०४–५११–१२, ५३५–३६, ५५३ ५४ ५५ ५६ ५५८, ५६६ ६७, ५७२।
३ वही ३ पृ० १७२।
४ वही ४ पृ० २४० ४१ २५६, २६१, २८७।
५ वही ४, पृ० २८५।
६ वही ५ पृ० ३९८ ९९।
७ वही ६ पृ० ५१०।
८ वही० ४, पृ० २५७ २८६–८७ देखिए यन० सी० बन्द्योपाध्याय—एकानामिक लाइफ एण्ड प्राग्रस इन ऐंसियण्ट इण्डिया, पृ० २२१ २२।
९ वही ९, पृ० ८५८, देखिए वही, पृ० २२१ २२२।

उज्जयिनी आदि प्रसिद्ध नगर थे। ताम्रलिप्ति[1] तथा वैजयन्ती नामक प्रसिद्ध बन्दरगाहों से भी देश के व्यापारी स्थल मार्गों से व्यापार करते थे।

प्रादेशिक व्यापार मार्ग

समराइच्च कहा के पात्र देश के अन्दर स्थल मार्गों द्वारा विभिन्न व्यापारिक केन्द्रों में व्यापार के निमित्त आते जाते दिखाई देते है। ये व्यापारी अपने जान माल की सुरक्षा तथा अन्य सभी प्रकार की सुविधाओं के लिए साथ (साथ अर्थात साथ अथवा झुण्ड) बनाकर चला करते थे।[3] यह साथ व्यापारियों का कारवाँ था जो देश के एक छोर से दूसरे छोर तक चला करता था। उस साथ का नेता सार्थवाह कहलाता था जिसकी अध्यक्षता में व्यापारिक झुण्ड दूरस्थ प्रदेशों को जाता था[4]। समराइच्च कहा में नगर एवं हाटों के मार्ग[5] का तो उल्लेख है, पर इन दूरस्थ प्रदेशों को जाने वाले मार्गों अथवा सडको का उल्लेख नहीं है। इतना अवश्य पता चलता है कि इन व्यापारियों को दुर्गम मार्ग से होकर जाना पडता था[6] जिसे पार करने के लिए उन्हें कठिनाइयो का सामना करना पड़ता था। मार्ग में चलते समय चोर डाकुओं के भय के कारण ये व्यापारी अपने साथ सशस्त्र सुरक्षा दल भी लेकर चलते थे।[7]

मार्ग में यात्रा करते हुए ये व्यापारी विश्राम के लिए पडाव डालते थे जहाँ अपनी सुविधा के लिए कपडों के तम्बू डालकर उसके नीचे विश्राम करते थे।[8] कभी-कभी उनके विश्राम स्थल पर लूटपाट मचाने वाले शबरों के आक्रमण भी होते थे जिनमे आयुधधारी सुरक्षा दल को युद्ध करना पडता था।[9]

---

१ सम० क० ४ पृ० २४०–४१–४२, ५ पृ० ३६७–६८–६९, ७ पृ० ६५२–५३–५४।

२ वही ६ पृ० ५३९।

३ वही ४ पृ० २४२ ६ पृ० ५०४, ५०९, ५११–१२, ५३५, ५३७, ५५३–५५४–५५, ७ ६५६ ६५८ ६६६–६७, ६७२ देखिए—त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित १ पृ० ७॥

४ निशीथ चूर्णी २ पृ० ४६९, अनुयोग द्वार चूर्णी, पृ० ११ बृहत्कल्पभाष्य वृत्ति १०४०।

५ सम० क० ९, पृ० ८५८, निशीथ चूर्णी में ३ पृ० ४९८ ५०२ (यहाँ *नगरों में राजमार्ग, द्वि मार्ग त्रिमार्ग चौकत (चौराहा) आदि का उल्लेख है।*)

६ वही ६, पृ० ५११–१२, ७ ६५६ ६५८॥

७ वही ६ पृ० ५११–१२ ७, पृ० ६५६॥

८ वही ७, पृ० ६५६॥

९ वही ६ पृ० ५११–१२॥

युद्ध में कमजोर पड़ने पर इन व्यापारियों का सुरक्षा दल, स्त्री-बच्चे आदि नष्ट हो जाते और साथ भी लुट जाता था।[1] व्यापारियों के ये मार्ग अधिकतर जंगली एवं पहाड़ी होते थे जो भयानक एवं असुरक्षित थे। इसी कारण उन्हें काफी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। अन्य साहित्यिक साक्ष्यों में भी व्यापारिक यात्रा सम्बन्धी कठिनाइयों का उल्लेख है।[2] सन्देश रासक[3] में मार्गों को दुर्गम एवं भयावह बताया गया है। चीनी यात्री ह्वेनसांग भी मार्ग में डाकुओं द्वारा लूट लिया गया था।[4]

यद्यपि समराइच्च कहा में नगरों एवं हाटों के अलावा दूरस्थ प्रदेशों तक जाने वाले मार्गों एवं सड़कों का उल्लेख नहीं है फिर भी अन्य ग्रंथों में माल ले जाने तथा ले आने के लिए छोटी तथा लम्बी सड़कों का उल्लेख है।[5] देशीनाममाला में रथ्य[6] (लम्बा मार्ग अथवा सड़क) और लघुरथ्य[7] (छोटी सड़क) का उल्लेख किया गया है। समरांगणसूत्रधार[8] में भी कई प्रकार की सड़कों का विवरण प्राप्त होता है जो नगर के बाहर जाती थी। बहुत से भूमि दान में दान दी गयी भूमि की सीमा बाँधने के ध्येय से लम्बी सड़कों का उल्लेख है।[9]

प्राचीन काल में यद्यपि सड़कें बहुत कम थी और जो थी भी वह अच्छी नहीं थी। त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित[10] में उल्लिखित है कि वर्षा के समय व्यापारियों का सड़कों से होकर चलना दूभर हो जाता था। उनके ऊँट फिसलकर गिर पड़ते थे। कीचड़ में बैल तथा खच्चर आदि फँस जाते थे। उपमितिभव प्रपंचा कथा[11] से पता चलता है कि सड़कें चौरस तथा समतल न होने के कारण उन पर

---

१ सम० क० ७, पृ० ६१६–६५८।

२ निशीथ चूर्णी ३, पृ० ५२७, ४, पृ० ११८ कुट्टनीमतम पंक्ति २१८–२९, उपमितिभव प्रपंचा कथा, पृ० ६६३, ८६३ कथाकोष, पृ० २०७, राजतरंगिणी ७, १००९।

३ सदेशरसक पंक्ति ११७— मग्गुदुग्गमू सभाउ'।

४ दी लाइफ पृ० ६०, ७३, ८६ १९८।

५ वैजयन्ती २ ३१–३३, अभिधानरत्नमाला, पंक्ति २८९।

६ देशीनाममाला ३, ३१, ४ ८ ६ ३९, ७ ५५, ८ ६ १ १४५।

७ वही ३ ३१।

८ समरांगण सूत्रधार १, पृ० ३९, पंक्ति ६–१४।

९ कामरूप शासनावली पृ० १८०।

१० त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित १ पृ० ७१।

११ उपमितिभवप्रपंचा कथा पृ० ८६३— विषम मार्गा'।

उज्जयिनी आदि प्रसिद्ध नगर थे। ताम्रलिप्ति[2] तथा वैजयन्ती नामक प्रसिद्ध बन्दरगाहों से भी देश के व्यापारी स्थल मार्गों से व्यापार करते थे।

प्रादेशिक व्यापार मार्ग

समराइच्च कहा के पात्र देश के अन्दर स्थल मार्गों द्वारा विभिन्न व्यापारिक केन्द्रों में व्यापार के निमित्त आते जाते दिखाई देते हैं। ये व्यापारी अपने जान माल की सुरक्षा तथा अन्य सभी प्रकार की सुविधाओं के लिए साथ (साथ अर्थात साथ अथवा झुण्ड) बनाकर चला करते थे।[3] यह साथ व्यापारियों का कारवाँ था जो देश के एक छोर से दूसरे छोर तक चला करता था। उस साथ का नेता साथवाह कहलाता था जिसकी अध्यक्षता में व्यापारिक झुण्ड दूरस्थ प्रदेशों को जाता था[4]। समराइच्च कहा में नगर एवं हाटों के मार्ग[5] का तो उल्लेख है, पर इन दूरस्थ प्रदेशों को जाने वाले मार्गों अथवा सडकों का उल्लेख नहीं है। इतना अवश्य पता चलता है कि इन व्यापारियों को दुगम मार्ग से होकर जाना पडता था[6] जिसे पार करने के लिए उन्हें कठिनाइयों का सामना करना पडता था। मार्ग में चलते समय चोर डाकुओं के भय के कारण ये व्यापारी अपने साथ सशस्त्र सुरक्षा दल भी लेकर चलते थे।[7]

मार्ग में यात्रा करते हुए ये व्यापारी विश्राम के लिए पडाव डालते थे जहाँ अपनी सुविधा के लिए कपडों के तम्बू डालकर उसके नीचे विश्राम करते थे।[8] कभी-कभी उनके विश्राम स्थल पर लूटपाट मचाने वाले शबरों के आक्रमण भी होते थे जिनसे आयुधधारी सुरक्षा-दल को युद्ध करना पडता था।[9]

---

१ सम० क० ४ पृ० २४०–४१–४२, ५ पृ० ३६७–६८–६९, ७, पृ० ६५२–५३–५४।

२ वही ६ पृ० ५३९।

३ वही ४ पृ० २४२ ६ पृ० ५०४, ५०९ ५११–१२ ५३५, ५३७, ५५३–५५४–५५, ७ ६५६ ६५८ ६६६–६७, ६७२, देखिए—त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित १ पृ० ७॥

४ निशीथ चूर्णी २ पृ० ४६०, अनुयोग द्वार चूर्णी, पृ० ११, बृहत्कल्पभाष्य वृत्ति १०४०।

५ सम० क० ९, पृ० ८५८ निशीथ चूर्णी में ३, पृ० ४९८ ५०२ (यहाँ नगरों में राजमार्ग द्विमार्ग त्रिमार्ग चौक (चौराहा) आदि का उल्लेख है।)

६ वही ६, पृ० ५११–१२ ७ ६५६ ६५८॥

७ वही ६ पृ० ५११–१२ ७, पृ० ६५६॥

८ वही ७ पृ० ६५६॥

९ वही ६ पृ० ५११–१२॥

युद्ध में कमजोर पड़ने पर इन व्यापारियों का सुरक्षा-दल, स्त्री-बच्चे आदि नष्ट हो जाते और साथ भी लूट जाता था।[1] व्यापारियों के ये मार्ग अधिकतर जंगली एवं पहाड़ी होते थे जो भयानक एवं असुरक्षित थे। इसी कारण उन्हें काफी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। अन्य साहित्यिक साक्ष्यों में भी व्यापारिक यात्रा सम्बन्धी कठिनाइयों का उल्लेख है।[2] सन्देश-रसक[3] में मार्गों को दुर्गम एवं भयावह बताया गया है। चीनी यात्री ह्वेनसांग भी मार्ग में डाकुओं द्वारा लूट लिया गया था।[4]

यद्यपि समराइच्च कहा में नगरों एवं हाटों के अलावा दूरस्थ प्रदेशों तक जाने वाले मार्गों एवं सड़कों का उल्लेख नहीं है फिर भी अन्य ग्रंथों में माल ले जाने तथा ले आने के लिए छोटी तथा लम्बी सड़कों का उल्लेख है।[5] देशी नाममाला में रथ्य[6] (लम्बा मार्ग अथवा सड़क) और लघुरथ्य[7] (छोटा सड़क) का उल्लेख किया गया है। समरांगणसूत्रधर[8] में भी कई प्रकार की सड़कों का विवरण प्राप्त होता है जो नगर के बाहर जाती थीं। बहुत से भूमि दान में दान दी गयी भूमि की सीमा बाँधने के ध्येय से लम्बी सड़कों का उल्लेख है।[9]

प्राचीन काल में यद्यपि सड़कें बहुत कम थीं और जो थीं भी वह अच्छी नहीं थीं। त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित[10] में उल्लिखित है कि वर्षा के समय व्यापारियों का सड़कों से होकर चलना दूभर हो जाता था। उनके ऊँट फिसलकर गिर पड़ते थे। कीचड़ में बैल तथा खच्चर आदि फँस जाते थे। उपमितिभव प्रपंचा कथा[11] से पता चलता है कि सड़कें चौरस तथा समतल न होने के कारण उन पर

---

१ समः कः ७ पृ० ६१६–६५८।

२ निशीथ चूर्णी ४, पृ० ५२७ ४ पृ० ११८, कुट्टनीमतम, पंक्ति २१८–२९, उपमितिभव प्रपंचा कथा, पृ० ६६३ ८६३, कथाकोष, पृ० २०७, राजतरंगिणी ७ १००९।

३ सदेशरसक पंक्ति ११७— मग्गुदुग्गमू सभाउ'।

४ दी लाइफ, पृ० ६०, ७३, ८६ १९८।

५ वजयन्ता २ ३१–३३, अभिधानरत्नमाला पंक्ति २८९।

६ देशीनाममाला ३, ३१, ४ ८ ६, ३९ ७ ५५, ८, ६, १, १४५।

७ वही ३ ३१।

८ समरांगण सूत्रधर १, पृ० ३९, पंक्ति ६–१४।

९ ग्रामरूप शामनावली, पृ० १८०।

१० त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित १ पृ० ७।

११ उपमितिभवप्रपंचा कथा, पृ० ८६३—'विषम मार्गा'।

यात्रा करना आसान काम नहीं था। त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित[1] में एक अन्य स्थान पर उल्लेख है कि एक सेना को अपने अभियान के समय मार्ग में पड़ने वाले वृक्षादि को काट कर सुगम पथ बनाना पड़ा था।

कहीं-कहीं यात्रियों की सुविधा के लिए नगर से बाहर मार्गों पर राज्य की ओर से पानी पीने का प्रबन्ध किया जाता था।[2] अबूजईद हसन ने लिखा है कि सड़कों के किनारे यात्रियों की सुविधा के लिए सराएँ बनवाई गयी थीं।[3] प्रबन्धचिन्तामणि[4] में उल्लेख है कि बुद्धिमान तथा प्रजा पालक राजाओं द्वारा सड़कों पर यात्रियों की सुविधा के लिए सत्रागार (आरामदेह गृह) का निर्माण कराया जाता था। किन्तु समराइच्च कहा में ऐसा उल्लेख नहीं है।

ऊपर के विवरण एवं साक्ष्यों से स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारत में निकटस्थ स्थानों को जाने वाले मार्गों में सुख-सुविधा थी किन्तु दूरस्थ व्यापारिक केन्द्रों को जाने वाले मार्ग सुविधाजनक एवं सुरक्षित नहीं थे, क्योंकि यात्रियों को अधिकतर वन्य प्रदेशों तथा पहाड़ी स्थलों को पार करके जाना पड़ता था, जहाँ उनके जान-माल का खतरा पैदा हो जाता था।

व्यापार-सामग्री

समराइच्च कहा में हाथी दाँत का व्यापार, रस वाणिज्य, लाख, चँवर और विष वाणिज्य[5] का वर्णन प्राप्त होता है। इसके साथ-साथ धन धान्य हिरण्य सुवर्ण, मणि-मुक्ता प्रवाल द्विपद (पक्षी) चतुष्पद[6] (अर्थात अश्व, हस्ति गाय बैल बकरी आदि चार पैर वाले पशुओं) के उल्लेख से भी स्पष्ट होता है कि इनका भी क्रय विक्रय प्रासंगिक व्यापारिक केन्द्रों में होता था। निशीथ चूर्णी में व्यापारिक सामग्रियों को चार भागों में विभाजित किया गया है।[7] यथा—गणिम

---

1 त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित ४ पृ० ३२५।
2 तिलक मजरी पृ० ११७।
3 अबू जईद हसन—ऐंशियन्ट एकाउन्टस आफ इंडिया एण्ड चाइना पृ० ८७।
4 प्रबन्धचिन्तामणि, पृ० १०६।
5 सम०क० १, पृ० ६३।
6 वही १ पृ० ३९।
7 निशीथ चूर्णी ४ पृ० १११—दव्व विहाणं पुण गणिमादि चउव्विध गणिम धरिमं च मेयं च पारिच्छं गणिमादि मेय पुण तुलाए निगर्ति पारिच्छ पारिच्छं रयणमादियादि, १, प० १११ देखिए—कल्पसूत्रमाला वृत्ति ३, पृ० ८६४, णायाधम्म कहा ८, पृ० ९८।

(गणना करने योग्य) पूगफल आदि, धरिम (जो तौली जा सके) खाँड शक्कर पिप्पल आदि, परिमाप करने योग्य वस्तुएँ यथा—घी, चावल आदि और चौथी प्रकार की पारिच्छ (परीक्षण) करके क्रीत वस्तु यथा रत्न, हीरा, मोती आदि। अत निशीथ चूर्णी के उल्लेख से पता चलता है कि कुछ व्यापारी तो केवल खाद्य सामग्री का ही व्यापार करते थे, यथा चावल, गेहूँ, तेल मक्खन[1] आदि। पूर्वी भारत के कपड़े लाट देश में मँहगे दामों पर बेचे जाते थे।[2] निशीथ चूर्णी में उल्लिखित है कि पिप्पली, हरिताल मनासिला, लवण आदि सामग्रियाँ सैकड़ो योजन दूर से मगाई जाती थी।[3]

वैदेशिक व्यापार-केन्द्र

समराइच्च कहा में उल्लिखित है कि तत्कालीन बड़े-बड़े भारतीय व्यापारी व्यापार के निमित्त भारत से बाहर जाया करते थे।[4] यहाँ के व्यापारी अधिक लाभ की लालसा से समुद्री मार्गों से होकर जलयानों द्वारा विभिन्न द्वीपो को जाया करते थे।[5] समराइच्च कहा के पात्र वजयन्ती[6] तथा ताम्रलिप्ति[7] नामक प्रसिद्ध बन्दरगाहों से भारत के बाहर महाकटाह[8] द्वीप, चीन द्वीप[9] सिंहल द्वीप[10], सुवर्ण द्वीप[11] और रत्न द्वीप[12] आदि के लिए प्रस्थान करते थे।

इन द्वीपों व देशान्तर में वे अपने व्यापारिक माल बेच कर यथेष्ट लाभ प्राप्त कर अपने देश के लिए उपयुक्त व्यापारिक सामग्री खरीद कर वापस आते

---

१ निशीथ चूर्णी ४, पृ० १११, बृहत्कल्पभाष्य वृत्ति ३, पृ० ८६४।

२ वही २, पृ० ९४, बृहत्कल्पभाष्य वृत्ति ४, पृ० १०६८।

३ वही ३, पृ० ५१६—हरितालमणासिला जहा लोण—एते पिप्पलिमादिणो जायण सताता आगया वि जे हरीतक्किमादिणो आतिण्णा त घेप्पति, तथा बृहत्कल्पभाष्य वृत्ति २, पृ० ३०६।

४ सम०क० ५, पृ० ४९८।

५ वही ४ पृ० २४६, २५१, २६८, ६ ५३९–४०, ५४२–४३–४४, ५५१, ५५५, ७, ६१३।

६ वही ६ पृ० ५३९।

७ वही ४ पृ० २४०–४१–४२, ५, ३६७–६८ ६९, ७, ६५२–५३–५४।

८ वही ८, पृ० २५० २५९, ५, पृ० ४२६–२७ ७, ६१३।

९ वही ६ पृ० ५४० ५५१–५२, ५५५।

१० वही ४, पृ० २५४ ५, ४०३, ४०७ ४२०।

११ वही ५ पृ० ३०७–९८ ६, पृ० ५४०, ५४३।

१२ वही २ पृ० १२६, ६ ५४४–४५।

थे। कभी-कभी व्यापार की अनुमति प्राप्त करने क लिए वहाँ के राजा को भेंट आदि प्रदान करते थे जिससे वे (व्यापारी) कर मुक्त हो जाते थे।[1]

अन्य स्रोतों से भी पता चलता ह कि भारत का व्यापार बाह्य देशा स चला करता था। ६०७ ई० में चीना सम्राट ने समुद्री माग स ची-तु (स्याम) स व्यापारिक सम्बन्ध बनाने का स देश भेजा था। ६५६–६५८ ई० में भारत के बहुत स प्रदेश यथा—चान-पा (चम्पापुर) कान चिह फा (काँचापुर), सिह ली चुन (सभवत चालुक्य राज्य) और मोला (मलाया) आदि ने चीन दश स व्यापारिक समझौता के लिए अधिकारिक सम्बन्ध स्थापित किये थे।[3] वृहत्कथा मजरी में उल्लिखित ह कि भारतीय व्यापारी कटाक्ष द्वीप (सभवत कटाह द्वीप) का जात थ।[4] वहत्कथा श्लोकसग्रह तथा कथाकोष[5] में भारतीय व्यापारियो द्वारा सुवण द्वीप जाने का उल्लेख प्राप्त होता ह। हरिषेण द्वारा रचित वहत्कथा कोष में भारतीय व्यापारियों द्वारा सुवण द्वीप[6] तथा रत्नद्वीप[7] जाने का उल्लेख ह।

कथा-सरित्सागर की कहानिया में सुवण द्वीप तथा कटाह द्वीप से व्यापार का वणन प्राप्त हाता ह और उस कहानी का एक पात्र अपने पुत्र तथा छोटी बहन को खोजने के लिए नारिकेल द्वीप, कटाह द्वीप, सुवण द्वीप और सिंहल द्वीप को जाने वाले व्यापारियों से मिलता ह।[8] सातवी शताब्दी में धमपाल नामक बौद्ध भिक्षु ने बगाल स सुवण द्वीप को प्रस्थान किया था।[9]

फाहियान के समय म ताम्रलिप्ति से सुमात्रा जाने के लिए एक जहाज लका आया था।[10] कथासरितसागर[11] में भी भारतीय व्यापारियों द्वारा लका

---

१ सम० क० ६ प० ५०९ ५५१, ५६२ देखिये—नाताधमकथा ८, प० १०२ तथा—प्रतिपाल भाटिया—परमाराज पृ० ३०४।
२ चाऊ जु-कुआ पृ० ७–८।
३ जनल आफ दी मलाया ब्राच आफ दी रायल एशियाटिक सोसायटी ३२, भाग २, प० ७४–७५।
४ वहत्कथा मजरी २, प० १८३।
५ वहत्कथा श्लोकसग्रह १८ ४२८ कथाकोष पृ० २९।
६ वहत्कथा कोष ५३ ३।
७ वही ७८, ८२।
८ आर० सी० मजमदार—सुवण द्वीप १, पृ० ३७–३८ ५१–५२।
९ इण्डियन हिस्टारिकल क्वाटरली १३ ५९३ ५९६।
१० लीग प० १००।
११ कथासरितसागर (टानी), ६, पृ० २११।

जाने का उल्लेख प्राप्त होता है। आठवीं शताब्दी में लंका के एक अभिलेख में भारतीय व्यापारियों द्वारा लंका से व्यापार किये जाने का उल्लेख है।[१]

ताम्रलिप्ति नामक प्रसिद्ध बन्दरगाह से सुवर्ण द्वीप, कटाह द्वीप आदि को भारतीय व्यापारिक जहाज आते जाते थे।[२] ताम्रलिप्ति के अलावा भारत के पूर्वी तट पर पाटमपुरी, कलिंग अथवा कलिंग पाटम, चिकाकोल, वानपुर और रामेश्वर आदि बन्दरगाह व्यापार के केन्द्र माने जाते थे।[३]

वैदेशिक व्यापार-सामग्री

समराइच्च कहा के पात्र विभिन्न द्वीपों में व्यापार के योग्य निर्यात की जाने वाली वस्तुएं लेकर जाते थे। समराइच्च कहा में व्यापारियों द्वारा भाण्ड ले जाने का उल्लेख है।[४] ये भाण्ड विभिन्न धातुओं सिक्कों एवं अन्य प्रकार की सामग्रियों के होते थे। स्वर्ण भाण्ड[५], रत्न भाण्ड[६] आदि से स्पष्ट होता है कि बाहरी देशों से स्वर्ण रत्न, मणि मुक्ता आदि का आयात होता था। रत्नद्वीप से रत्न तथा सुवर्ण भूमि से स्वर्ण प्राप्ति का वर्णन इस बात को सिद्ध करता है कि उन उन द्वीपों से क्रमशः रत्न और स्वर्ण का आयात होता था। समराइच्च कहा में इस बात का उल्लेख नहीं किया गया है कि कौन कौन सी वस्तुओं का आयात निर्यात होता था।

इब्नखुर्दव ने भारत से निर्यात की जाने वाली विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का उल्लेख किया है यथा मुसब्बर की लकड़ी चंदन की लकड़ी, कपूर और कपूर का पानी जायफल, नारियल साग-सब्जियां, मसमल तथा सूती वस्त्र एवं हाथी दांत के बने सामान आदि।[७] मार्कोपोलो के अनुसार भारतीय व्यापारी अपने साथ मसाले कीमती पत्थर, मोती सिल्क के कपड़े और सोना आदि व्यापारिक सामग्री लेकर चलते थे।[८] मार्कोपोलो आगे लिखता है कि भारत चीन देश से सिल्क के कपड़े तथा सोना आदि प्राप्त करता था।[९] भार

१ जर्नल आफ दी एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल १९३५, पृ० १२।
२ बृहत्कथा श्लोकसंग्रह १८ १७६, बृहत्कथा मंजरी २, १८३।
३ टी० सी० दास गुप्त–ऐस्पेक्ट आफ बंगाली सोसायटी पृ० ३०।
४ सम० क० ४, पृ० २४० ४१ ४२, २४७ २८६ ८७।
५ वही ४, पृ० २८३ ६, ५५१, ५५८ ५६१।
६ वही ६ पृ० ५८६ ८७।
७ फेरण्ड टेक्स्टस पृ० ३१।
८ मार्कोपोलो १ १०७।
९ वही २, ३९०, २ २४, १३२, १५२, १५७, १७६, १८१।

थे। कभी-कभी व्यापार की अनुमति प्राप्त करने के लिए वहाँ के राजा को भेंट आदि प्रदान करते थे जिससे वे (व्यापारी) कर मुक्त हो जाते थे।[1]

अन्य स्रोतों से भी पता चलता है कि भारत का व्यापार बाह्य देशों से चला करता था। ६०७ ई० में चीनी सम्राट ने समुद्री मार्ग से ची-तु (स्याम) से व्यापारिक सम्बन्ध बनाने का सन्देश भेजा था।[2] ६५६-६५८ ई० में भारत के बहुत से प्रदेश यथा—चान-पा (चम्पापुर), कान चिह फा (कांचीपुर) सिट ली-चुन (सम्भवत चालुक्य राज्य) और माला (मलाया) आदि ने चीन देश से व्यापारिक समझौता के लिए अधिकारिक सम्बन्ध स्थापित किये थे।[3] बृहत्कथा मंजरी में उल्लिखित है कि भारतीय व्यापारी कटाक्ष द्वीप (सम्भवत कटाह द्वीप) को जाते थे।[4] बृहत्कथा श्लोकसंग्रह तथा कथाकोष[5] में भारतीय व्यापारियों द्वारा सुवर्ण द्वीप जाने का उल्लेख प्राप्त होता है। हरिषेण द्वारा रचित बृहत्कथा कोष में भारतीय व्यापारियों द्वारा सुवर्ण द्वीप[6] तथा रत्नद्वीप[7] जाने का उल्लेख है।

कथा-सरित्सागर की कहानियों में सुवर्ण द्वीप तथा कटाह द्वीप से व्यापार का वर्णन प्राप्त होता है और उस कहानी का एक पात्र अपने पुत्र तथा छोटी बहन को खोजने के लिए नारिकेल द्वीप, कटाह द्वीप सुवर्ण द्वीप और सिंहल द्वीप को जाने वाले व्यापारियों से मिलता है।[8] सातवीं शताब्दी में धर्मपाल नामक बौद्ध भिक्षु ने बंगाल से सुवर्ण द्वीप को प्रस्थान किया था।[9]

फाहियान के समय में ताम्रलिप्ति से सुमात्रा जाने के लिए एक जहाज लंका आया था।[10] कथासरित्सागर[11] में भी भारतीय व्यापारियों द्वारा लंका

---

१ सम० क० ६ पृ० ५०९ ५५१, ५६२ देखिये—नायाधम्मकहा, ८, पृ० १०२ तथा—प्रतिपाल भाटिया—परमाराज पृ० ३०४।
२ चाऊ जु-कुआ पृ० ७-८।
३ जर्नल आफ दी मलाया ब्रांच आफ दी रायल एशियाटिक सोसायटी ३२, भाग २, पृ० ७४-७५।
४ बृहत्कथा मंजरी २, पृ० १८३।
५ बृहत्कथा श्लोकसंग्रह १८, ४२८ कथाकोष, पृ० २९।
६ बृहत्कथा कोष ५३ ३।
७ वही ७८ ४२।
८ आर० सी० मजूमदार—सुवर्ण द्वीप १, पृ० ३७-३८, ५१-५२।
९ इण्डियन हिस्टारिकल क्वाटरली १३, ५९३ ५९६।
१० लीग पृ० १००।
११ कथासरित्सागर (टानी) ६, पृ० २११।

जाने का उल्लेख प्राप्त होता है। आठवीं शताब्दी में लंका के एक अभिलेख में भारतीय व्यापारियों द्वारा लंका में व्यापार किये जाने का उल्लेख है।[1]

ताम्रलिप्ति नामक प्रसिद्ध बन्दरगाह से सुवर्ण द्वीप, कटाह द्वीप आदि का भारतीय व्यापारिक जहाज आते जाते थे।[2] ताम्रलिप्ति के अलावा भारत के पूर्वी तट पर पाटमपुरी, कलिंग अथवा कलिंग पाटम, चिकाकोल, वानपुर और रामश्वर आदि बंदरगाह व्यापार के केन्द्र माने जाते थे।[3]

वैदेशिक व्यापार-सामग्री

समराइच्च कहा के पात्र विभिन्न द्वीपों में व्यापार के योग्य निर्यात की जाने वाली वस्तुएँ लेकर जाते थे। समराइच्च कहा में व्यापारियों द्वारा भाण्ड ले जाने का उल्लेख है।[4] ये भाण्ड विभिन्न धातुओं सिक्कों एवं अन्य प्रकार की सामग्रियों के होते थे। स्वर्ण भाण्ड[5], रत्न भाण्ड[6] आदि से स्पष्ट होता है कि बाहरी देशों से स्वर्ण, रत्न मणि मुक्ता आदि का आयात होता था। रत्नद्वीप से रत्न तथा सुवर्ण भूमि से स्वर्ण प्राप्ति का वर्णन इस बात को सिद्ध करता है कि उन उन द्वीपों से क्रमश रत्न और स्वर्ण का आयात होता था। समराइच्च कहा में इस बात का उल्लेख नहीं किया गया है कि कौन-कौन-सी वस्तुओं का आयात निर्यात होता था।

इब्नखुरदद्‌ब ने भारत से निर्यात की जाने वाली विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का उल्लेख किया है यथा मुसन्दर की लकडी, चंदन की लकडी, कपूर और कपूर का पानी, जायफल, नारियल साग-सब्जियाँ, मखमल तथा सूती वस्त्र, एवं हाथी दांत के बने सामान आदि।[7] मार्कोपोलो के अनुसार भारतीय व्यापारी अपने साथ मसाले, कीमती पत्थर, मोती सिल्क के कपडे और सोना आदि व्यापारिक सामग्री लेकर चलते थे।[8] मार्कोपोलो आगे लिखता है कि भारत चीन देश से सिल्क के कपडे तथा सोना आदि प्राप्त करता था।[9] भार

१ जर्नल आफ दी एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल १९३५, पृ० १२।
२ बृहत्कथा श्लोकसंग्रह १८, १७६, बृहत्कथा मंजरी २, १८३।
३ टी० सी० दास गुप्त–ऐस्पेक्ट आफ बंगाली सोसायटी, पृ० ३०।
४ सम० क० ४, पृ० २४० ४१ ४२, २४७ २८६ ८७।
५ वही ४ पृ० २८३ ६ ५५१, ५५८, ५६१।
६ वही ६ पृ० ५८६ ८७।
७ फेरण्ड टेक्स्टस पृ० ३१।
८ मार्कोपोलो १ १०७।
९ वही २ ३९० २ २४ १३२ १५२ १५७, १७६, १८१।

तीय साहित्यों म भी चीनी सिल्क (चीनांशुक) का उल्लेख मिलता ह ।[१] वजयन्ती में भी चीनपटट[२] का उल्लेख ह । एक तामिल अभिलेख (ग्यारहवी शदी का) में उल्लिखित ह कि दक्षिणा भारत को चीन देश से साना प्राप्त होता था ।[३] मार्कोपोलो के अनुसार विदेशी व्यापारी जो आते थे वे अपने साथ साना, चाँदी, ताँबा आदि ले आते थे ।[४] वजयन्ती के अनुसार भी सुवण द्वीप को साने का केन्द्र माना जाता था और वहाँ से भारत के लिए सोना आता था ।[५] तिलकमजरी में उल्लिखित ह कि उपयुक्त द्वीपों में मणिरत्ना की खान साना, चाँदी और मोती आदि का उद्गम स्थान ह ।[६]

सामुद्रिक व्यापार वाहन

समराइच्च कहा में यान पात्र[७] (जल्यान) का उल्लेख कई बार किया गया ह । इन जलयाना (समुद्री जहाज) द्वारा भारतीय व्यापारा चीन द्वाप सिंहल द्वीप, सुवण द्वीप तथा महाकटाह द्वीप आदि बाह्य देशों का जाते तथा व्यापार करके वापस लौट आते थ । निशीथ चूर्णी म चार प्रकार के जलयानों का उल्लेख ह जिनमें एक सामुद्रिक मार्गों का तय करन के लिए प्रयुक्त समझा जाता था[८] तथा अन्य तान समुद्र के किनार तथा नदियों व झीलो के लिए प्रयुक्त थ ।[९] प्रथम प्रकार का यान सबसे बडा जलयान[१०] था जा सामुद्रिक रास्तों से देश विदेश को आया जाया करता था । इन जहाजा का रोकने क लिए लगर[११] का प्रयोग किया जाता था । ये जलयान पाला क सहारे हवा क वेग से चलाए

१ कुट्टनीमतम पक्ति ६६ ३४४ नषधीय चरित—२१ २ ।
२ वजय ती, प० ४३ १ ६० ।
३ जनल आफ दी नुमिस्मेटिक सोसायटी आफ इडिया २० १३ ।
४ मार्कोपोलो २ ३९५ ३९८ ।
५ वजयन्ती प० ४२ १।२१ ।
६ तिलक मजरी, पृ० १३३ ।
७ समा० क० ४, प० २४६ २५१, २६८ ६, ५३९ ४०, ५४२ ४३ ४४, ५५१–५५५ ।
८ निशीथ चूर्णी १, ६९—'वारिणी णावातारिमें उदगे चउरा ।'
९ वही ९, प० ६९ ।
१० वही १, पृ० ६९ नातधमकथा ९, १२३ १७ प० २०१ ।
११ सम० क० ४, पृ० २४६–४७ ६ ५३९ ४० ज्ञात धम कथा ८ प० ९८, आचाराग २।३, १।३४२ ।

जाते थे।[1] उनमें पतवार तथा डडे भी लगे रहते थे।[2] इन जलयानों के चालकों का निर्यामक कहा जाता था।[3] कभी-कभी समुद्री तूफानों में ये यान मग्न हो जाते थे और यात्रियों का काफी नुकसान उठाना पडता था, व स्वय फलकों (लडकी क पटर) आदि की सहायता स किसी प्रकार वच कर वाहर निकल पाते थे।[4]

समुद्र में तरने वाले जहाजा का नाव[5] पोत[6], प्रवहण[7] अथवा यानपट्ट[8] कहा जाता था। जैन ग्रन्थ अगविज्जा में प्राचीन भारत में चार प्रकार के जहाजा का उल्लेख ह।[9] इनमें नाव और पोत सवम वडे जहाज माने जाते थे। कोटियम्ब, सघाड प्लावा और तप्पक आदि कुछ छाटी थी, क्रय और वेल उनम कुछ छाटी तथा तुम्बा कुम्भा और दाति आदि सवस छाटी आकार की नावें थी।[10] साक्ष्यों से पता चलता है कि भारतीय जहाज चीन के जहाजों स छाटे हाते थे।[11]

प्राचीन काल में भारतीय व्यापारी व्यापार के निमित्त यात्रा प्रारम्भ करने क पूव दान आदि के साथ गुरु-देवता तथा जलनिधि की पूजा अर्चा भी किया करते थे।[12] यात्रा करते समय समुद्री मार्गों में उन व्यापारियों को वडे-वडे तूफाना

---

१ सम० क० ४, प० २४६ ४७ ६, ५३९ ४० ज्ञातृधम कथा ८ प० ९८।
२ आचाराग २।३ १।३४२ म अलित्त (डडा) पीटय (पतवार) वस (वास) वलय और रज्जु का भी उल्लेख ह।
३ सम क० ६ प० ५४० दखिए—आवश्यक चूर्णी, प० ५१२ निशीथ चूर्णी ३ प० ३७४।
४ वही ४ प० २५३ ७ ७१३ देखिए–निशीथ चूर्णी ३ पृ० २६९, वृहत्कल्प भाष्यवृत्ति ५ प० १३८८ ज्ञातृधम कथा ९ प० १२३ यशस्तिलक, पृ० ३४५ उत्तर०।
५ निशीथ चूर्णी १ प० ६९।
६ वही ४ पृ० ४००।
७ वही ३ पृ० १४२।
८ वही ३ प० २६९।
९ वासुदेवशरण अग्रवाल—इट्रोडक्शन आफ साथवाह प० १०।
१० वही प० १०।
११ मार्कोपालो–२, प० ३९१।
१२ सम० क० ४ पृ० २४६ ४७ ६ प० ५३९-४० देखिए ज्ञातधम कथा ८ पृ० ९७।

का सामना करना पडता था। तूफान के समय ये जलयान काबू के बाहर हो जाते थे तथा नाविक और यात्री घबडा जाते थे।[1] कभी-कभी तो उनके जहाज टूट जाते थे तथा सब व्यापारिक सामग्री आदि नष्ट हो जाती थी।[2]

शिल्प

समराइच्च कहा में तत्कालीन भारतीय शिल्पी के भी कुछ नाम आये हैं। ये शिल्पी अपने हस्त कौशल के सहारे अपनी जीविका चलाते थे। आदि पुराण में भी हस्त कौशल को शिल्प कर्म कहा गया है।[3] अपने हस्तकौशल के बल पर अपना जीवन निर्वाह करने वालों में बढई लुहार, कुम्हार सुनार, चमार, जुलाहा आदि मुख्य थे। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में शिल्पी शब्द की व्याख्या करते हुए स्नायक, संवाहक, अस्तरक, रजक, मालाकार आदि को शिल्पी कहा है इसके साथ-साथ उबटन बनाना सुगंधित चूर्ण तैयार करना, चन्दन द्रव तैयार करना कस्तूरी एवं कुंकुम आदि के द्वारा विभिन्न प्रकार के चूर्ण तैयार करना शिल्पियों का ही कार्य था।[4] समाज में आर्थिक दृष्टिकोण से इन शिल्पियों का अत्यधिक उपयोग समझा जाता था। समराइच्च कहा में यद्यपि शिल्प के विषय में तो कुछ उल्लेख नहीं मिलता किन्तु कुछ शिल्पियों का नाम अवश्य आया है जिनका विवरण अधोलिखित ढंग से प्राप्त होता है।

सुवर्णकार[5]—ये सोने, चांदी आदि धातुओं द्वारा विभिन्न प्रकार के आभूषण तैयार करते थे। ये लोग स्वर्ण आदि धातुओं के विशेषज्ञ होते थे। महाभाष्य में सुवर्ण को एक बार तपाने की क्रिया के लिए निष्टपति सुवर्ण सुवर्णकार किन्तु बार बार तपाने के लिए निस्तपति' का उल्लेख हुआ है।[6] अतः स्पष्ट होता है कि पहले स्वर्ण को तपा लिया करते थे और तत्पश्चात उससे आभूषण आदि तैयार करते थे।

चित्रकार[7]—चित्रकार भी एक प्रकार के शिल्पी थे। वे अपनी चित्रकारिता का प्रदर्शन मकानों, वस्त्रों और बर्तनों आदि पर किया करते थे।

---

१ सम० क० ६ पृ० ५४०, देखिए—नातृधर्म कथा ७, पृ० २०१।
२ वही ४ पृ० २५३, ७ पृ० ७१३, नातधर्म कथा ९ पृ० १२३।
३ आदि० १६।१८२ (शिल्प स्यात्कर कौशलम्)।
४ अर्थशास्त्र—चौखम्बा प्रकाशन १९६२, पृ० ५१४।
५ सम० क० पृ० ५६०, देखिए—जम्बू दीप प्रज्ञप्ति ३, पृ० ४३ रामायण—२, ८३, ११–१४।
६ पतंजलि महाभाष्य, ८, ३, १०२।
७ सम० क० ७, पृ० ७३९, देखिए—जम्बूदीप प्रज्ञप्ति ३ ४३ नात धर्म कथा ८, पृ० १०५॥

लोहार—समराइच्च कहा में लोहे की वस्तुओं, यथा लोह पिंजर, लौह-शृंखला लोहे की कील[1] आदि के उल्लेख से लोहारों के व्यवसाय का अनुमान लगाया जा सकता है। लुहार खेती के योग्य हल, कुदाली लकडी काटने का फरसा आदि बना कर बेंचते थे।[2] लोहे से स्पात बनाया जाता था और उससे अनेक औजार हथियार कवच आदि तयार किये जाते थे। बृहत्कल्पभाष्य[3] में उल्लिखित है कि इस्पात से साधुओं के उपयोग आने वाले छुरा सुई, आरा नहना आदि बनाये जाते थे। लोहे की भट्टियों में कच्चा लोहा पकाया जाता था। गर्म एवं जलते हुए लोहे को सडसी से पकड कर उठाया जाता था और फिर नेह[4] (अहिकरिणी) पर रख कर कूटा जाता था। इस प्रकार लोहे को हथौडे से कूट पीट एवं काट कर उपयोगी वस्तुएँ तयार की जाती थी।

कुम्भकार—फोडिय कम्म[5] अर्थात बासन या बरतन (मिट्टी के) बना कर बेचने वाले कुम्भकारों को भी शिल्पकारों की श्रेणी में रखा जाता था। इन्हें कुलाल भी कहा जाता था। कुम्भ (घडा) बनाने के कारण इन्हें कुम्भकार कहा जाता था।[6] जिस घर को आवश्यकता पडती थी वह कुम्हार के घर जा कर घट बनाने का आदेश देता था।[7] बडे-बडे मटके चतुर कुलाल ही बना सकता था जिसे महाकुम्भकार कहते थे।[8] वह सांचा के सांचे आदि तयार करता था।[9] कुलाल द्वारा बनाये गये पात्रों को कौलालक कहते थे।[10] अन्य ग्रंथों में भी कुम्भकार द्वारा रचित घडे, कलश आदि का उल्लेख प्राप्त होता है।[11] पण्यशाला में बरतनों की बिक्री की जाती थी, भाण्डशाला में उन्हें इकट्ठा करके रखा जाता था, कर्मशाला में उन्हें तयार किया जाता, पचनशाला में उन्हें

---

१ सम० क० ३ पृ० २०८ ४ पृ० ३०९ ३१९ ३४३, ७ पृ० ६६३, ९ पृ० ९२६।
२ उत्तराध्ययन सूत्र, १९–६६, आवश्यक चूर्णी, पृ० ५२९।
३ बृहत्कल्पभाष्य १।२८८३।
४ व्याख्या प्रज्ञप्ति, १, १६।१।
५ सम० क० १, पृ० ६२–६३ देखिए—रामायण २, ८३ ११–१४।
६ पतंजलि महाभाष्य १, ३ ३, पृ० २३।
७ आपिशल शिक्षा १ पृ० १७।
८ पतंजलि महाभाष्य ३, १ ९२ पृ० १६७।
९ वही ४ ४, ५५, पृ० २५९।
१० पतंजलि महाभाष्य ४, ३ ११६ पृ० २५०।
११ उपासक दशा ७, पृ० ४७–४८, अनुयोग द्वार सूत्र १३२ पृ० १३९।

जन्तपीलण कम्म[1]—कोल्हू आदि चलाने का व्यवसाय।

दावग्गि दावणय कम्म[2]—जंगल आदि जलाने के लिए आग लगाना या लगवाना।

असइपोषण[3]—कुत्ता बिल्ली आदि पशु तथा दास-दासी आदि पाल कर बेचना या भाड़े से आय कमाना। गौतम ने भी पशु तथा मनुष्य (दास) आदि का व्यवसाय करना अनैतिक माना है।[4]

सागडि कम्म[5]—गाड़ी जोत कर आजीविका चलाने वाला कर्म। गौतम ने गाड़ी जोतना तो दूर रहा गाड़ी में जोतने वाले बैल को भी बेचना आवाय ब्राह्मणों के लिए वर्जित बताया है।[6]

सरदह तलायस्सोसणाय[7]—तालाब, दह आदि सुखा कर आय प्राप्त करने वाला कर्म। गौतम ने भी मधु मांस, विषैली वस्तुओं के साथ ही जल का व्यवसाय करना ब्राह्मणों के लिए वर्जित बताया है।[8]

गारुडिया[9]—गारुडिक मंत्र आदि जानने वाले गारुडिया कहे जाते थे। ये लोग भयंकर से भयंकर विषैले सर्पों के काट लेने पर मंत्रौषधि आदि का उपचार कर लोगों को ठीक करते तथा उसी से अपनी जीविका चलाते थे।

पालतू पशु

समराइच्च कहा में हिरण्य सुवर्ण मणि मुक्ता आदि के साथ-साथ द्विपद अर्थात पक्षी चतुष्पद अर्थात जानवरों (पालतू तथा जंगली दोनों) को भी सम्पत्ति की श्रेणी में गिना गया है।[10] वैदिक काल में पशु को एक प्रधान धन माना जाता था। ऋग्वेद में कहा गया है कि मानव, अश्व और गौ के मांस भक्षी का सिर कुचल दो।[11] उस समय ग्राम्य पशुओं में गाय भैंस, बकरी भेंड

१ सम० क० १ ६२–६३ भगवती सूत्र ८।५।३३०।
२ वही १, पृ० ६२–६३, भगवती सूत्र ८।५।३३०।
३ वही १ पृ० ६२–६३ भगवती सूत्र ८।५।३३०।
४ गौतम ७।८–१४ भगवती सूत्र ८।५।३३०।
५ सम० क० १ पृ० ६२–६३ भगवती सूत्र ८।५।३३०।
६ गौतम ७।१५।
७ सम० क० १ पृ० ६२–६३ भगवती सूत्र ८।५।३३०।
८ गौतम। ७ ८ १४
९ सम० क० २ पृ० १३२, ४, पृ० २५५।
१० वही १ पृ० ३९ ८ पृ० ७३४–३५।
११ ऋग्वेद ८, ४, १८।

घोडा कुत्ता और सुअर यज्ञ पशु थ। शतपथ ब्राह्मण में आया है कि 'कतमो प्रजापतिरिति, यज्ञरिति कतमा यज्ञरिति पशुरिति' अर्थात प्रजापति क्या ह ? प्रजापति यज्ञ है। यज्ञ क्या ह ? पशु ही यज्ञ ह। यहाँ पशु की महत्ता बताते हुए उसे यज्ञ और प्रजापति कहा गया ह।[१]

समराइच्च कहा में निम्नलिखित पालतू पशुओ का उल्लेख प्राप्त हाता है—

गाय[२]—गाय से दूध प्राप्त किया जाता था तथा उसके बछडे बडे होकर हल खीचते थे। वदिक काल म गाय का सर्वाधिक महत्व प्राप्त था।[३] महाभाष्य में आया ह कि देवदत्त धनी ह क्याकि उसके पास गौ, अश्व और हिरण्य ह।[४] उपाध्यायों व गुरुओ को श्रद्धा की प्रतीक गाय भेंट म दी जाती थी।[५] किसी किसी परिवार के पास तो सहस्रा गायें हाती थी।[६] प्राचीन काल में गाय बल, भस, भेंड आदि राज्य की बहुमूल्य सपत्ति समझे जाते थे।[७]

बैल[८]—महाभाष्य में आगे चल कर श्रेष्ठ बल बनने वाले बछडे को आपम्य[९] कहा गया ह। अच्छे बल वे मान जाते थे जो गाडी और हल दोनों खीचने के काम आते थे।[१०] बैल रथ भी खीचते थे।[११]

---

१ श्रीचन्द्र जन–हमारे पशु पक्षी पृ० ४१

२ सम० क० ३ १९२, ४ ३४७ ४८, ८, ७३४ ३५, ९ ९३८ दखिए— यन० सी० बन्द्योपाध्याय–एकानामिक लाइफ एण्ड प्राग्रेस इन ऐंसियन्ट इडिया पृ० १३९ ४०।

३ ऋग्वेद—८ ४, १८ तथा दखिए-श्रीचन्द्र जन–हमार पशु-पक्षी, प० ३५।

४ महाभाष्य १ ३ ९, पृ० २८ देवदत्तस्य गवोऽश्वा हिरण्य च। आढयो वधवेय।'

५ वही १ ४ ३२, प० १६७।

६ वही २, १, ५१, पृ० ३०५।

७ औपपातिक सूत्र ६ तथा हरिभद्र—आवश्यक टीका पृ० १२८।

८ सम० क० २ पृ० १३५, १५२ ४ पृ० ३४७, देखिए औपपातिक सूत्र– ६ आवश्यक–टीका पृ० १२८।

९ महाभाष्य ५ १, १३ पृ० ३०५।

१० वही ५, ३, ५५ पृ० ६४५ गौरय शकट वहति। गौतरोऽय य शकट वहति सार च।

११ वही २ २, २४, पृ० ३३६।

भैंस महिष[1]—समराइच्च कहा में महिष को अरण्य तथा पालतू नाना प्रकार का पशु कहा गया है। किन्तु ये प्राय अरण्य पशु ही थे। कहीं-कहीं इनके पाले जाने का भी सकेत प्राप्त होता है। तरुण भैंसों को जिनके सींग निकल रहे हों कल्याह कहते थे।[2] अन्य जैन ग्रन्थों में भैंस भी गाय बैल भेंड़, बकरी की भाँति राज्य की बहुमूल्य सम्पत्ति समझी जाती थी।[3]

बकरा बकरी[4]—आवश्यक चूर्णी में भी भेंड गाय आदि के साथ ही बकरी को भी दूध देने वाला पशु बताया गया है।[5] अजा को कृषकों का धन माना गया है।[6] भेंड बकरियों का प्रमुख उपयोग ऊन और मांस के कारण होता था। गाय और अज दोनों की यज्ञों में बलि दी जाती थी।[7] इन्द्र और अग्नि को छाग की हवि देने का उल्लेख है।[8]

भेंड[9]—जैन ग्रन्थों में इसे भी राज्य की सम्पत्ति समझा गया है।[10] गाय भैंस की तरह इसका दूध भी उपयोग में आता था।[11] भेंड के दूध को अविमाल अविदूस या अविमरीस कहते थे।[12] भेडों के बठने को अविपट तथा उनके समूह को अविकट कहते थे।[13]

---

१ सम० क० २ पृ० १३५ ४ ३१६ ३१८ ३२३ ३४७ ४८ ६ ५१० ५३० देखिए—यन० सी० बन्द्योपाध्याय—एकानामिक लाइफ एण्ड प्रोग्रेस इन एंसियन्ट इण्डिया पृ० १४२।

२ महाभाष्य १ १ २२ पृ० २०६ तथा ४, २, ८७ पृ० १९६।

३ औपपातिक सूत्र ६ तथा हरिभद्र—आवश्यक टीका पृ० १२८।

४ सम० क० ३ पृ० १८३ ४ ३१४ ३२३ ६ ५३० देखिए—श्रीचन्द्र जैन—हमारे पशु पक्षी पृ० ३२।

५ आवश्यक चूर्णी २ पृ० ३१९।

६ महाभाष्य १ १ ८६ पृ० २८० (अजाविधनौ देवदत्त यज्ञदत्तौ न ज्ञायते कस्याजाधन कस्याविय इति)।

७ वही ४ १ ९२, पृ० १५५ (गावनुबध्याऽजोऽग्निषोमीय)।

८ वही २ ३ ६१ पृ० ४४८।

९ सम० क० ८ पृ० ७९१।

१० औपपातिक सूत्र ६ तथा हरिभद्र—आवश्यक टीका पृ० १२८।

११ आवश्यक चूर्णी २ ३१९।

१२ महाभाष्य ८ २ ३६ पृ० १७७।

१३ वही ५, २ २९ पृ० ३७६।

गदभ[1]—उष्ट्र के समान खर (गदभ) भी भार वाहन एवं शकट वाहन के लिए पाला जाता था। महा भाष्य में गदभ द्वारा खींचे जाने वाले शकट को गदभ नाम दिया गया है।[2] गोपाल की भाँति खरपाल[3] का भी उल्लेख प्राप्त होता है। गदभ अरण्यक भी थे।[4]

खच्चर[5]—यह अरण्य पशु के साथ-साथ पालतू भी था। प्रज्ञापना सूत्र में इसे अश्वतर कहा गया है।[6] यह भी एक भार वाहक पशु था।

कुत्ता[7]—कुत्ता भी एक पालतू पशु था। ऋग्वेद में माता पिता तथा नौकरों के साथ कुत्ते के कल्याण की कामना की गयी है।[8] ऊँची नस्ल के कुत्ते को कौलेयक कहते थे।[9] महाभाष्य में उल्लिखित है कि कुत्ता इक्षु (ईख) के खेतों को शृगाल के खाने से बचाता था।[10] श्वान और वाराह की शत्रुता को श्ववराहिका[11] कहते थे। कुत्ता के रहने के स्थान को गाष्ठश्व कहते थे।[12] कुछ निम्न श्रेणी के लोग कुत्ते का मांस भी खाते थे।[13]

बिल्ली[14]—यह भी एक ग्राम्य जीव था जो पाला भी जाता था तथा बिना पाले भी बस्ती में रहता था। भाष्यकार के अनुसार यह चूहे मारता था।[15] मोटा मजार स्थूलौतु कहलाता था।[16]

---

१ सम० क० १ प० ५४, २, पृ० १३५ देखिये—महाभाष्य—८ ३ ३३ प० ३५४।
२ महाभाष्य ४ ३ १२०।
३ वही ४, ३ ३५।
४ वही २ १ ६९ प० ३२३।
५ सम० क० ६ पृ० ५०६।
६ प्रज्ञापना सूत्र १।३४।
७ सम० क० १, ५४ ४ ३०८ ३२३, ७ पृ० ७११ ८, ८२९, ९ पृ० ९१९ ९२३ ९२५।
८ ऋग्वेद ७।५५।५।
९ महा० ४ २ ९६, प० २०२।
१० वही ३ ४ १२ पृ० ४६७।
११ वही ४, २, १०४ प० २१०।
१२ वही ४ २, ७७ प० ५०४।
१३ वही ३, १३४, प० १९७।
१४ सम० क० ४ प० ३२०, ६ प० ५७८।
१५ महा० ३, २ ८४, प० ३३४।
१६ वही ६ १ ९४, पृ० १५१।

शरभ —[1] समराइच्च कहा में इसे एक जगली पशु बताया गया है। प्रज्ञापना सूत्र में इसे अरण्य पशु के रूप में उल्लिखित किया गया है।[2] सम्भवत यह आठ पैर वाला तथा सिंह से बलवान जन्तु था।

अश्व —[3] वैदिक काल में गाय के साथ अश्व को भी महत्व दिया जाता था तथा उसके माँस भक्षी का सिर काट देने का निर्देश है।[4] समराइच्च कहा में घोडा की कई जातियो का उल्लेख मिलता है यथा-तुरुष्क, वाल्हीक, कम्बोज और वज्जरा[5] आदि। यह रथ में जोता जाता था। महाभाष्य में उल्लिखित है कि साधारण अश्व दिन में चार योजन तथा अच्छी नस्ल का अश्व आठ योजन चलता था।[6] घोडे के सवार को अश्ववार कहते थे।[7] अश्वो से युक्त रथ को अश्वरथ कहते थे।[8] अश्व युद्ध में भी काम आते थे।[9] अश्वशाला को मन्दुरा कहते थे।[10] पतजलि के समय में सिंध देश के घोडे प्रसिद्ध थे। इसलिए घोडे का सामान्य नाम सैन्धव[11] हो गया था।

हस्ति[12]—समराइच्च कहा में घोडा के साथ साथ हस्तियो का भी उल्लेख प्राप्त होता है। भद्र और मन्द जाति के हाथी श्रेष्ठ समझे जाते थे।[13] यह राजा महाराजा अथवा धनी-सपन्न लोगो की सवारी के काम आता था। गज

१ सम० क० ४ पृ० ३४७।
२ प्रज्ञापना सूत्र १।३४ देखिये आप्टे—संस्कृत हिन्दी कोश पृ० १००५— अष्टपाद शरभ सिंहघाती।'
३ सम० क० २ पृ० १०० ४ पृ० ३१९,३२६, ४, पृ० ३६५ ७ पृ० ६५५ ८ पृ० ७८४ ८२३ ९ पृ० ९७१।
४ ऋग्वेद ८।४।१८।
५ सम० क० १ पृ० १६,२ पृ० १००।
६ महाभाष्य ५ ३ ५५ पृ० ४४६(अश्वाय पदचत्वारि योजनानि गच्छति।
७ वही ८ २ १८ पृ० ३४२।
८ वही २ १ ३४ पृ० २८७।
९ वही १,७ ७२, पृ० ४४७।
१० वही १ १ ३ पृ० १०९।
११ वही १ १ ४ पृ० २७४।
१२ सम० क० १ पृ० ५५ २ पृ० ७५ ११६ १३८, १५२ ४, पृ० २३६ २०४ ३३९ ५ पृ० ३७८ ४१० ८७८ ६ पृ० ५८१ ७, पृ० ६३४ ६३८ ६४० ६४७ ८ पृ० ७३४ ९ ७८४ ९, पृ० ८८०।
१३ वही २ पृ० १००।

को द्विप भी कहते[1] थे। क्योंकि वह मुख तथा सूँड दोनों स्थानों से पी सकता था। गजों का समूह गजता[2] तथा हस्तियों का समूह हस्तिक[3] कहलाता था। जंगली हाथियों को अरण्यगज कहते थे।[4] जंगल से हाथी पकड कर लाये जाते थे और हस्तिपक उन्हें प्रशिक्षित कर चलना आदि सिखाते थे।[5] विवाह आदि मांगलिक कार्यों के लिए प्रस्थान करते समय हस्ति को आगे रखा जाता था। इनसे युद्धक्षेत्र में शत्रु सेना को रौंदने का भी काम लिया जाता था।

अरण्य-पशु—पालतु पशुओं के साथ साथ अरण्य पशुओं का भी उपयोग था। लोग मृग आदि का शिकार कर उनका मांस खाते थे। व्याघ्र सिंह आदि के चर्म का भी उपयोग होता था। समराइच्च कहा में निम्नलिखित अरण्य पशुओं का उल्लेख है।

मृग[6]—समराइच्च कहा में इसे हिरण भी कहा गया है।[7] हिरण का शिकार कर उसका मांस खाया जाता था। महाभाष्य में हिरण का उल्लेख पाया गया है। हरित और हरिण जाति की स्त्री हरिणी तथा रोहित की रोहिणी कही जाती थी।[8] भाष्य में हरिण की एक जाति न्यंकु भी बतायी गयी है।[9] भाष्यकार ने इसे वातमज[10] अर्थात वायु के समान शीघ्रगामी कहा है। मृग की एक जाति ऋश्य थी, जिसकी मादा को रोहित कहते थे।[11] काले मृग को कृष्ण सारंग कहते थे।[12] चमर बनाने के लिए चमरी (मृग की एक जाति) का शिकार किया जाता था।[13] मृगया का विषय होने के कारण ही इसका नाम मृग पडा।

---

१ महाभाष्य ३, २ ४, पृ० २०९।
२ वही ४ २, २३।
३ वही ४, १ १, पृ० १०।
४ वही ४, २ १३९, पृ० २१६।
५ वही १, ३, ६७, पृ० १५।
६ सम०क० ६ पृ० ५१० ५१६, ८ पृ० ७८७ ५ पृ० ४७७, देखिये—प्रज्ञापना सूत्र १–२४।
७ वही १ पृ० ४७ ५ पृ० ४१० ७, ६५६, ६५९, ८, पृ० ७९८।
८ महाभाष्य १ २, ६४ पृ० ५७३।
९ वही १ २ ७ पृ० ६८।
१० वही ३ २ २८ पृ० २१५।
११ वही ६, ३, ३४, पृ० ३१८।
१२ वही २, १ ६९ पृ० ३२०।
१३ वही २ ३ ३६ पृ० ४३१ (केशेषु चमरी दन्ति)।

भाष्यकार न रुरु और पृषत जाति क मृगा का उल्लेख किया ह ।[1] यजुर्वेद संहिता में उल्लिखित ह कि पृषत नामक मृग का चम वस्त्राभाव की पूर्ति करता ह ।[2]

शूकर[3]—शूकर पालतू तथा आरण्यक दोना प्रकार के होत थ । पालतू शूकर मास और बालो के लिए पाले जाते थे । ग्राम्य शूकर का मास अभक्ष्य माना जाता था ।[4] महाभाष्य में उल्लिखित ह कि बाल निकालने के लिए शूकर का बाध लिया जाता था और फिर उसका एक एक बाल खीच कर उखाडत थ ।[5]

बिल्ली[6]—यह ग्राम्य जीव के साथ साथ अरण्य पशु भी था ।

महिष—यह भी पालतू तथा आरण्यक दोना प्रकार के होते थ । पालतू पशुओं की श्रेणी में इसका उल्लेख किया गया ह ।

वृषभ[8]—यह पालतू और आरण्यक दोना प्रकार का होता था । पालतू पशुओं की श्रेणी में इसका विस्तृत विवरण दिया गया ह ।

गज[9]—यह भी पालतू एव जगली दोनों प्रकार का पशु होता था । जगली हाथियो को अरण्य गज कहते थ ।[10] जगल के हाथी पकड कर लाये जात थ और हस्तिपक उन्हे प्रशिक्षित करता था ।[11]

सिंह[12] यह एक हिंसक पशु था । सिंह शब्द हिंस धातु से वर्ण विपर्यय

१ महाभाष्य २ ४ १२, पृ० ४६६ ।
२ श्रीचन्द्र जैन—हमारे पशु पक्षी, पृ० ३३ ।
३ सम०क० ५ पृ० ४७७, ६, पृ० ५१० ५७८, ५९३ ।
४ आपिशल शिक्षा १ पृ० ११ ।
५ महाभाष्य ८ २, ४४, पृ ३६२ ।
६ सम० क० ६ पृ० ५७८ ८ पृ० ८२९ ९ पृ० ८८७ ।
७ वही २ पृ० १३५ ६ पृ० ५१० ५१६ ।
८ वही २ पृ० १३५, ८ पृ० ७९८ ।
९ वही २ पृ० १३५ १३८ १४९ १५२ ३ पृ० २३९ ४ पृ० २८५ २९४, ३३७ ३४० ५ पृ० ४१० ४७१, ६ ५११ ५१६ ५३२ ७, पृ० ६४८ ८ पृ० ७७६, ७८७ ८०१ ।
१० महाभाष्य ४, २, १२९ पृ० २९६ ।
११ वही १ ३ ६७ पृ० १५ ।
१२ सम० क० १ पृ० ११, ५४ २ पृ० १३५ १५२ ४, पृ० २९४, ३१२ ३३७ ५ पृ० ४४५ ४४६, ६ पृ० ५१३ ५२७, ५३२, ५०५, ७ पृ० ६४८, ६५६ ६५९, ८ पृ० ७७२ ७७८ ८०१, ८१४ ।

होकर बना है।[1] व्याघ्र सिंह आदि से व्याप्त अरण्यों का उल्लेख भाष्य में मिलता है।[2] सिंह का चर्म अनेक काम में आता था। लोग उसे वस्त्र के रूप में भी धारण करते थे।

व्याघ्र[3]—बाघ चीता नामक जंगली हिंसक पशु था। व्याघ्री का भी उल्लेख पतंजलि भाष्य में मिलता है।[4]

वाराह[5]—प्रज्ञापना सूत्र में भी इसका उल्लेख मिलता है।[6]

बन्दर[7]-शशक[8]—आखेट पशुओं में मृगों की भांति शशक का भी महत्व था। आज भी लोग खरगोश के मांस के लिए उनका शिकार करते हैं।

खच्चर[9]—यह पशु पालतू और आरण्यक दोनों प्रकार के होते थे।

शृगाल[10]—भाष्य में शृगाल के 'हुआ हुआँ' करने का उल्लेख है।[11] इसका कुत्ते से शाश्वत बैर है।[12] शृगाल को मरज भी कहते थे।[13]

श्वान और कङ्काल[14]—सड़े-गले मांस तथा रक्त आदि पीने वाले वन्य जीव थे।

पक्षी

पालतू तथा जंगली पशुओं के साथ-साथ द्विपद अर्थात् पक्षियों को भी समाज की सम्पत्ति समझा जाता था।[15] यजुर्वेद[16] संहिता में बताया गया है कि

१ महाभाष्य ३ १ १२३ पृ० १९१।
२ वही ५, २ ११५ प० ४१८।
३ सम० क० २ प० १३२ ६ प० ५१६ ५२७।
४ महाभाष्य-४ १, ४८ पृ० ६०।
५ सम० क० ५ प० ४४५, ४४६, ६, प० ५११ ८ प० ७९८।
६ प्रज्ञापना सूत्र १।३४।
७ सम० क० ४ प० २५८ ६ प० ५१० ७, पृ० ६६९ ८ प० ८२९।
८ वही ४ प० २६० ६, पृ० ५३० ७ पृ० ७०३।
९ वही ६, प० ५१८।
१० वही ४ पृ० २८० ८, पृ० ७७२ ८०१।
११ महाभाष्य १ ३, २१ पृ० ६२।
१२ वही २ ४, १२ पृ० ४६७।
१३ वही १ १, ४७, प० २८८।
१४ सम० क० ४ पृ० २०३, ७२४।
१५ वही १ पृ० ३९ ८, पृ० ७३४-३५।
१६ यजुर्वेद संहिता भाग २ पृ० ३१६।

अग्नि के प्रयोग करने के लिए कुटर मुर्गा नामक पक्षी प्राप्त करें। वनस्पतियों के ज्ञान के लिए उल्लू जातियों के पक्षी को प्राप्त करें उनके जीवन का अनुशीलन करें। अग्नि और जल की परीक्षा के लिए चाप नामक पक्षियों को देखें। स्त्री पुरुष के संयमी प्रेमी और सुन्दर सुखप्रद आलाप के लिए मयूर को देखें। मित्र और वरुण अर्थात मित्रता और स्नेह तथा परस्पर वरण के लिए कपोत नामक पक्षियों को देखें। वैदिक युग में जहाँ पशु एक प्रधान धन था वहीं विहग एक प्रकृष्ट मनोविनोद का साधन था। समराइच्च कहा में निम्नलिखित पक्षियों का उल्लेख है।

कुक्कुट[1]—यह एक पालतू पक्षी था। पाणिनी ने ह्रस्व दीर्घ एवं प्लुत की पहचान के लिए कुक्कुट के स्वर का ही आश्रय लिया है।[2] मुर्गों का मांस भी खाया जाता था यद्यपि ग्राम्य कुक्कुट अभक्ष्य था।[3] मुर्गा भूख लगने पर कुट-कुट करता था।[4] प्राचीन काल से ही प्रभात काल में जागरण के लिए मुर्गा सहायता करता था।[5] आदि पुराण में भी कुक्कुट का उल्लेख प्राप्त होता है।[6]

मयूर[7]—यह भी पालतू पक्षियों की श्रेणी में गिना जाता था। मयूर को भाष्यकार ने व्यंसक (धूर्त) कहा है।[8] मयूर और मयूरी साथ-साथ नृत्य करते हुए उल्लिखित किये गये हैं।[9] आदि पुराण में भी मयूर का उल्लेख प्राप्त होता है।[10] यह इस समय राष्ट्रीय पक्षी माना जाता है।

हंस[11]—आदि पुराण में भी हंस[12] हंसी[13] एवं राजहंस[14] का उल्लेख पाया

---

१ सम० क० ४ पृ० ३०२ ३०३ ३२० ३२३ ३३२ ३४२ ८।७३४–३५ ७७०।
२ महाभाष्य १ २ २७।
३ आपिशल शिक्षा १।११।
४ महाभाष्य ६ १, १४२ पृ० १९० (अपस्किरत कुक्कुटो भक्षार्थी)।
५ वही १ ३, ४८ पृ० ६७ (वरतनुसम्प्रवदन्ति कुक्कुटा)।
६ आदि० ४।६४।
७ सम० क० ४, पृ० ३२३ ३३२ ७ पृ० ६११ ६२५ ६२७।
८ महाभाष्य २ १ ७२ पृ० ३३०।
९ वही ७ ३ ८७ पृ० २१२ (प्रिया मयूर प्रतिनततीति)।
१० आदि० ३।१७०।
११ सम० क० १ पृ० ९ २ पृ० ९८२–८७, ८९ ५, पृ० ४२० ४३० ४७४ ८ पृ० ७३२ ७८३ ७८५ ८४२।
१२ आदि० ४।७४ १८।६० ९।५४।
१३ वही ६।७४ ११।२९ १२।२१।
१४ वही ९।३।

गया ह। भाष्य में स्त्री हस का वरटा कहा गया ह।[१] हस शब्द हन धातु स बना ह। जिसका अथ माग का हनन (नमन) करने वाला ह।[२]

चक्रवाक[3]—पतजलि ने भी चक्रवाक का उल्लेख किया है।[४] आग्नि पुराण में भी इसका नाम आया ह।[५]

सारस[६] आदि पुराण में भी सारस का उल्लेख पाया गया ह।[७]

तोता[८]—यह एक पालतू पक्षी था। भाष्यकार ने शुकी का उल्लेख किया ह।[९] शुक की चर्चा खण्डिक और उलूक के साथ की गई ह।[१०] आदि पुराण में भी शुक का उल्लख प्राप्त होता ह।[११]

गरुड[१२]—हस, सारस की भाति इसका भी उल्लेख पक्षियो की श्रेणी में प्राप्त होता ह। आग्नि पुराण में इसे पतत्पति[१३] (गरुड) कहा गया ह।

श्येन[१४]—यह छोटी छोटी चिडियों का शिकार करता था। श्येन द्वारा बटेर को मारने का उल्लेख ह।[१५]

लावक[१६]—लवा अर्थात बटेर नामक पक्षी था।

---

१ महाभाष्य ६ ३ ३४ पृ० ३१८ (हसस्य वरटा यापित)।
२ वही ६ १ १३ प० ४३ (हन्तेर्हस हन्त्यध्वानमिति)।
३ सम० क० ५ पृ० ४७४ ८।७३२ ७६६–७६८ ८२९ ९।८६५, ९३४।
४ महाभाष्य २ ४ १२ प० ६६।
५ आग्नि० १५।१०।
६ सम० क० ५।४१९ ८।७२२ ९।८६५
७ आग्नि० १४।६९, १४।१९९ २६।१५०।
८ सम० क० २।८९, १०७ ४।३२१।
९ महाभाष्य ४ १, ६३, पृ० ७४।
१० वही ४ २ ४१, प० १८१।
११ आग्नि० ६।७२ ४६१, १५।११४।
१२ सम० क० ४ प० ३२१।
१३ आग्नि० ११२०८।
१४ सम० क० ४।२८५ देखिए–महाभाष्य १ १ ४५ प० २७८।
१५ महाभाष्य ६ १ ४८ पृ० ७०।
१६ सम० क० ५ प० ४४५ ८४२ देखिए यजुर्वेदसंहिता २४ वाँ अध्याय।

चातक[1]—आग्नि पुराण में भी चातक[2] और चातकी[3] का उल्लेख प्राप्त होता है।

बगुला[4]—समराइच्च कहा में अन्य पक्षियों की भाँति इसका भी उल्लेख मात्र प्राप्त होता है।

कोकिल[5]—वसंत ऋतु का अवकाकिल कहा गया है क्योंकि विशेष रूप से कोकिल इसी ऋतु में बोलती है।[6] स्त्री कोकिल को पिकी कहते थे।[7]

गृद्ध[8]—यह एक मांसाहारी पक्षी है। गृद्ध सम्बन्धी वस्तु को गाध्र कहते थे।[9]

कुरर[10]—बाज की जाति का मत्स्य भोजी पक्षी बताया गया है।[11]

क्षुद्र जन्तु

समराइच्च कहा में कुछ क्षुद्र जन्तुओं के भी नाम गिनाए गए हैं।

सर्प[12]—सर्प वल्मीक (बिल) में रहता है।[13] सांप सरकता है इसीलिए इसका नाम सर्प पड़ा है। उसकी चाल को सृप्त कहते थे।[14] क्रोध के समय फन उठाकर फुफकारने की अवस्था को ओजायमान[15] कहते थे। घने और भयानक

---

१ सम० क० ८ पृ० ८४२।
२ आग्नि० ४।६१ ३।१७० ५।२१८।
३ वही ७।१५९।
४ सम० क० ८ पृ० ८४२।
५ वही १ पृ० ९ २ पृ० ७८ ७ पृ० ६३७ ९ पृ० ८७९ ९२४।
६ महाभाष्य २ २ १८ पृ० ३५० (अवक्रुष्ट कोकिल यावकोकिलो वसंत)।
७ वही ४ १ ६३ पृ० ७४।
८ सम० क० ६।५३० ७।७०२ ९।९९८ आग्नि० १०।७४ १०।४२।
९ महाभाष्य ४ ३ १५६ पृ० २६९।
१० सम० क० २ पृ० १५२।
११ महाभाष्य ४ १ ९३ पृ० १२५।
१२ सम० क० १ पृ० ५४ २।१०६ १५२ ४।३२३ ५।४२५ ६।५२७ ५७८ ९।९२८।
१३ महाभाष्य ७ १ ६९ पृ० ३२३।
१४ वही २ ३ ६७ पृ० ४५४।
१५ वही ३ १ ११ पृ० ४५।

जगलो में सबसे बड़ा सप अजगर[१] पाया जाता था। यह अपने शिकार को काटने के स्थान पर निगल जाता है। आग्नि पुराण में भी अजगर[२] अहि[३] उरग[४] कृष्णाहि[५] ऋ्यूक[६] (विपुल भयकर सर्प) नाग[७] पन्नग[८] भुजग[९] आदि सर्पों की विभिन्न जातियों का उल्लेख पाया गया है।

मूष[१०]—नकुल सर्प का और सप मूषिक का शत्रु है। मूषिका का पुमान मौषिकार कहलाता था।[११]

नकुल[१२]—पतजलि भाष्य में नकुल का उल्लेख सप के शाश्वत विरोध के रूप में हुआ है।[१३] अस्थिर व्यक्ति के व्यवहार के लिए अवतप्त नकुलस्थितम[१४] कहावत प्रचलित थी।

जलचर

जल में रहने वाले जीव यथा मछली मेंढक सिंसुमार का भी उल्लेख समराइच्च कहा में आया है। उपयोगिता की दृष्टि से मछली का महत्त्व था। मत्स्य को सौभाग्य का प्रतीक माना जाता है। आग्नि पुराण में जलचरों को अप्पुज[१५] कहा गया है।

मत्स्य[१६]—मछली खाने के काम में आती थी। महाभाष्य में मीन के शिकारी

---

१ सम० क० २ प० १५२ ५।४४२।
२ आग्नि० ५।१२१।
३ वही ५।१०५।
४ वही १०।२८।
५ वही ६।८०।
६ वही ९।५५।
७ वही ४।७०।
८ वही १०।२९।
९ वही १।८१।
१० वही २।१३७ ३।१८३ ०।९२४।
११ महाभाष्य ४,१ १२०, प० १४२।
१२ सम० क० पृ० ८ ७८७।
१३ महाभाष्य ४ २,१०४ पृ० २१०।
१४ वही १४,१३ प० १४३।
१५ आग्नि० २८।१९४।
१६ सम० क० ४ पृ० ०२३।

को मैनिक कहा गया ह।[1] मछली के काटे साफ कर और उसके टुकडे-टुकडे किय जाते थे।[2] आदि पुराण में तिमिरङ्गल[3] (एक बडा मछली) मत्य[4] तथा मीन[5] का उल्लेख ह।

मोदक[6]—यह सप का शिकार माना जाता ह। इस पानी में रहन वाल सप तथा बडी-बडी मछलियाँ निगल जाती ह।

सिसुमार[7]—जलचरा में यह सबस शक्तिशाली जाव ह। आदि पुराण में इसे मकर[8] कहा गया ह।

वन सम्पत्ति वृक्ष

प्राचीन भारत का अधिकाश भूभाग वन स घिरा हुआ था। य अरण्य विभिन्न प्रकार के वृक्ष लता गुल्म हरित औषधिया आदि से भरे पडे थे। भारत की समृद्धि में वृक्षा, लताआ आदि का महत्त्वपूण योगदान ह। समराइच्च कहा में उपभोग योग्य पल्लव पुष्प फल तथा छाया आदि से युक्त वृक्ष तथा वनस्पतियों दश अथवा समाज की सम्पत्ति कही गयी ह।[9]

समराइच्च कहा में उल्लिखित कुछ वक्ष फल-फूल छाया लकडी आदि दने के कारण उपयोगी थे किन्तु कुछ वक्ष केवल शोभा छाया आदि के लिए उपयुक्त समझ जाते थे।[10] वृक्षा में अशोक का नाम कई बार उल्लिखित हुआ ह। अशाक वक्षा में रक्ताऽशकोक[11] का भी उल्लेख प्राप्त हाता ह। अन्य जन ग्रन्था में भी शाभा वक्ष के रूप में अशाक का उल्लेख हुआ ह।[12] अशोक के

---

१ महाभाष्य ४ १ ६३ पृ० ७४ तथा १ १ ६८ प० ४३५।
२ वही १ १ ३० प० ५१६।
३ आदि० २८।१८२।
४ वही ११।१९९ ४।११७ १०।३०।
५ वही ५।३४ २८।१७१।
६ सम० क० २ प० १५२ ८।८४२।
७ वह ४ प० ३२३।
८ आदि० २८।१७१।
९ सम० क० ४ प० ३१० (उवभागजागपल्लवपप्फफलच्छाहिउदगपभटठे)।
१० वहा १ प०११ ४१ २ प० ८७ ८८ ११६ ५।३७८ ४२० ६।५६६ ७।६३९ ४० ६६२ ६७८ ६८० ८।७६६।
११ वही १।४१।
१२ आदि० ९।९ ६।६२ राजप्रश्नीय सूत्र १ पृ० ५ ३ प० १६ नातधम कथा १ प० १०।

अतिरिक्त ताड[1] के वृक्ष तथा न्यग्रोध[2] (वट वृक्ष) भी छाया तथा शोभा के ही काम में आते थे। न्यग्रोध वृक्ष की जटाएँ नीचे की ओर फलकर वृक्ष का रूप ले लेती है इसीलिए इसका नाम न्यग्रोध (नीचे की ओर फलने वाला) पड़ा है।[3] इसे अवरोहवान, क्षीरी और पृथु पर्ण कहा गया है।[4]

शोभा तथा छाया वाले वृक्षों के साथ-साथ कुछ फल-फूल तथा वनस्पतियों वाले वृक्षों का भी उल्लेख समराइच्चकहा में है, जिन्हें उपयोगिता की दृष्टि से तत्कालीन समाज की सम्पत्ति कहा जा सकता है।

उन वृक्षों में आम्र[5] (फल तथा छाया वाला वृक्ष), सहकार[6] (आम्र का दूसरा नाम) चूत[7] (आम्र का दूसरा नाम), नारियल[8] अथवा नारिकेल[9] जम्बू[10] (जामुन) कदली[11] (केला) साल[12] (साखू) वकुल,[13] निम्ब,[14] पलाश[15] (यज्ञ में

१ सम० क० २, पृ० ८२ ४, पृ० ३१०, ३७५ देखिए—आदि० ३०।१५।

२ वही २, पृ० ११५, १३५ १३६ ४ पृ० २८५ ३१० ५ पृ० ४३३, ४३५ ६, पृ० ५०६, ५१७ देखिए— आदि ३१।११३।

३ महाभाष्य २, २ २९, पृ० ३८३।

४ वही १ १ ५६, पृ० ३४२ (ये क्षीरिणोऽवरोहवन्त पृथुपर्णा स्ते न्यग्रोधा)।

५ सम० क० १०।१६ २।८७।८८ १३५ ९।८७९ देखिए—आदि० ४।१६, महाभाष्य १, १, ५६, पृ० ३४२ (गाँव के चारों ओर आम के बाग लगाने की प्रथा थी)।

६ वही १।१७ ३४, ४१, २।७८, ५।४०५ ४१०, ८५७, ६।५४६, ५८२, ७।६३६, ६३७।

७ वही ६, पृ० ५४६, देखिए—आदि० ४।१६।

८ वही ३।१६९ १७१ १८७।

९ आदि० ३०।१३।

१० सम० क० २।१३५ ५।४०४, देखिए-आदि० १७।२५२ तथा महाभाष्य ४ १, ११९ पृ० १३८।

११ वही २ ८७, ८८, ५ पृ० ४०५ ४२०, ६।५४७ ५४९ देखिए-आदि० १७।२५२ (यहाँ आदि पुराण में कदली को मोच कहा गया है)।

१२ वही २, पृ० १०८, १३५ ३।१८३, ६।५७३ देखिए-महाभाष्य १,१,१। पृ० ९२।

१३ वही १ पृ० ११, २ १३५ ४ पृ० २८१ ७ पृ० ६३७, ६३९ ४०।

१४ वही १, पृ० ४१, २, पृ० १३५ ३ पृ० १७४ ५ पृ० ४२८।

१५ वही २ पृ० १३५ ६, पृ० ५१८, ७, पृ० ६३७, देखिए-महाभाष्य ४, ३ १५५ पृ० २६६ तथा ३ १ ७९ पृ० १०९ (देवदत्त भिक्षुका)।

पलाश की समिधाएं काम में आती थी), किंपाक,[1] बाँस[2] पूगपादप[3] बकुल[4] करीर,[5] खदिर[6] (कत्थे का वृक्ष), म ज,[7] पनस[8] (कटहल) पामाड वृक्ष[9] चंदन[10] मन्दार[11] (छोटा पादप) खजन[12] अगुरु[13] (गुग्ग वृक्ष) तिलक,[14] सिंदुवार[15] कदम्ब[16] म तिमिर[17] पादप तमाल[18] कल्पवृक्ष[19] नारंगी[20] मरुव[21] तालि[22] अङ्कोल,[23] वज्जुल[24] पादप मल्लिक[25] निनिग[26] कुटज[27]

१ सम० क० ५ प० ४७८ ४८०।

२ वही ५, प० ४७८ ६ प० ५०१ देखिए—महाभाष्य १, १, १३, प० १८२।

३ वही ५ प० ४१९ ४४५।

४ वही ४ पृ० ३१०।

५ वही ४ प० ३१०।

६ वही २ प० १३५ ४ पृ० ३१०।

७ वही प० ३१०।

८ वही ४ प० ४०५ देखिए—आदि० ३०।१९ तथा महाभाष्य ५ १ २, पृ० २०६।

९ ३ प० १७६।

१० वही ६ पृ० ५४५, देखिए—आदि० ६८० १।८१।

११ वही ६ प० ५४५, देखिए—आदि० ४।१९७।

१२ वही ४ पृ० ३१०।

१३ वही ४ प० ३१०, देखिए—आदि० ३१।६८।

१४ वही २ प० १३५ ४ प० ३२५ ५ पृ० ३७८।

१५ वही ५ प० ३७८।

१६ वही २ प० १३५ ३ १७४ ५ प० ३७८, देखिए—आदि० ९।१७।

१७ वही ४ पृ० २५३।

१८ वही २ प० १३५, ३ प० २२४, ६ प० ५४५, ७ पृ० ६९६।

१९ वही ७ प० ६८३ ६८४ ६८८ ६९६।

२० वही २, प० १०८, ८ प० ८७९।

२१ वही २ प० १३५।

२२ वही २ प० १३५।

२३ वही २ प० १३५।

२४ वही २ प० १३५।

२५ वही २ प० १३५।

२६ वही २, प० १३५।

२७ वही २ पृ० १३५, देखिए—आदि० ९।१६।

सर्जा[1] और अर्जुना[2] पादप आदि मुख्य हैं।

वन सम्पत्ति लता

समराइच्च कहा में निम्नलिखित लताओं का उल्लेख है जो फल फूल, अंग प्रसाधन, गृह-वन-वाटिका आदि की शोभा तथा साज-सज्जा को बढ़ाने के लिए उपयुक्त समझी जाती थी।

इन लताओं में माधवी लता[3] चम्पक[4] लता, ताम्बूल[5] नागवल्ली[6] पुन्नाग[7] मुक्त लता[8] चूत लता[9] लवंग लता[10] अंगूर लता[11] सुपारी[12] और कुंकुम[13] लता (केसर लता) आदि का उल्लेख है।



१ सम० क० २ पृ० १३५।
२ वही २ पृ० १३५।
३ वही २ पृ० ८७ ८८ ६, पृ० ३६०।
४ वही १ पृ० ११ ४१ देखिए—महाभाष्य २ १, १ पृ० २४०।
५ वही २ पृ० ८७ ८८ ९०।
६ वही १ पृ० ११ २ पृ० ८८ ५ पृ० ४१९ आदि० ३१।१७।
७ वही १, पृ० ११, आदि० ३१।१७।
८ वही ७ पृ० ६७०।
९ वही ९ पृ० ८७९ राजप्रश्नीय सूत्र १ पृ० ५ ३, पृ० १८।
१० वही ६, पृ० ५४७ ज्ञातृ धर्मकथा १ पृ० ३ १०।
११ वही २ पृ० ८७ ८८।
१२ वही २ पृ० ८७ ८८।
१३ वही २ पृ० ८७ ८८ ज्ञातृ धर्मकथा १, पृ० ३।१०।

यजुर्वेद में इसके पाच भेद गिनाए गये ह जिसमें ब्रीहि को सबसे अच्छा माना जाता था ।[1] स्पष्ट ह कि चावल का प्रयोग वदिक काल से ही प्रारम्भ होता था । अधिकतर इसे पानी अथवा दुग्ध में पका कर खाया जाता था । जन ग्रन्थ आदि पुराण में तो चावल की सात जातिया का उल्लेख है यथा—साठी[2] शलि[3] कलम[4] ब्रीहि[5] सामा[6] नीवार[7] और श्यामाक ।[8] यशस्तिलक में भी चावल की चार जातियो का उल्लेख ह यथा—दीन्दि[9] श्यामाक[10] शालि[11] और काल्म[12] (यहा आदिपुराण में कल्म को कालम कहा गया है) आदि जिससे पता चलता ह कि चावल की भिन्न भिन्न जातिया थी ।

मोदक—समराइच्च कहा में मादक (एक प्रकार का मिष्ठान्न पदाथ) का उल्लेख किया गया है ।[13] यह घत अन्न दूध और चीनी के मिश्रण से तयार किया जाता था । आदिपुराण में अमृत गभमोदक का उल्लेख आया[14] ह जो अत्यन्त स्वादिष्ट एव सुगन्धित पदाथ माना जाता था । मोदक का नाम यश स्तिलक में भी आया ह ।[15]

पक्वान—समराइच्च कहा के कथा प्रसग में पक्वान का उल्लेख है ।[16] यह

---

१ ओमप्रकाश—फूड एण्ड ड्रिक्स इन ऐंसियन्ट इण्डिया प० १० ।
२ आदिपुराण—३।८६ ।
३ वही ४।६० ।
४ वही ३।१८६ ।
५ वही ३।१८६ ।
६ वही ३।१८६ ।
७ वही ३।१८६ देखिए—अभिज्ञान शाकुन्तल २।३५—नीवारषष्टभाग मस्मावमुपहरन्तिति रघुवश १।५० ।
८ आदिपुराण ३।१८६ दखिए—अभिज्ञानशाकुन्तल ४।१४—श्यामाकमुष्टि परिवर्धितकम ।
९ यशस्तिलक प० ४०१ ।
१० वही प० ४०६ ।
११ वही प० ५१५ १६ ।
१२ वही प० ५१५ ।
१३ सम० क० २ प० १२७ ३ प० २२९ २३१ ।
१४ आदिपुराण ३७।१८८ ।
१५ यशस्तिलक प० ८८ उत्तर खण्ड ।
१६ सम० क० २ पृ० १२४ ।

घृत और चीनी के मिश्रण से तयार किया जाता था। यशस्तिलक में पक्वान्न का स्वादयुक्त बताया गया है।[1]

सक्तु—समराइच्च कहा के कथा प्रसग में इसे भी उल्लिखित किया गया है।[2] जौ अथवा गेहूँ का भूनकर तथा उसमें भूना हुआ चना मिलाकर पीसा जाता था और उसी पीसे हुए चूर्ण का सक्तू कहा जाता था। ऋग्वेद[3] तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण[4] में भी इसका उल्लेख है। यह पानी में मिलाकर पिण्ड के रूप में अथवा पतला बनाकर खाया जाता था।

फलाहार

समराइच्च कहा में अन्नाहार के अतिरिक्त फलाहार का भी उल्लेख है। फल फूल का प्रयोग अधिकतर साधु सन्यासी करते थे तथा कभी-कभी अतिथि सत्कार के लिए भी फलों का प्रयोग किया जाता था। यद्यपि धर्मसूत्रों में विभिन्न प्रकार के फलों का उल्लेख नहीं है फिर भी वदिक कालीन आर्यों के भोजन-पान में फलाहार का मुख्य समझा जाता था।[5] समराइच्च कहा में निम्न लिखित फलों का उल्लेख है यथा—

आम्र[6]—(इसका प्रयोग कच्चा तथा पका नाना रूपों में किया जाता था) कदली[7] करील[8] फल (एक प्रकार का जगली फल था) कन्दमूल[9] नारंगी[10] जम्बीर[11] (जिमिरिया नामक फल), पनस[12] (कटहल) पूगफल[13] (सुपाड़ी जिसका

१ यशस्तिलक पृ० ४०२— प्रियतमाधररिव स्वाद मान पक्वान्न।

२ सम० क० ४ पृ० ३०७ देखिए—यशस्तिलक पृ० ५१२ ५१५।

३ ऋग्वेद १०।७१।२।

४ तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।८।१४।

५ ओमप्रकाश—फूड एण्ड ड्रिंक्स इन ऐंसियण्ट इण्डिया, पृ० ४२।

६ सम० क० ६, पृ० ५४६ देखिए—अष्टाध्यायी ८।४।५, आपस्तम्ब धर्मसूत्र १।७।२०।३ आदि पुराण १५।२५२।

७ सम० क० ६ पृ० ५४१ ९ पृ० ९७२ देखिए—आदिपुराण १७।१५२, यशस्तिलक, पृ० ५१२।

८ वही २ पृ० ८८।

९ वही ८, पृ० ७९९ ८०० देखिए—यशस्तिलक पृ० ५१२, ५१६।

१० वही ४ पृ० २५७ ५ पृ० ४३१ ४३३ ३४।

११ वही ९ पृ० ९७२ देखिए—यशस्तिलक पृ० ९६।

१२ वही ९ ९७२ देखिए—वाटर्स-आन युवान च्वाग १ पृ० १७७—(ह्वेनसाग ने भी यहाँ पनस का उल्लेख फलाहार की श्रेणी में किया है)।

१३ वही ४ पृ० ३४०, देखिए—आदि पुराण ३०।१३।

प्रयोग खाना खाने के बाद मुख शुद्धि के लिए किया जाता था) और अंगूर आदि[१]।

पेय पदार्थ

अन्नाहार और फलाहार के अलावा कुछ पेय भी आहार के रूप में प्रयुक्त होते थे। समराइच्च कहा में निम्नलिखित पेय पदार्थों का उल्लेख है।

दूध[२]—समराइच्च कहा के कथा प्रसंग में दूध का उल्लेख है। वैदिककाल से ही दूध का प्रयोग होता था जिसे ऋग्वेद में क्षीर[3] तथा पय[४] के नाम से उल्लिखित किया गया है। गाय का दूध गर्म करके काम में लाया जाता था।[५] गौतम[६] आपस्तम्ब,[७] वशिष्ठ[८] तथा बौधायन[९] धर्मसूत्रों में सन्धिनी गाय का दूध बछड़ा होने की स्थिति में दस दिन तक गाय भेंड़ और भैंस का दूध तथा ऊँटनी और अन्य जानवरों का दूध सर्वथा निषिद्ध बताया गया है। जैन ग्रंथ आदि पुराण में भी दूध का उल्लेख क्षीर[10] तथा पय[11] के रूप में हुआ है जो पीने के काम में आता था।

द्राक्षापानिक[12]—यह एक प्रकार का स्वास्थ्य वर्धक पेय पदार्थ था। आदि *पुराण में आरिष्ट[13] का उल्लेख प्राप्त होता है जो द्राक्षा गुण तथा चावल आदि* पदार्थों को सड़ा कर तैयार किया जाता था।

---

१ वही ९ प० ९५८ वाटर्स—आन युवान च्वांग १ प० १७७ ७८। (यहाँ ह्वेनसांग ने कश्मीर में अंगूर की अधिकता बतलाई है)।
२ *सम० क० ३, प० १९२ ७ प० ६७५।*
३ ऋग्वेद १।१६४।७।
४ वही १।१५३।४ १।२१।५ ६।५२।१०।
५ वही १।६२।९।
६ गौतम १७।२२ २६।
७ आपस्तम्ब धर्मसूत्र १।५।१७।२२ २४।
८ वशिष्ट धर्मसूत्र १४।३४ ३५।
९ बौधायन धर्मसूत्र १।५।१५६ १५८।
१० *आदि पुराण २०।११७ २६।४२।*
११ वही १३।१९३।
१२ सम० क० ९ पृ० ९५८।
१३ आदि पुराण ९।३७।

मदिरा—समराइच्च कहा में मन्दिरा पान का भी उल्लेख[1] ह जिसका सेवन करने वाला यक्ति निन्दित चरित्र का कहा गया ह। सुरा पान का वणन वन्कि काल मे ही प्राप्त होता ह। ऋग्वेद में इसका उल्लेख कई बार किया गया ह।[2] छान्दोग्य उपनिषद् में सुरा पान करने वालों को पापी बताया गया ह।[3] इसी ग्रन्थ में एक स्थान पर केकय के राजा अश्वपति ने कहा ह कि उनके राज्य में मद्यपान नही किये जाते।[4] गौतक धमसूत्र[5] आपस्तम्ब धमसूत्र[6] एव मनुस्मृति[7] आदि ग्रन्थों में ब्राह्मणा क लिए सभी प्रकार की नशीली वस्तुआ का प्रयोग वर्जित कहा गया ह। स्मृतिया में सुरापान को महापातक बताया गया ह।[8] यानिया न, यथा—सुलेमान,[9] अबूजंद[10] इब्नखुरददव[11] तथा अल्मसूदी[12] आदि क विवरण स पता चलता है कि हिन्द के लोग मदिरा पान को त्याज्य समझते थे। यद्यपि धार्मिक दष्टि से मन्दिरा पान घृणित माना जाता था फिर भी समाज में विभिन्न वग के लोग इसका सेवन करते थे।

मासाहार

समराइच्च कहा में जहा हमें अन्नाहार और फलाहार का उल्लेख है वही मासाहार का भी उल्लेख प्राप्त हाता ह।[13] यद्यपि धार्मिक दष्टिकाण स तत्कालीन समाज में मासाहार को त्याज्य माना जाता था फिर भी समाज के उच्च

---

१ सम० क० ८ प० २८० (यहा पूव कृतकम दाप से सुरापान कर दुराचरण करने का उल्लेख ह) ६ प० ५५४ ८ ८२७।
२ ऋग्वेद १।११६।७ ८।२।१२।
३ छान्दोग्य उपनिषद् ५।१०।९।
४ वही ५।११।५।
५ गौतम धमसूत्र २।२५।
६ आपस्तम्ब धमसूत्र १।५।१७।२१।
७ मनुस्मृति १०।९४।
८ मनु० ११।५४, याज्ञवल्क्य० ३।२२७।
९ इलियट एण्ड डाउसन–हिस्ट्री आफ इण्डिया इज टाल्ड बाई हर औन हिस्टारियन वाल्यूम १, पृ० ७।
१० वही १, पृ० ८।
११ वही १ पृ० १३।
१२ वही १ प० २०।
१३ सम० क० ४ पृ० ३०३ ३१३, ६, ५७८, ६०२।

वग तक के लाग अर्थात ब्राह्मण और क्षत्रिय भी मास का प्रयोग करते थे।[१] समराइच्च कहा में एक स्थान पर नरक लोक में नारकियों को दी जाने वाल यातनाओ में मास भक्षण के परिणाम स्वरूप उनके शरीर के मास को पक्षिया स नोचे जान की वात कही गयी ह।[२] इसस स्पष्ट होता ह कि जन विचारधारा में मास भक्षण त्याज्य था। मासाहार का प्रचलन अति प्राचीन काल से चला आ रहा ह। ऋग्वेद में आया ह कि अग्नि के लिए घाडा वैलो साडा, बाँझ गाया एव भेडा की वलि दी गयी।[3] यद्यपि ऋग्वेद में गाय का रुद्रो की माता वसुआ की पुत्री आदित्यो की हवन एव अमृत का केन्द्र मानकर उसकी हत्या करने का मनाही की गया ह[४] किन्तु कही-कही ब्राह्मण ग्रन्थो में गाय का वलि दी जाने का भी सकेत मिलता ह।[५] शतपथ ब्राह्मण में मास का सवश्रेष्ठ भोजन बताया गया ह।[६] यद्यपि वैदिक कालीन समाज में मास भक्षण विहित था। कालान्तर में धार्मिक दष्टिकाण स इसके प्रति घृणा का भाव बना। शतपथ ब्राह्मण में भी यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया ह कि मासभक्षी अगले जन्म में उन्ही पशुओ द्वारा खाया जायगा।[७] बृहदारण्यक उपनिषद में आया ह कि जो व्यक्ति बुद्धिमान पुत्र का इच्छुक ह वह बल या साड या किसी अन्य पशु के मास को चावल एव घृत में पकाये।[८] आपस्तम्ब धमसूत्र में श्राद्ध के समय मास भक्षण का उल्लेख ह।[९] इसी प्रकार अश्वलायन गृह्य सूत्र में भी अतिथि के स्वागत के लिए मास भक्षण का उल्लेख ह।[१०]

समराइच्च कहा में मछली[११] सूकर[१२] वकरा महिष[१३] और शशक[१४] आदि

---

१ सम० क० ४ पृ० ३१६ ३१८।

२ वही ८ पृ० ८५३ ५५।

३ ऋग्वेद १०।९१।१४ ८।४३।११ १०।७९।६।

४ वही १०।१।१५ १६।

५ तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।९।८ शतपथ ब्राह्मण ३।९।२।२१।

६ शतपथ ब्राह्मण ११।७।१।३।

७ काणे—धमशास्त्र का इतिहास भाग १ पृ० ४२१।

८ बृहदारण्यक उपनिषद् ६।४।१८।

९ आपस्तम्ब धर्मसूत्र—२।७।१६।२५।

१० आश्वलायन गृह्यसूत्र १२।२४।२२ २६।

११ सम० क० ४ पृ० ३१३।

१२ वही ३ पृ० ३७४।

१३ वही ४ पृ० ३१९।

१४ वही ६ पृ० ५१८।

का मास खाने का उल्लेख है। जीवित महिष तथा मछली को निर्दयता पूर्वक भून कर तथा उसमें सोंठ, पीपल, मीच लवंग और हल्दी डालकर पकाया जाता था।[1] मनु ने मधुपर्क यज्ञ, देव कृत्य एव श्राद्ध में पशु हत्या की आज्ञा दी है।[2] आगे उन्होंने यह भी लिखा है कि जब प्राणसंकट में हो तो मास भक्षण से पाप नही लगता[3] जिसका यानवल्क्य[4] ने भी किया है। एक स्थान पर तो मनु ने लिखा है कि मास भक्षण मद्य पान एव मथुन में दोष नही है क्योंकि ये स्वाभाविक प्रवृत्तिया है।[5] काणे के अनुसार स्मृति काल में दो प्रकार के व्यक्ति थे एक व जो मास भक्षण को वर्जित मानते थे। किंतु वेद के कथनानुसार यज्ञ आदि अवसरों पर ही पशु बलि देते थे और दूसरे ऐसे लोग थे जो बिना नियत्रण के मास भक्षण करते थे।[6] मनु ने सभी प्रकार की मछलियों के भक्षण का निकृष्ट माना है किन्तु श्राद्ध आदि के समय राहित राजीव सिंह की मुखाकृति वाली मछलियों की छूट दी है।[7] इस प्रकार धर्म शास्त्रों में भी मास, मछली खाने का उल्लेख है किन्तु यहा समय विशेष का ध्यान रख कर इसका उपयोग किया जाता था। चीनी यात्री ह्वेनसाग के अनुसार मछली, भेंड का मास तथा हिरन का मास स्वादिष्ट समझा जाता था।[8] हर्षचरित में भी उल्लिखित है कि हर्ष के सनिकों का बकरी हिरन चातक (चिड़िया) और खरगोश का मास दिया जाता था।[9] अल्बरूनी के अनुसार तत्कालीन समाज में भेंड बकरे, खरगोश भैंसे मछली, मृग, गडा पानी में तथा स्थल पर रहने वाले पक्षिया में गौरैया, पेंडुकी तथा मोर आदि का मास खाया जाता था।[10]

इन उपरोक्त साक्ष्यों से स्पष्ट होता है कि हरिभद्र सूरि के काल में भी मास भक्षण का प्रचलन था किन्तु धार्मिक दृष्टिकोण से इसे उचित नही समझा जाता था।

---

१ समः क० ३ पृ० ३१३, ३१०।
२ मनु० ५।२७ तथा ४४।
३ वही ५।२७ तथा ३२।
४ यानवल्क्य० १।१७९।
५ यानवल्क्य ५।५३।
६ पी० वी० काणे—धर्मशास्त्र का इतिहास भाग १, प० ४२३।
७ मनु० ५।१६।
८ वाटर्स—आन युवान च्वाग १ पृ० १७८।
९ हर्षचरित ७ पृ० १५१।
१० सचाऊ—अल्बरूनीज इण्डिया २ प० १५१।

वस्त्र

संस्कृति के अन्तर्गत भोजन पान के साथ-साथ वस्त्र एवं आभूषण का भी विशेष महत्त्व है। किसी भी देश के लोगों की सांस्कृतिक स्थिति का पता उसमें रहने वाले लोगों के वेशभूषा से भी आंका जा सकता है। मोहन-जोदड़ो और हड़प्पा की सभ्यता में तो बहुधा लोग नंगे ही रहा करते थे और यदि कुछ लोग कपड़े पहनते भी थे तो वह लंगोटी या छोटी धोती के रूप में। कभी-कभी लोग चादर भी ओढ़ लेते थे और अपने बाल फीते से बाँध लेते थे।[1] वैदिक काल से लेकर बाद की शती तक सिले हुए कपड़ा एवं आभूषणों का उल्लेख साहित्य में बराबर मिलता है और उनका अंकन भी बहुधा चित्रों में हुआ है।[2] बहुत प्राचीन काल से गान्धार और पंजाब में लोग ठंडक के कारण सिले वस्त्र पहनते थे और इन सिले हुए वस्त्रों में यूनानी, ईरानी और मध्यएशिया का काफी प्रभाव देखने को मिलता है। इन प्रान्तों का उपरोक्त जातियों से अति प्राचीन काल से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध था। परिणामतः दोनों में सांस्कृतिक आदान-प्रदान का होना स्वाभाविक था।[3]

समराइच्च कहा के वर्णन से पता चलता है कि जहाँ धनी-सम्पन्न तथा राज घरानों के लोग मूल्यवान एवं सुन्दर वस्त्रों को धारण करते थे वहीं गरीब लोग मलिन तथा फटे पुराने वस्त्रों को पहन कर किसी तरह अपना जीवन निर्वाह करते थे।

वस्त्र के प्रकार

समराइच्च कहा में निम्नलिखित प्रकार के वस्त्रों का उल्लेख है।

दुकूल—समराइच्च कहा में इसका उल्लेख कई बार आया है।[4] यह एक श्वेत रंग का सुन्दर एवं कीमती वस्त्र था। इसका प्रयोग अधिकतर धनी सम्पन्न तथा राजा महाराजा ही करते थे। दुकूल का उल्लेख महाभारत में भी आया है जिसे मोतीचन्द्र ने रोमन लेखकों का वाइसास माना है। आगे उन्हीं के अनुसार यह दुकूल वृक्ष की छाल के रेशे से बनता था बंगाल का बना दुकूल सफेद और मुलायम होता था पौंड्र का नीला और चिकना तथा सुवर्ण कुड्या का दुकूल ललाई लिए होता था। इसी प्रकार मणिस्निग्धोदकवान दुकूल घुट

१ मोतीचन्द्र—प्राचीन भारतीय वेशभूषा भूमिका पृ० ३।
२ वही—भूमिका पृ० २।
३ वही पृ० ३।
४ सम० क० ४ पृ० २९७ ५ पृ० ४९५, ८ पृ० ७९८।

हुए सूत के बनते थे।[1] आचारांग सूत्र में उल्लिखित है कि दुकूल बंगाल में पैदा होने वाले एक विशेष प्रकार की रुई से बनने वाला वस्त्र था।[2] निशीथ चूर्णी में दुकूल को दुकूल नामक वृक्ष की छाल को कूटकर इसके रेशे से बनाये जाने वाला वस्त्र कहा गया है।[3] हर्षचरित में दुकूल का प्रयोग उत्तरीय अधोवस्त्र साड़ी चादर आदि के रूप में किये जाने का उल्लेख है।[4] वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार सम्भवतः दुकूल का अर्थ देश्य या आदिम भाषा में कपड़ा था जिससे कालिक शब्द बना है। लहरी चादर या थान के रूप में विक्रयार्थ आने के कारण पट्ट द्विकूल या दुकूल कहलाने लगा।[5] यशस्तिलक में भी दुकूल का उल्लेख पाया गया है, राजपुर में दुकूल और अंशुक की ध्वजतियां (पताकायें) लगाई गयी थी।[6] इसी ग्रन्थ में आगे बताया गया है कि राज्याभिषेक के बाद सम्राट यशोधर ने धवल दुकूल धारण किये।[7] हम्मीर महाकाव्य में नीले रंग के दुकूल का उल्लेख है।[8]

इन सभी उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि दुकूल श्वेत नीले तथा लाल आदि विभिन्न रंगों का होता था जो मृदु स्निग्ध तथा कीमती किस्म का कपड़ा समझा जाता था।

अंशुक—समराइच्च कहा के उल्लेख से पता चलता है कि अंशुक एक प्रकार का महीन एवं सुन्दर रेशमी वस्त्र था।[9] मोतीचन्द्र के अनुसार यह चन्द्र किरण एवं श्वेत कमल के समान सफेद होता था।[10] बुनावट के अनुसार इसके कई भेद बताये गये हैं यथा एकांशुक अध्यर्धांशुक द्वयंशुक और त्र्यंशुक आदि।[11]

---

१ मोतीचन्द्र—प्राचीन भारतीय वेशभूषा भूमिका पृ० ९।
२ आचारांग सूत्र २५।१३—दुकूल गौड विषय विशिष्ट कार्पासिकम।
३ निशीथ चूर्णी ७ पृ० १०-१२ दुगुलो रुक्खो तरस वागा घेतु उदूखले कुट्टिज्जति पाणिएण ताव जाव भूमी भूता ताहे कज्जति एतपु दुगुल्ला।
४ हर्षचरित—१ पृ० ३४ ३, पृ० ८५ तथा ५ पृ० १७२।
५ वासुदेवशरण अग्रवाल—हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन पृ० ७६।
६ यशस्तिलक पृ० १९ (दुकूलांशुक ध्वजयन्ती सततिभि)।
७ यशस्तिलक, पृ० ३२३ धत धवल दुकूल माल्य विलेपनालंकार।
८ दशरथ शर्मा—अर्ली चौहान डायनेस्टीज, पृ० २६२ में उद्धृत।
९ सम० क० १, पृ० ७४।
१० मोतीचन्द्र—प्राचीन भारतीय वेशभूषा, पृ० ५५।
११ वही पृ० ५५।

आचाराग सूत्र में अशुक और चीनाशुक दाना का उल्लेख मिलता ह ।[१] वृहत कल्पभाष्य में दाना को पथक-पृथक गिनाया गया ह ।[2] कालिदास ने भी सीताशुक[3], अरुणाशुक[४] रक्ताशुक[५] तथा नीलाशुक[६] का उल्लेख किया ह । हषचरित में भी एक स्थान पर मृणाल क रशा से अशुक की सूक्ष्मता का निदशन कराया गया ह ।[७] एक अन्य स्थान पर फूल-पत्तियों और पक्षियों की आकृतियों से सुशोभित अशुक का भी उल्लेख हुआ ह ।[८] अग्निपुराण में भी रग भेद से इसे सिताशुक रक्ताशुक और नीलाशुक आदि कई नामों से उल्लिखित किया गया ह ।[९]

यशस्तिलक में भी सफेद अशुक कुसुम्भाशुक या ललाई लिए हुए रग का अशुक[१०] तथा कादमिकाशुक अर्थात नीला या मटमले रग का अशुक[११] आदि का उल्लेख ह । रग आदि के भेद से अशुक कई प्रकार का हाता था जो सभवत दुकूल स निम्नकोटि का कपडा माना जाता था ।[१२] यह सुदर स्निग्ध तथा महीन हाता था ।

चीनाशुक—समराइच्चकहा में चीनाशुक नामक वस्त्र का भी उल्लेख ह ।[१३] यह एक प्रकार का पतला एव स्निग्ध रेशमी वस्त्र था । इसका उल्लेख अन्य जन ग्रन्थों में भी किया गया ह ।[१४] वहतकल्पभाष्य में इसकी व्याख्या कोषकार नामक कीडे से अथवा चीन जनपद के बहुत पतले रेशम से बने वस्त्र से की गई ह ।[१५]

---

१ आचाराग २।१४।६—अंशुयाणि वा चीणासुयाणि वा ।
२ वहत्कल्पभाष्य सूत्र ४।३६६१— असुग चीणसुगे च विगलेंदी ।'
३ विक्रमावशी ३।१२—सिताशुका मगल मात्र भूषणा ।
४ रघुवश ९।४३— अरुणरागनिषेधिभिरशुक ।'
५ ऋतु सहार ६।४।२९ ।
६ विक्रमावशी प० ६० ।
७ हषचरित १, प० १० ।
८ वही १ पृ० ११४—वहुविधिकुसुमशकुनिशतशोभितादूतिस्वच्छादशुकात ।
९ अग्निपुराण १०।१८१ ११।१३३, १२।३० १५।२३ ।
१० यशस्तिलक–उत्तर खण्ड, पृ० १३—'सित पताकाशुक ।
११ वही पृ० १४—कुसम्भाशुक पिहित गौरीपयोधर ।
१२ वही प० २२०— कादमिकाशुकाधिकृत काय परिकर ।
१३ सम० क० ५ प० ८३८ ।
१४ आचाराग २।१४।६ भगवतीसूत्र ९।३३।९, निशीथ चूर्णी ७ प० ११ ।
१५ वहत्कल्पभाष्य ४।३६।६२ ।

दशरथ शर्मा के अनुसार चीनांशुक चीनी सिल्क की भांति जान पड़ता है।[1]

अधचीनांशुक—चीनांशुक की भाँति समराइच्च कहा में अधचीनांशुक का भी उल्लेख है।[2] सम्भवतः यह आधा रेशम तथा आधा सूत का बना होता था अथवा चीनांशुक के छोटे नाप का टुकड़ा था।

देवदूष्य—यह एक दिव्य किस्म का वस्त्र था जिसका प्रयोग अधिकतर धार्मिक प्रवृत्ति के लोग तथा राजा-महाराजा ही करते थे।[3] आदिपुराण में दुष्य का उल्लेख है जिसके अनुसार दूष्यशाला[4] कपड़े की कान्नी के लिए उपयुक्त समझा जाता था। वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार स्तूपके शरीर पर जो कीमती वस्त्र चढ़ाये जाते थे वे देवदूष्य कहलाते थे।[5] भगवती सूत्र में देवदूष्य को एक प्रकार का देवी वस्त्र बताया गया है जिसे भगवान महावीर ने धारण किया था।[6]

क्षौम वस्त्र—समराइच्च कहा में इसका उल्लेख कई जगह किया गया है।[7] वैदिक साहित्य में भी इसका उल्लेख है जिसे मोतीचन्द ने अलसी की छाल से निर्मित बताया है।[8] तैत्तिरीय संहिता में भी इसका उल्लेख आया है।[9] आश्वलायन श्रौतसूत्र में क्षौम का उल्लेख दान देने के संदर्भ में हुआ है।[10] आदिपुराण में भी क्षौम का उल्लेख है जो अत्यधिक कीमती, मुलायम और सूक्ष्म होता था।[11] हर्षचरित से पता चलता है कि आसाम के राजा भास्करवर्मन ने हर्ष को बहुत से क्षौम के लम्बे टुकड़े भेंट स्वरूप प्रदान किये थे।[12] वासुदेवशरण

---

१ राजस्थान भारती, ५—में—दशरथ शर्मा—ग्यारवीं शताब्दी में आनन्द सुखान्ति की सामग्री।

२ सम० क० २ पृ० १००।

३ वही ४, पृ० २९१ ९, पृ० ८९८ ९११ ९५७, ९७३।

४ आदिपुराण २७।२४।

५ वासुदेवशरण अग्रवाल—हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० ७५।

६ भगवती सूत्र १५।१।५४१।

७ सम० क० ७ पृ० ६३४ ३५ ६४७।

८ मोतीचन्द—प्राचीन भारतीय वेशभूषा भूमिका पृ० ४।

९ तैत्तिरीय संहिता ६।१।१।३।

१० आश्वलायन श्रौत सूत्र २।३।४।१७।

११ आदिपुराण १२।१७३।

१२ हर्षचरित ७ पृ० २१७।

अग्रवाल के अनुसार यह आसाम और बंगाल में उत्पन्न एक प्रकार की घास से निर्मित किया जाता था।[1] काशी और पुण्ड्र देश क्षौम के लिए प्रसिद्ध थे।[2] उपरोक्त उल्लेखों से स्पष्ट होता है कि क्षौम एक प्रकार का महान कीमती एवं सुन्दर वस्त्र था जिसका प्रयोग अधिकतर धनी सम्पन्न एवं राजघराने के लोग ही कर पाते थे।

पटवास—समराइच्चकहा में पटवास का भी उल्लेख है।[3] अग्निपुराण में पटांशुक का उल्लेख है[4] जिसका अर्थ रेशमी वस्त्र से लगाया जा सकता है। पटवास और पटांशुक एक दूसरे से भिन्न थे। पटांशुक एक कीमती रेशमी वस्त्र था जिसका प्रयोग धनिक ही कर पाते थे जबकि पटवास सूती एवं सस्ते किस्म का वस्त्र था जिसका प्रयोग साधारण लोग भी करते थे। हर्षचरित में राज्यश्री के विवाह के समय नये रंगे हुए दुकूल वस्त्रों के बने हुए पटवितान लगे हुए थे और पूरे थान में से पट्टियाँ और छोटे-छोटे पट्ट फाड़ कर अनेक प्रकार की सजावट के काम में लाये जा रहे थे। यहाँ वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार सम्भवतः पूरा थान था और पट्ट लम्बी पट्टियाँ थीं जो झालर आदि के काम में लाया जा रहा था।[5] इन सब उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि पटवास सम्भवतः साधारण किस्म का कपड़ा रहा होगा।

वल्कल—इसका प्रयोग अधिकतर जंगल में रहने वाले ऋषियों अथवा साधु सन्यासी ही करते थे।[6] छाल के वस्त्र को वल्कल कहा जाता था जो बौद्ध भिक्षुओं का अतिरिक्त था।[7] कालिदास ने कुमारसम्भव में वल्कल वस्त्र का उल्लेख किया है।[8] बाणभट्ट ने उत्तरीय और धारण के रूप में वल्कल के दुकूल का उल्लेख किया है।[9] हर्षचरित में उल्लिखित है कि सावित्री ने कल्पद्रुम की छाल से निर्मित वल्कल वस्त्र धारण किया था।[10]

1 वासुदेवशरण अग्रवाल—हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० ७६।
2 [illegible]—प्राचीन भारतीय वेशभूषा, भूमिका पृ० ९।
3 सम० क० ७ पृ० ६४।
4 अग्निपुराण ११।४८।
5 वासुदेवशरण अग्रवाल—हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन पृ० ८१।
6 सम० क० ८ पृ० ७४८।
7 डा० मोतीचन्द्र—प्राचीन भारतीय वेशभूषा पृ० १९।
8 कुमारसम्भव [illegible]।
9 हर्षचरित १ पृ० ३८, ३ पृ० ९८, कादम्बरी पृ० ११९, १७३।
10 हर्षचरित—१ पृ० १०।

अन्य वस्त्र

उत्तरीय—समराइच्च कहा में उत्तरीय का चादर के रूप में उल्लिखित किया गया है जो कमर से ऊपर ओढने के प्रयोग में आता था।[१] इसे कन्धों पर धारण किया जाता था।[२] यशस्तिलक में उल्लिखित है कि मुनिकुमार युगल शरीर की शुभ्र प्रभा के कारण ऐसे प्रतीत होते थे जैसे उन्होंने दुकूल का उत्तरीय ओढ रखा हो।[३] आगे इसी ग्रन्थ में उल्लिखित है कि कुमार यशोधर के राज्याभिषेक का मुहूर्त निकालने के लिए जो ज्योतिषी इकट्ठे हुए थे वे दुकूल के उत्तरीय से अपना मुह ढके थे।[४] अमरकोष में उत्तरीय को ओढने वाला वस्त्र बताया गया है।[५] कादम्बरी और हर्षचरित में उत्तरीय का उल्लेख है। हर्षचरित में वल्कल के भी उत्तरीय का उल्लेख मिलता है।[७] इन सभी प्रमाणों से स्पष्ट होता है कि उत्तरीय का प्रयोग कमर से ऊपर ओढने के लिए होता था। यह विभिन्न किस्म का होता था।

कम्बल[८]—यह भेड़-बकरी के बाल से तैयार किया जाने वाला वस्त्र था जो ओढने के लिए प्रयुक्त होता था। कम्बल का प्राचीनतम उल्लेख अथर्ववेद में मिलता है।[९] आदिपुराण में भी इस वस्त्र का नाम आया है।[१०] ह्वेनसांग के अनुसार यह भेड़, बकरी के ऊनसे निर्मित किया जाता था और मुलायम तथा सुन्दर होता था।[११]

---

१ सम० क० ४, पृ० २५४ २६९ ५ पृ० ४२३ ४४४,५ पृ० ४९५ ९ पृ० ८६२।

२ ए० के० मजूमदार—चालुक्याज आफ गुजरात पृ० ३५६।

३ यशस्तिलक, पृ० १५९, वपुप्रभापटल दुकूलोत्तरायम।

४ यशस्तिलक पृ० ३१६ उत्तरीय दुकूलाचल विहित विम्बिना।

५ अमरकोष २।६।११८। स यानमुत्तरीय च।

६ हर्षचरित १ पृ० ३४ ५ पृ० १६२ कादम्बरी पृ० ८५ ९५, १३८, १७४।

७ हर्षचरित १ पृ० ३४ ४ पृ० १४३।

८ वही ३ पृ० ६५६ ६६१।

९ अथर्ववेद १४।२।६६ ६७।

१० आदिपुराण ४७।४६।

११ वाटर्स—ऑन युवानच्वांग १ पृ० १४८।

चेल वस्त्र[1]—यह एक मोटा और मजबूत किस्म का कपडा होता था। समराइच्च कहा में चेलगृह[2] का उल्लेख है जिससे पता चलता है कि यह एक मोटा तथा मजबूत कपडा रहा होगा जो दरी गलीचा तथा तम्बू आदि बनाने के काम में आता था। भगवती सूत्र में भी चेल का उल्लेख है जिसे साधारण लोग अथवा साधु-सन्यासी धारण करते थे।[3]

स्तनाच्छादन—समराइच्च कहा में मणि रत्नो से जटिल एक प्रकार का वस्त्र बताया गया है जिसका प्रयोग राजघरानों की स्त्रियाँ करती थी।[4] यहाँ इसका व्यवहार वक्ष बन्धनी के रूप में किया गया है। वैदिक काल में आर्य स्त्रियाँ स्तनपट्ट धारण करती थी।[5] यहाँ इसका व्यवहार वक्ष बन्धनी के रूप में किया गया है। गुप्त काल में भी उस समय के सिक्को पर स्तन पट्ट धारण की हुई स्त्रियों के चित्र अंकित है।[6] आदि पुराण में स्तनांशुक शब्द का उल्लेख मिलता है।[7] सम्भवत यह एक रेशमी वस्त्र का टुकडा होता था जिसे स्त्रियाँ वक्ष स्थल पर सामने से लेकर पीछे पीठ की ओर बाँधती थी। समराइच्च कहा में इसे मणि रत्नो से युक्त बताया गया है जो सौंदर्य वृद्धि के लिए जटित किये गये जान पडते हैं।

गण्डोपधान[8]—समराइच्च कहा में इसे रख कर आराम से बैठने के लिए प्रयुक्त समझा गया है। सम्भवत यह गोल तकिया की तरह का होता था।

अलगणिका[9]—यह एक प्रकार की लम्बी तकिया होती थी जिसका प्रयोग सोते समय किया जाता था।

आभूषण

हरिभद्र कालीन समाज के लोग विविध प्रकार के आभूषणों का प्रयोग करते थे। वस्त्रो के धारण करने की कला के आविष्कार के साथ-साथ आभूषणो

१ सम० क० ८, पृ० ७६६।
२ वही ७ पृ० ६५६ ६६१।
३ भगवती सूत्र ११।०।४१७, १५।१।५४१।
४ सम० क० २ प० ९५।
५ मोतीचन्द—प्राचीन भारतीय वेशभूषा भूमिका प० ४।
६ वही पृ० २३।
७ आदिपुराण १२।१७६ ८।८।
८ सम० क० ९ पृ० ९७४।
९ वही ९ प० ९७४।

का भी प्रयाग भारतीय सभ्यता के विकास के साथ-साथ प्रारभ हुआ।[१] समराइच्च कहा में निम्नलिखित आभूपणा का उल्लेख ह।

कुण्डल—इसका उल्लेख समराइच्च कहा में कई स्थाना पर किया गया ह।[२] यह कान में पहना जाने वाला एक अलकार था जिसे स्त्री पुरुष दोना धारण करत थे। कुण्डल की आकृति गोल-गोल छल्ले के समान हाती थी। अमरकोष में इसे कान का लपेट कर पहना जाने वाला आभूषण बताया गया ह।[३] इसमें गोल बाली तथा साने की इकहरी लडी लगी होती था अजन्ता की चित्रकला में इस तरह के कुण्डला का चित्रित किया गया है।[४] हम्मीर महाकाव्य में भी कुण्डल का उल्लेख ह जिसका प्रयोग पुरुष किया करते थे।[५] यशस्तिलक में आया ह कि सम्राट यशाधर चन्द्रकान्त के बने कुण्डल धारण किये थे।[६] इसी ग्रथ में आगे उल्लिखित है कि मुनिकुमारयगल बिना आभूपणा के ही अपने कपालो की कान्ति से ही एसे लगते थे मानो काना में कुण्डल धारण किय हा।[७] आदिपुराण में मणि कुण्डल[८] रत्न कुण्डल[९] कुण्डली तथा मकराकृत[१०] कुण्डल आदि विभिन्न प्रकार के कुण्डलो का उल्लेख ह जिससे स्पष्ट हाता ह कि उस समय विभिन्न प्रकार के कुण्डला का प्रयोग किया जाता था। यहाँ कुण्डली का तात्पय छाटे आकृति के कुण्डल से लगाया जा सकता है।

कटक—समराइच्च कहा में कटक का उल्लेख कई बार किया गया ह।[११] इसका प्रयोग स्त्री-पुरुष दोनों करते थे। यह हाथ में पहना जाने वाला

---

१ जे० सी० सिकदार—स्टडीज इन दी भगवती सूत्र प० २४१।

२ सम० क०—१ प० ३१ २, प० ९६ १०० १३१ ५ प० ४५२ ६ पृ० ५८१, ५९५, ७, प० ६३९ ६९८ ९ प० ९११।

३ अमरकोष २।६।७३०। कुण्डलं कण वेष्टनम।

४ वासुदेवशरण अग्रवाल—हर्षचरित एक सास्कृतिक अध्ययन फलक २० चित्र ७८।

५ दशरथ शर्मा—अर्ली चौहान डाइनेस्टीज पृ० २६३ में उद्धत।

६ यशस्तिलक—पृ० ३६७ (कुण्डलाम्यामलकृत श्रवण)।

७ वहा प० १५९ (कपोलकान्ति कुण्डलित मुखमडलम)।

८ आदिपुराण ३३।१२४, ९।१९०, १४।११।

९ वही ४।१७७, १५।१८९।

१० वही ३।७२।

११ वही १६।३३।

१२ सम० क० १, प० ३१, ७, पृ० ७१४ १५-१६, ७२४। - -

आभूषण था। कटक वदम्ब (पटल सिपाही) की व्याख्या में वासुदेवशरण अग्रवाल ने बताया है कि सम्भवत कटक (कडा) पहनने के कारण ही उन्हें कटक वदम्ब कहा जाता था।[1] हर्षचरित में भी कटक और केयूर दोनों का उल्लेख आया है।[2] कटक और केयूर दोनों का प्रयोग स्त्री पुरुष करते थे। आदि पुराण में एक स्थान पर रत्निय कटक[3] का उल्लेख है जिसे रत्न जटित कडा कहा जा सकता है।

केयूर[4]—इसका प्रयोग स्त्री-पुरुष दोनों करते थे। अमर कोष में अंगद और केयूर को पर्याय बताया गया है।[5] भर्तृहरि ने केयूर का उल्लेख पुरुषों के अलंकार के रूप में किया है।[6] किन्तु इसके विपरीत यशस्तिलक में आया है कि विरह की स्थिति में स्त्रियाँ बाहु का केयूर पैरों में तथा पैरों का नूपुर बाहु में पहन लेती है।[7]

मुद्रिका—समराइच्च कहा में इस अगुलियों में पहना जाने वाला अलंकार बताया गया है।[8] मुद्रिका का उल्लेख भगवती सूत्र में भी आया है।[9] यशस्तिलक में अंगूठी के लिए उर्मिका[10] तथा अगुलीयक[11] शब्द आये हैं। हर्षचरित में भी उर्मिला का उल्लेख है।[12] सम्भवत भँवर के समान चक्कर लगाकर बनायी गई अगूठी को उर्मिका कहा गया है। त्रिशष्टिशलाका पुरुष चरित में भी स्त्री के आभूषण के रूप में अगूठी का उल्लेख है।[13] मुद्रिका का

---

१ वासुदेवशरण अग्रवाल—हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन पृ० १३१।
२ वही पृ० १७६ में उद्धत।
३ आदि पुराण २९।१६७।
४ सम० क० १ पृ० ३१ २ पृ० १०० ७ पृ० ६३८।
५ अमरकोष २।६।१०७ (केयूरमगद तुल्ये)।
६ भर्तृहरिशतक २।१९। केयूर न विभूषयन्त पुरुष देखिए—रघुवश ६।६८ कुमारसम्भव ७।६९।
७ यशस्तिलक पृ० ६१७ केयूरचरणघृतविरचित हस्ते च हिजीरिकम।
८ सम० क० २ पृ० ९६ ९८।
९ दशरथ शर्मा—अर्ली चौहान डाइनेस्टीज पृ० २६२।
१० यशस्तिलक पृ० ६७ (सरलोर्मिकाभरण)।
११ वही उत्तर पृ० २३१ (प्रसादी करोत्यगुलीयकम)।
१२ हर्षचरित १ पृ० १० (कम्बुनिर्मितोर्मिका)।
१३ ए० के० मजूमदार—चालुक्यराज आफ गुजरात पृ० ३५९ में उद्धत।

प्रयोग स्त्री-पुरुष नाना करते थे जा अपने मामथ्य के अनुमार मोने-चानी आदि की वनवाई जाती थी।

कङ्कण—समराइच्च कहा में इसे कण्ठाभरण के साथ उल्लिखित किया गया ह।[1] प्राचीन काल में ककण पहनने का भी प्रचलन था। भतहरि ने इसे कलाई का आभूषण कहा ह।[2] यशस्तिलक में आया है कि यौधेय जनपद में कृपकों की स्त्रिया सोने क ककण पहनती थी।[3] अत स्पष्ट ह कि हरिभद्र के काल में ककण का प्रचलन स्त्री-पुरुष दोनों में था।

नूपुर—समराइच्च कहा में इसे स्त्रिया क अभूषण के रूप में उल्लिखित किया गया ह।[4] यह पर में पहना जाने वाला स्त्रिया का एक अलकार था। हितोपदश में नूपुर को पर का आभूषण बताया गया ह।[5] आदिपुराण में मणिनूपुर का उल्लेख ह।[6] नूपर को राजस्थान में नेवरी कहा जाता था।[7] हप चरित में भी नूपुर को स्त्रिया का आभूषण बताया गया ह[8] जिसे पर में धारण करती थी।

रत्नावली—यह रत्ना का बनी हुई माला होती थी जिसे राजघरानों की स्त्रियाँ ही धारण करती थी।[9] रत्नावली का उल्लेख भगवती सूत्र[10] तथा आदि पुराण[11] में आया है। रत्नावली में नाना प्रकार के रत्न गँथे जाते थे और मध्य में एक बडी मणि जटित रहती थी।

हार—समराइच्च कहा में हार का उल्लेख कई बार किया गया है।[12] यह

१ सम० क० ६ प० ५९७ (ठवमि एयस्स समीवे छिन्नकण कण्ठाहरण)।
२ भतहरिशतक २।७१। (दानेन पाणिन तु ककणेन विभाति)।
३ यशस्तिलक प० १५।
४ सम० क० २, प० ८२, ९५, ८, पृ० २६९ ६ प० ४९३, ७ पृ० ६३९ ८ प० ७११, ९ पृ० ९४४।
५ हितोपदश २।७१ नहि चूडामणि पादे नूपुर मूर्ध्निधार्यते।'
६ आदिपुराण ७।२३७ १२।२२, ५।२६८ ७।१२९।
७ दशरथ शर्मा—अर्लो चौहान डायनेस्टीज पृ० २६२।
८ वासुदेव शरण अग्रवाल—हप चरित एक सास्कृतिक अध्ययन, पृ० ६१।
९ सम० क० ४, पृ० २५४, २८५।
१० भगवती सूत्र ११।११।४३०।
११ आदि पुराण १६।५०।
१२ सम० क० २ प० ७६ ८५, ९१, ९६, १००, ३, पृ० २२० ५ प० ३८० ४५२, ६, पृ० ४९५ ७ प० ६१० ११, ६२७ ६३९, ६९८, ° पृ० ९११।

गले में धारण किया जाने वाला आभूषण था। कालिदास ने हार का उल्लेख कई रूपों में किया है यथा हार[1] हारशेखर[2] हारयष्टि[3] तारहार[4] तथा लम्बहार[5] आदि। अग्निपुराण में एक सौ आठ मुक्ता लड़ियों से युक्त हार का उल्लेख है।[6]

एकावली—समराइच्च कहा के कथा प्रसंग में इसका उल्लेख आया है।[7] मोतियों की एक लड़ी की माला को एकावली कहा गया है जो मोतियों को घने रूप में गूंथ कर बनायी जाती थी। अमर कोष में एकावली को मोतियों की इकहरी माला कहा गया है।[8] गुप्त काल में एकावली सभी आभूषणों से अधिक प्रिय थी। वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार गुप्त कालीन शिल्प की मूर्तियों और चित्रों में इन्द्रनील की मध्य गुरिया सहित मोतियों की एकावली पायी जाती है। यह घने मोतियों को गूँथ कर बनायी जाती थी।[9] यशस्तिलक में उज्ज्वल मोती की मध्य मणि के रूप में लगा कर एकावली बनाने का उल्लेख है।[10]

मणिमेखला—समराइच्च कहा में इसका उल्लेख कई बार किया गया है।[11] यह स्त्रियों का आभूषण था जिसे मेखला अर्थात् कमर में पहने जाने के कारण मेखला कहा जाता था। इसमें मणि-जटित रहते थे। हर्ष चरित में स्त्रियों द्वारा कटि भाग में धारण की हुई करधनी के रूप में इसका उल्लेख है।[12] भगवती सूत्र[13] आदिपुराण[14] तथा यशस्तिलक[15] में भी इसका उल्लेख है।

१ ऋतुसंहार १।४ २।१८ मेघदूत—उत्तरमेघ ३० कुमार सम्भव ५।८।
२ ऋतुसंहार १।६।
३ वही १।८।
४ रघुवंश ५।५२।
५ वही ६।६०।
६ अग्निपुराण १६।५८।
७ सम० क० ९ पृ० ९११।
८ अमरकोष २।६।१०६।
९ वासुदेवशरण अग्रवाल—हर्ष चरित एक सांस्कृतिक अध्ययन पृ० १०२।
१० यशस्तिलक पृ० २८८ (तारतरलमुक्ताफलाम) देखिए—अमरकोष २।६। १५५। (तरलोहारमध्यगा)।
११ सम० क० ५ पृ० ३८४ ६ पृ० ५९७ ७ पृ० ६६४।
१२ वासुदेवशरण अग्रवाल—हर्ष चरित एक सांस्कृतिक अध्ययन पृ० २४।
१३ भगवती सूत्र ९।३३।३८०।
१४ आदिपुराण १५।२३।
१५ यशस्तिलक पृ० १०० (मुखरमणिमेखलाजालवाचालित पंचमी लिपि)।

इन उल्लेखा से स्पष्ट हाता ह कि मणि मेखला का प्रयोग सम्पन्न एव राजघराना की स्त्रियाँ किया करती थी।

कटिसूत्र—समराइच्च कहा में इस भी आभूषणा की श्रेणी में गिनाया गया ह।[1] यह मणि मेखला की तरह कमर में पहना जाने वाला अलकार था जिसे अधिकतर राजपरुष ही धारण करते थे। सम्भवत यह स्वणसूत्र और रेशम का बना होता था। कटिसूत्र का उल्लेख आदिपुराण में भी आया ह।[2]

कठक—समराइच्च कहा में इसका उल्लेख अलकारा की श्रेणी में हुआ ह।[3] किन्तु इसकी बनावट आदि का उल्लेख नही ह। यह कठ में पहना जाने वाला एक अलकार था। आदि पुराण में कठाभरण[4] का उल्लेख मिलता ह जो स्वण और मणिया द्वारा तयार किया जाता था। सम्भवत यह स्त्री-पुरुष दोना का आभूषण था।

मुकुट—[5] समराइच्च कहा में इसे सिर पर बाधने वाले अलकार के रूप में प्रमुख समझा गया ह जिसे ताज कहा जाता था। इसका प्रयोग राजा महाराजा राजकुमार और राजपरिवार की स्त्रिया ही करती थी। अजन्ता की भित्ति चित्रा पर रत्न-जटित लम्बोत्तरा मुकुट, चाटीदार मुकुट माती की लडी से अलकृत लम्बात्तरा मुकुट कलगीदार मुकुट आदि विभिन्न प्रकार के मुकुट अकित किये गये ह।[6] आदिपुराण में भी कई स्थाना पर मुकुट का उल्लेख ह।[7] भगवतीसूत्र म पता चलता है कि ताज का प्रयोग राजा और राजकुमार ही करते थे।[8]

चूडामणि—समराइच्च कहा में इसे मणि और रत्ना स जटिल बताया गया है।[9] हर्षचरित में मालती के शरीर पर कटि प्रदश में करधना, गले में मुक्ताहार कलाई में साने का कडा आदि के साथ केशा में चूडामणि मकरिका नामक आभूषण का उल्लेख ह।[10] यह आभूषण स्त्रिया अपने बाला का गूँथ कर उसमें

१ सम० क० २ पृ० १०० ४ प० २६५ ७ प० ६८८ ६४४ ६५९।
२ आदि पुराण १८।६९ १६।२३५ १६।१९।
३ सम० क० ५ प० ३८४ ६ प० ५९७ ७ प० ६८४।
४ आदि पुराण १५।१९३।
५ सम० क० ९ प० ९११ (यहाँ दैदीप्यमान मुकुट का उल्लेख है)।
६ मोतीचन्द—प्राचीन भारतीय वेशभूषा भूमिका प० २२।
७ आदिपुराण ९।४१ १०।१२६ १५।५, १६।२३४।
८ भगवती सूत्र ९।३३।३८५ ११।११।४२८।
९ सम० क० २ प० ८५, ९६ ७ पृ० ६०६।
१० वासुदवशरण अग्रवाल—हर्ष चरित एक सांस्कृतिक अध्ययन प० २४।

धारण करती थी। आदिपुराण में तो चूडामणि[1] और चूडारत्न[2] दोनों का उल्लेख अलग-अलग किया गया है। यद्यपि अलंकार की दृष्टि से दोनों समान समझे जाते थे किन्तु मणि और रत्नों से जटित होने के विभेद अलग-अलग नाम गिनाए गये है।

अंग प्रसाधन सामग्री

हरिभद्र कालीन समाज के लोग विभिन्न प्रकार के आभूषणों के साथ-साथ अंग प्रसाधन की विभिन्न सामग्रियों का भी प्रयोग करते थे। शरीर के विभिन्न अंगों की शुद्धि तथा उसे सुन्दरतम बनाने के लिए प्रसाधन क्रिया आवश्यक समझी जाती थी। समराइच्च कहा में निम्नलिखित अंग प्रसाधन की सामग्रियों का उल्लेख है।

चंदन[3] (तिलक तथा शरीर में लेपन के लिए आवश्यक समझा जाता था) कुंकुमराग[4] अंगराग[5] गंधोदक,[6] हरिचंदन[7] पत्रराग[8] आलक्त,[9] तिलक[10]

---

१ आदिपुराण १४।८ ४१९४।
२ वही ११।१३३ २९।१६७।
३ सम० क० २ पृ० ८५ ९४ ४ पृ० ३४५ ५ पृ० ३७५ ४८२ ६ पृ० ५३३, ५४८ ७, पृ० ६३८, ६३९ ६४७ ८ पृ० ७८२ ९ पृ० ९५७ देखिए—स्नान के बाद चंदन तिलक—पी० वी० काणे—धर्म शास्त्र का इतिहास, भाग १ पृ० ३७२, रामायण—अयोध्या काण्ड ३।१३, महाभारत सभा पर्व २१।२८, दक्ष स्मृति २।४३ भगवतीसूत्र ८।३३।३८३, आदिपुराण—१।८५, ६।८०।
४ वही २ पृ० ९३ ५, पृ० ३७० ४७४ ७ पृ० ६३८ ३९ ९ पृ० ८६१ ८८१ ८२ ९०० देखिए—यशस्तिलक पृ० ६१ अग्निपुराण—१२।३४, १३।१७८ वासुदेवशरण अग्रवाल—हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन पृ० ७६।
५ वही २ पृ० १३१ ९ पृ० ९००।
६ वही ८ पृ० ७४८ ९ ९५१।
७ वही ५, पृ० ४२४ ७ पृ० ६३८ ६९८ ८ पृ० ७९८ ९ पृ० ९०० ९११।
८ वही ७ पृ० ६३८।
९ वही ६ पृ० ५४८, ७ पृ० ६२९, देखिए—आदि पुराण ७।१३३ यशस्तिलक पृ० १२६ (यत्रालक्तक मण्डन विरचितम)।
१० वही ५ पृ० ४८२, ७, पृ० ६४० देखिए—मालविकाग्निमित्र ३।४ ४१९, रघुवंश—१८।४४, अग्निपुराण १४।६।

(हरताल तथा केशर आदि द्रव्यों से तयार किया जाता था) अजन[१] लवग[२] (ताम्बूल में मिलाकर मुखशुद्धि के लिए प्रयोग किया जाता था) काला अगरु[३] तुरुष्क,[४] कपूर[५] सहस्रपाक तेल[६] (शरीर की स्निग्धता तथा चमरोगो का नाशक) अलसी का तेल[७] हल्दी मिश्रित लेप[८] (हल्दी तेल तथा अन्य सुगंधित पदार्थों का मिलाकर तैयार किया जाता था जिसके लेप से शरीर स्निग्ध तथा आकर्षक लगने लगता था) सिन्दूर धूल[९] गुलाल[१०] कस्तूरी[११] नागवल्ली दल,[१२] कुसुम माला[१३] तथा ताम्बूल[१४] आदि।

---

१ ममο क० ६ प० ५२१ देखिए–अग्निपुराण १४।९।

२ वही १, पृ० १५ ६ ५३८ ८ ७७०, देखिए–रघुवंश ६।५७।

३ वही ३ प० १७० २१९ ९ प० ९७३ देखिए—यशस्तिलक उत्तर खड पृ० २८ (कालागुरुधूम धूमरित)।

४ वही ३ प० १७०।

५ वही २ प० ८४ ४ प० २९२ ५ प० ४२४ ९ प० ८६१ ९७४ देखिए–यशस्तिलक उत्तर खण्ड प० २८ (कपूर दल दतुरित) अग्निपुराण–३१।६१।

६ वही ९ पृ० ९५७ देखिए—चरक सहिता भाग २ प० ८३४।

७ वही ९ प० ९६०।

८ वही ९, प० ८०७।

९ वही ९, प० ८९७ देखिए–यशस्तिलक, उत्तर खण्ड प० ५।

१० वही ९ प० ८८१।

११ वही ९ प० ८८१, देखिए–वासुदेवशरण अग्रवाल–हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन प० १७३ (यहाँ कस्तूरिकाकोश का उल्लेख ह)।

१२ वही २ पृ० ९१, देखिए–आदिपुराण १२।५३ (यहाँ आया ह कि स्त्रियाँ बेला, चमेली चपक आदि विभिन्न प्रकार के सुगंधित पुष्पों से बालों को अलकृत करती थी)।

१३ वही ५ प० ३७९ ९ प० ९०१, देखिए–भगवती सूत्र ११।११।४२८ आदिपुराण २०।१८, ११।१३३, १६।२४ ३१।९४।

१४ वही २, प० ८०, ८४, ९०, १३१ ४, प० २९२, ५ पृ० ३६९ ३८१, ३८३, ७ पृ० ६४७, ८ पृ० ७६६ ९ पृ० ९०१ ९०५ ९५८ देखिए–हजारी प्रसाद द्विवेदी—प्राचीन भारत के कलात्मक मनोविनोद प० २३ २४ (यहाँ हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार आय लोग भारतवष में आने के पूव ताम्बूल लता से परिचित न थे और न तो उसके उपयोग

अग प्रसाधन के उपकरणा का प्रचलन अति प्राचीन काल स ही चला आ रहा ह। श्रीमन्भागवत पुराण में शरीर पर कुकुम अगराग, चदन आदि के लेप करने का उल्लेख ह।[१] बुद्ध कालीन समाज में भी कस्तूरी, चदन अगरु तथा केसर का प्रयाग किया जाता था।[२] वात्स्यायन कामसूत्र में सुगन्धित तैल के साथ साथ चदन लेप का विशेष महत्त्व बताया गया ह।[3] विकास की गति के साथ ही हरिभद्र के काल में भी सामन्तवादी सामाजिक व्यवस्था की पष्ठभूमि में अगप्रसाधन की सामग्रिया का अधिक उपयोग देखने का मिलता ह।

मनोरजन के साधन

जीवन के सवागीण विकास के लिए मनारजन एक आवश्यक तत्त्व ह। मनारजन स चित्त की प्रसन्नता के साथ-साथ नवीन स्फूर्ति एव नयी चेतना की उपलब्धि होती ह। हरिभद्र के काल में लाग विविध प्रकार से अपना मनारजन किया करते थे। समराइच्च कहा में कलात्मक मनोविनाद क्रीडा एव अन्य खेल कूद तथा उत्सव महोत्सव एव गाष्ठियों के आयाजन का उल्लेख ह।

कलात्मक मनोविनोद

नाटक—समराइच्च कहा में अनेक स्थला पर नाट्य-कला का उल्लेख ह।[४] नाटक खेलने के लिए अलग से नाट्य शालाएँ होती थी जहा उसक पात्र सगीत वाद्य एव नृत्य के साथ नाट्य-कला का प्रदशन करते थे। राजा महाराजा तथा सामन्ता के अन्त पुर में अलग स नाट्य शालायें हाती था जहा स्त्रियाँ अपना मनोरजन करती थी। नाट्य कला का उल्लेख वदिक काल स प्राप्त हाता ह।

का ही जानते थे। आर्यों ने ताम्बूल पत्र का प्रयोग नाग जातिया स ग्रहण किया इसी प्रसग के आधार पर वे नागवल्ली शब्द की उत्पत्ति मानते ह) शिव शेखर मिश्र—मानसाल्लास एक सास्कृतिक अध्ययन प० २५१ (यहाँ शिवशेखर मिश्र के अनुसार भारत में २००० वष पूव इस नागवल्ली का सवन जावा सुमात्रा आदि दक्षिणी सामुद्रिक टापुआ से प्रारम्भ हुआ। कुछ ही समय पश्चात धारे धीरे सम्पूण भारत का सभी जातिया में इसका प्रचलन हा गया और इस ताम्बूल के उपयाग का सवश्रेष्ठ समझा जाने लगा) कामसूत्र १।४।१६ मानसोल्लास ३।४०।९६१।

१ श्रीमन्भागवत पुराण १०।६०।२३।

२ शिवशेखर मिश्र—मानसोल्लास एक सास्कृतिक अध्ययन, प० २६६।

३ वही प० २६६।

४ सम० क० १, प० १६ ४ प० ३०९ ९ पृ० ८६५ ९५४ ९७३।

नाट्य शास्त्र के उल्लेख स पता चलता ह कि नाटक का सृजन करते समय ब्रह्मा ने यजुर्वेद स ही अभिनय को ग्रहण किया था ।[1] वाजसनेयि महिता में शैलूषा नामक अभिनेता का उल्लेख है[2] जिससे स्पष्ट होता ह कि उत्तर वैदिक काल में नाट्यकला का प्रदर्शन किया जाने लगा था । कामसूत्र में भी नाटक और उसकी कहानी का उल्लेख है जिससे स्पष्ट होता ह कि उस समय के लोग नाट्यकला मे परिचित थे ।[3] जन ग्रन्थ आदि पुराण में उल्लिखित ह कि ऋषभदेव क मना रजा हेतु इन्द्र आदि देवो ने अनेक प्रकार क नाटको का प्रदर्शन किया था ।[4]

छन्द[5]—सगीत वाद्य की तरह समराइच्च कहा के अनुसार छन्द रचना द्वारा भी मनाविनोद किया जाता था । कामसूत्र में नाटक आख्यायिका आदि के साथ छन्द ज्ञान का कलाओं क अन्तगत गिनाया गया ह ।[6]

नृत्य—समराइच्च कहा में मगीत कला के अन्तगत नृत्य कला का भी महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया ह । नृत्य गीत और वाद्य की लय ताल तथा ध्वनि क आधार पर किया जाता था ।[7]

बिना गीत और वाद्य के नृत्य का अस्तित्व ही नही समझा जाता था । विवाह अथवा किसी अन्य उत्सव महोत्सव आदि के समय वेश्यायें नृत्य कला का प्रदर्शन करती थी ।[8] नृत्य-कला का प्राचीनतम उल्लेख हमें ऋग्वैदिक काल मे प्राप्त होता ह । उस काल में औरतें नृत्य कला का प्रदर्शन करती थी ।[9] श्रीमद्भागवत पुराण में भी नृत्य कला का उल्लेख ह । गोपियो के साथ भगवान कृष्ण रास लीला क समय नृत्य करते हुए दिखाये गये ह[10] कामसूत्र में भी

१ नाट्यशास्त्र १।१७ ।
२ वाजसनेयि सहिता ३०।६ ।
३ एच० सा० चकलादर–सोशल लाइफ इन एंसियट इण्डिया–स्टडीज इन कामसूत्र पृ० १६८ ।
४ आदि पुराण १४।९७ ३७।५० ।
५ सम० क० १, पृ० १६ ।
६ एच० सा० चकलादर–सोशल लाइफ इन ऐंसियट इण्डिया–स्टडीज इन कामसूत्र प० १६५ ।
७ सम० क० १ पृ० १६ २२ ७१ ४ पृ० ३०९ ६, पृ० ५७२–वहगीय वाइयेण विणा नच्चामि । कुमारहिं भणिय । अम्हे गीय वाइय करेमो ।
८ सम० क० ६ प० ५४७, ७ पृ० ६३३ ३४ ८, पृ० ७६६ ।
९ पुरुषोत्तम लाल भार्गव–इण्डिया इन दी वदिक एज प० २५० ।
१० श्रीमदभागवत पुराण—१०।१८।१३ ।

विविध कलाओ के अन्तर्गत नृत्य कला का भी उल्लेख है।[1] मानसोल्लास में उत्सव जय, हर्ष, काम त्याग विलास विवाह तथा परीक्षा इन आठ अवसरो पर नृत्य करने का उल्लेख है।[2] इसी ग्रन्थ से ज्ञात होता है कि नृत्य में अपाग, अग तथा प्रत्यग आदि का प्रयोग होता था।[3] अग्नि पुराण में भी विभिन्न प्रकार के उत्सव एव महोत्सवों पर नृत्य कला के आयोजन का उल्लेख है।[4] इन उल्लेखों मे स्पष्ट होता है कि पूर्व मध्य काल में मनोरजन के साधनों के अन्तर्गत नृत्यकला का एक आवश्यक अग समझा जाता था।

गीत[5]—यह सब साधारण से लेकर धनी सम्पन्न तथा राजपरिवार वालों के मनोविनोद का एक साधन था। जन्मोत्सव विवाहोत्सव वसन्तोत्सव आदि के समय वाद्य गोष्ठी नाट्य प्रदर्शन आदि के साथ सगीत का भी आयोजन किया जाता था। सगीत कला का प्राचीनतम उल्लेख हमें वैदिक काल मे प्राप्त होता है। आर्य लोगो के मनोविनोद के साधनो में सगीत को अत्यधिक महत्व दिया जाता था। इसका प्रदर्शन वाद्य यन्त्रो तथा बिना वाद्य यन्त्रों के साथ भी किया जाता था।[6] कामसूत्र में भी सगीत कला का उल्लेख है।[7] आदिपुराण में तो सगीत कला को मनोविनोद का अभिन्न अग माना गया है।[8] मानसोल्लास में स्वर ताल एव पदबन्ध आदि में प्रवीण गायक को अति उत्तम बताया गया है।[9] इसी ग्रन्थ में सगीत कला का विस्तृत विवरण देते हुए सोमेश्वर ने गीत विनोद के अन्तर्गत गायकों के भेद गाने का नियम तथा अनेक प्रकार के रागो का वर्णन किया है।[10]

वाद्य कला—नृत्य और गान में वाद्य कला का महत्वपूर्ण योग रहता है।

---

१ एच० सी० चकलादर—सोशल लाइफ इन ऐंसियन्ट इडिया—स्टडीज इन कामसूत्र पृ० १६५।
२ शिवशेखर मिश्र—मानसोल्लास एक सांस्कृतिक अध्ययन पृ० ४३१।
३ वही पृ० ४३३।
४ अग्निपुराण १२११८८ १४।१९२।
५ सम० क० १ पृ० २२ ७१ ४, पृ० ३०९ ५ पृ० ३७३।
६ पुरुषोत्तम लाल भार्गव—इडिया इन दी वैदिक एज पृ० २४९।
७ एच० सी० चकलादर—सोशल लाइफ इन ऐंसियन्ट इडिया—स्टडीज इन कामसूत्र पृ० १६५।
८ आदिपुराण ४५।१८३।
९ मानसोल्लास ४।१६।१७९०९६।
१० शिवशेखर मिश्र—मानसोल्लास एक सांस्कृतिक अध्ययन पृ० ४१४।

समराइच्च कहा में वीणा[१] शृङ्ग[२] भेरी[3] तूय[४] (तुरही) गख[५] घटा[६], ढोल[७] मृदग[८] ताल[९] और पटह[१०] (ढोल और मृदग की तरह का वाद्य यत्र) आदि कई प्रकार के वाद्यो का उल्लेख ह। कभी-कभी वीणा वादन का अलग से आयोजन किया जाता था।[११] ऋग्वेद में वाण नामक वाद्य का उल्लेख ह।[१२] तत्तिरीय ब्राह्मण में भी वीणा वादन का उल्लेख ह।[१३] मेघदूत में तो यक्ष की पत्नी वीणा बजा बजा कर पति के गुणा का गान करती है।[१४] कामसूत्र में भी विभिन्न कलाओं के अन्तगत वाद्य कला का विशिष्ट स्थान है।[१५] मानसोल्लास में उल्लिखित ह कि वाद्य से पूण नत्य तथा सगीत की शोभा बढ जाती ह और इसी कारण नत्य तथा सगीत में वाद्य की प्रधानता रहती ह।[१६] इस ग्रन्थ में पटह हुटक्का ढक्का तथा घडस इन चार प्रकार क वाद्यो का वणन है।[१७] सोमेश्वर ने वादन कला में भी ताल को विशेष महत्व दिया ह।[१८]

---

१ सम० क० १ प० १०, ७१ २ प० ८२ ५ प० ३७५ ७६ ३८२ ६ पृ० ५४९ ९ प० ८६५।

२ वही ७, पृ० ६५६ ९ पृ० ८९७।

३ वही ७ पृ० ६४४ ९ प० ८९७।

४ वही १ प० १० ४ प० ३४० ७ पृ० ६३३ ६४ ६३६ ६४५ ६९९, ८ पृ० ६५१ ७६६ ७७१ ७८८ ९, प० ८९७ ९३४।

५ वहा ३ प० २११ ७ प० ६३४ ९ ९३८।

६ वही ३ प० २३६, ६ पृ० ५३२ ७, पृ० ६४४।

७ वही १, प० १०।

८ वही १, प० १०, ४ पृ० ३०९।

९ वही १ पृ० १०।

१० वही ६ पृ० ५३१, ७, प० ६९९ ७०३।

११ सम० क० १, प० ७२ २ प० ८२ देखिए आदि० १४।१९२।

१२ ऋग्वेद १।८५।१०।

१३ तत्तिरीय ब्राह्मण ३।४।१४।

१४ मेघदूत—उत्तरमेघ—२६।

१५ एच० सी० चकलादर—सोसल लाइफ इन ऐंसियन्ट इंडिया—स्टडीज इन कामसूत्र पृ० १६५।

१६ मानसोल्लास—४।१७।२४७०

१७ वहा ४।१७।२४७३ ७७।

१८ वही ४।१७।२७३० ३१।

चित्रकला—समराइच्च वहा में चित्रकला का भी उल्लेख हैं। लोगा के हृदयगत भाव रग एव तूलिका के साथ चित्रपट्टिका पर चित्र के रुप में प्रस्तुत दिखाई पडते ह।[1] अथात चित्रकार अपनी हृदयगत भावनाओं को अपनी अनुपम चित्रकला में परिणत कर देने की क्षमता रखता था। कही गन्धर्वों क चित्र स्वर एव सगीत मुद्रा म दष्टिगत हाते ह[2] ता कही विद्याधरा, चक्रवाक तथा मधुकर आदि के चित्र[3] कला के अनुपम उदाहरण स्वरूप दष्टिगत होते ह। समराइच्च कहा में कही वानमतर तथा मयूर क जीते-जागते चित्र[4] तो कही नारी के आक पक चित्र चित्रपट्ट पर अकित मिलते ह।[5] चित्रकला के अकन में रग[6] तूलिका[7] तथा चित्र पट्टिका[8] की अत्यधिक आवश्यकता समझी जाती थी। समराइच्च कहा में चित्रकला के प्रदशन के लिए चित्र शालाआ का भी उल्लेख है[9] जहा चित्र कार अपनी कलात्मक रचना का प्रदशन किया करते थे। आदि पुराण में ऋषभ देव के मनोरजनाथ चित्रगाष्ठी के आयोजन का उल्लेख ह[10] जिसमें विभिन्न प्रकार की चित्रकारिता का प्रदशन किया गया था।

क्रीडा एव अन्य खेलकूद

कदुक क्रीडा—समराइच्च वहा में मनोविनोद के साधनों में कदुक क्रीडा का भी उल्लेख ह।[11] राज परिवारों के अन्त पुर की स्त्रिया द्वारा कदुक क्रीडा करने की बात कही गई ह। आदिपुराण में जयकुमार ने अपन अतिथियो क सम्मान में कदुक क्रीडा का आयोजन किया था।[12]

---

१ सम० क० ८ प० ७४९ ५० ९ प० ८६५।
२ वही ८ पृ० ७५७।
३ वही २ पृ० ९२।
४ वही ७ पृ० ६१० ११ ६२५
५ वही ८ प ७३९ ४० ७४३।
६ वही २ प० ८९ ९ पृ० ८६३।
७ वही २ प० ८९, ९ पृ० ८६३।
८ वही ८ प० ७५३ ५४ ७५६।
९ वही ४, पृ० ३०९, ७ पृ० ६२५।
१० आदिपुराण १४।१९२।
११ सम० क० १, प० २२ २ प० ८२।
१२ आदिपुराण ४५।१८३ (नत्यगीत सुखालापवर्णादिभि । वनवापी सर क्रीडाकदुकादिविनोदन)।

जलक्रीडा[1]—नदियों तथा घर की बावडिया में स्नान आदि के साथ साथ स्त्री-पुरुष जल क्रीडा द्वारा अपना मनोरजन किया करते थे। आदि पुराण में भी जल क्रीडा का उल्लेख ह।[2] यहाँ कुमार ऋषभदव मनोरजन के लिए देव कुमारा के साथ जल क्रीडा करते हुए दिखाये गये ह।[3] मानसोल्लास में उल्लिखित ह कि ग्रीष्म ऋतु में सूय के अत्यन्त तीव्र होने पर प्रचण्ड धूप में राजा जल क्रीडा करता था।[4] राजा यह जलक्रीडा नदी, पुष्करिणी अथवा कण्ठलक के निमल जल पूण सापान युक्त जलाशय में करता था।[5] जलक्रीडा का स्थल प्राकार द्वारा चारा तरफ से घिरा रहता था।[6] मानसोल्लास में राजा का तरुणिया के साथ जल क्रीडा करने का उल्लेख ह।[7] श्रीमद्भागवत पुराण में श्री कृष्ण गापियों के साथ जल क्रीडा करते हुए दिखाये गये ह।[8] कामसूत्र में जलक्रीडा को ग्रीष्मकाल की क्रीडा कहा गया ह।[9] इसी प्रकार रघुवश[10] तथा किराताजुनीय[11] में भी जलक्रीडा का उल्लख ह। मख्यतया यह क्रीडा ग्रीष्म ऋतु में की जाती थी।

अ य क्रीडायें—समराइच्च कहा में कन्दुक की भाँति सूत्र क्रीडा[12] (दोना हाथा में रस्सी पकड कर दौडते हुए उसे फाँदना), वतक्रीडा[13] (घर अथवा महल क वलनी पर खेला जाता था), बाह्यक्रीडा[14] (बाहर बागीचा एव उद्याना में) नलिका क्रीडा[15] (जल में स्नान करते समय कमल नाल से किया गया खिलवाड),

१ सम० क० २ प० ८२ ० पृ० ८६५।
२ आदि पुराण १४।२०४ ८।२३ २५।
३ वही १४।२०४ ६।
४ मानसोल्लास ५।५।२४१ ४४।
५ वही ५।५।२४५।
६ वही ५।५।२४६ ४९।
७ वही ५।५।२५० ५२।
८ श्रीमद्भागवत पुराण १०।६५।२० तथा १०।६९।२७।
९ शिवशेखर मिश्र—मानसोल्लास एक सास्कृतिक अध्ययन पृ० ४६४ में उद्धत।
१० रघुवश १६।६१ ६७।
११ किराताजुनीय ८।३०।५३।
१२ सम० क० ७, पृ० ६३४ ३५।
१३ वही ७ प० ६३४ ३५।
१४ वही ७ प० ६३४ ३५।
१५ वही ७, प० ६३४ ३५।

परिवारों के साथ क्रीडा[1] छत पर घूमना[2], आभूषणादि पहनना[3], पत्रच्छेदन क्रीडा[4] (विभिन्न प्रकार के वृक्षों के सुन्दर पत्तों में छेदन) आदि क्रीडाओं का उल्लेख है। ये सभी मनो विनोद राज परिवार की स्त्रियों द्वारा सम्पन्न किये जाते थे।

वाह्याली क्रीडा[5]—राजा महाराजा तथा सामंत लोग घोड़े पर चढ़कर वाह्याली क्रीडा किया करते थे। वाह्याली राज प्रासाद से बाहर का वह मैदान होता था जहां राजा महाराजा आदि बैठकर अश्व एवं गज की दौड़ देखा करते थे। अग्नि पुराण में भी वाह्याली क्रीडा का उल्लेख है।[6] मानसोल्लास से ज्ञात होता है कि वाह्याली प्रायः सौ धनुष लम्बी और साठ धनुष चौड़ी बनायी जाती थी। उसके मैदान से मिट्टी पत्थर तथा कंकड़ आदि को हटा कर समतल बना दिया जाता था। यह पूर्व दिशा की ओर ऊंची होती थी तथा इसमें दो विशाल द्वार होते थे। इनके आगे दो विशाल तोरण पूर्व दिशा की ओर मुँह करके बनाये जाते थे। वाह्याली के दक्षिण ओर मध्य भाग में ऊंचा एवं सुन्दर आलोक मंदिर बनाया जाता था। यह ऊंचा होता था तथा इसके चारों ओर गहरी खाइ बनी होती थी। यह अनेक प्रकार के रत्नों एवं सुवर्ण आदि से जटित होती थी। परिखा पर फलक द्वारा पूर्ण मार्ग बनाया जाता था। इसी प्रकार दक्षिण भाग के समीप ही कुछ पीछे परिखा से पूर्ण ऊंचा चित्रों से युक्त भित्ति वाला सुरम्य विशाल, आठ स्तम्भों से पूर्ण स्थूल हाथियों के वक्षस्थल की ऊँचाई के बराबर पूर्व के द्वार के समीप उत्तर दिशा की ओर एक अन्य मण्डप बनाया जाता था।[7] वाह्याली में दौड़ के लिए जो अश्व उपस्थित किये जाते थे उनकी ग्रीवा में कुंकुम का लेप किया जाता था और उन्हें विभिन्न प्रकार के वस्त्राभूषणों से सज्जित किया जाता था। इस प्रकार अत्यंत चतुर अश्वारोही दो भागों में आठ-आठ की संख्या में विभक्त हो जाते थे।[8] इन उल्लेखों से स्पष्ट होता है कि वाह्याली क्रीडा राजपुरुषों का एक प्रमुख मनोरंजन था।

---

१ सम० क० २ पृ० ८२।
२ वही २ पृ० ८२।
३ वही २ पृ० ८१ ८२।
४ वही २ पृ० ८२।
५ वही १ पृ० १६ ८ पृ० ८४५।
६ अग्निपुराण ३७।४७।
७ मानसोल्लास ४।२।५४७ से ५६२।
८ वही ४।४।४९०।

आखेट—समराङ्गण सूत्रधार में राजा-महाराजाओं द्वारा मनोरंजन के लिए आखेट का उल्लेख किया गया है।[1] वन, पर्वत, नदियों के तट, सरोवर के तट एवं गुफा आदि स्थान आखेट के लिए प्रयुक्त होते थे। वैदिक काल में आखेट का मनोरंजन का एक प्रमुख साधन माना जाता था। लोग धनुष-बाण से शेर, कुत्ता एवं जंगली सुअर आदि का शिकार करते थे।[2] कामसूत्र में भी आखेट क्रीड़ा को मनोविनोद का एक साधन बताया गया है।[3] रघुवंश में भी राजा दशरथ द्वारा आखेट किया का उल्लेख है।[4] मानसोल्लास में इकतीस प्रकार की मृगया का उल्लेख है।[5] यहाँ कहा गया है कि पर्वत, गह्वर तथा कन्दराओं से युक्त, कंटकों से पूर्ण, अधिक पाषाणों से भरे हुए दुर्गम मार्गों से युक्त, चलने में कष्टप्रद, अन्धकारपूर्ण, व्याघ्र, गज तथा सर्प आदि से पूर्ण वन में राजा को मृगया के लिए नहीं जाना चाहिए।[6] इसके अतिरिक्त जो वन पूर्ण रूप से सुरक्षित हो, जो योजन विस्तृत हो, जल बाहुल्य से युक्त हो, मृगों से पूर्ण तथा समान भूभाग वाला हो, ऐसे अरण्य की रक्षा करना राजा का परम कर्त्तव्य बताया गया है।[7] राजा को चाहिए कि वह अपने नगर के समीप में स्थित अरण्य में ही मृगया के लिए जाये।[8] इस प्रकार प्राचीन भारत में अन्य क्रीड़ाओं के साथ-साथ आखेट को भी मनोरंजन के साधन में गिना जाता था।

द्यूत-क्रीड़ा—समराङ्गण सूत्रधार में अनेक स्थानों पर द्यूत क्रीड़ा का उल्लेख है[9] जो तत्कालीन लोगों के लिए मनोरंजन का एक साधन समझा जाता था। इस क्रीड़ा के अच्छे ज्ञाता को द्यूताचार्य कहा जाता था।[10] ऋग्वेद में एक स्थान पर अक्ष अथवा पाशा (द्यूत) क्रीड़ा का उल्लेख है।[11] महाभारत में इसी क्रीड़ा के

१ सम० के० ३, पृ० १७३ ४, पृ० ३२५ देखिए—आदिपुराण ५।१२८।
२ पुरुषोत्तम लाल भार्गव—इंडिया इन दी वैदिक एज पृ० २५०।
३ एच० सी० चकलादर—सोशल लाइफ इन एंसियण्ट इंडिया—स्टडीज इन कामसूत्र, पृ० १७१।
४ रघुवंश ९।४९ ५०।
५ मानसोल्लास ४।१५।१४४६ ५०।
६ वही ४।१५।१४३३ ३५।
७ वही ४।१५।१४४२ ४३।
८ वही ४।१५।१४५१ ५२।
९ सम० के० ४, पृ० २४३ ४४, २५४ २५६।
१० वही ३, पृ० १८३।
११ ऋग्वेद १०।३४।८।

फलस्वरूप पाण्डवों को निर्वासित जीवन व्यतीत करना पड़ा।[1] मनु ने द्यूत क्रीडा को राजा के लिए निषिद्ध कर्म कहा है।[2] याज्ञवल्क्य ने निर्जीव पासादि से खेली जाने वाली क्रीडा को द्यूत कहा है और उस द्यूत के द्वारा जीते हुए धन में राजा का भी भाग बताया गया है।[3] वात्स्यायन कामसूत्र में द्यूत फलक का उल्लेख है।[4] निशीथचूर्णी में द्यूत के खिलाड़ियों को द्यूतकार कहा गया है।[5] दशकुमार चरित में भी इसके उल्लेख मिलते हैं।[6] इन उल्लेखों से मनोविनोद के साधनों में द्यूत क्रीडा का प्रचलन स्पष्ट होता है। जनसाधारण से लेकर राजघराने तक के लोग इस क्रीडा द्वारा यदा कदा अपना मनोविनोद करते थे। मानसोल्लास में अक्ष अथवा पाशक क्रीडा के उल्लेख में बताया गया है कि इस क्रीडा में बीस अंगुल के विस्तार का श्रेष्ठ दारु लकड़ी का फलक बनाया जाता था[7]। इसमें चार अंगुल विस्तार के तथा नौ अंगुल लम्बे चौबीस गृह बनाये जाते थे और दो पदकों से सुशोभित दो वृत्ताकार पंक्तियाँ बनायी जाती थीं जिसमें एक अंगुल का अन्तर रहता था।[8] मानसोल्लास में द्यूत क्रीडा का विस्तृत वर्णन मिलता है जिससे इस क्रीडा के विशेष प्रचलन का आभास होता है।

उत्सव-महोत्सव—समराइच्च कहा में विशेष पर्वों पर आयोजित विविध प्रकार के उत्सव एवं महोत्सवों का भी उल्लेख प्राप्त होता है।

कार्तिक पूर्णिमा महोत्सव—समराइच्च कहा में इसे स्त्रियों का उत्सव बताया गया है। इस अवसर पर पुरुषों को नगर से बाहर कर दिया जाता था। पूरी रात स्त्रियाँ आपस में संगीत, नृत्य एवं वाद्य आदि के द्वारा यह महोत्सव सम्पन्न करती थीं।[9] रामायण में भी कार्तिक पूर्णिमा एक पवित्र तिथि मानी गयी है।[10] जगदीश चन्द्र जैन ने इसे कौमुदी महोत्सव कहा है[11] जिसमें सर्व प्रथम सूर्यास्त के

---

१ महाभारत सभापर्व।
२ मनु० ९।२२१।
३ याज्ञ० २।२०४।
४ शिवशेखर मिश्र—मानसोल्लास एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० ४९७ ९८ में उद्धृत।
५ निशीथचूर्णी ३ पृ० २२७ ३८० २ पृ० २६२।
६ दशकुमार चरित पृ० २०९ देखिए—कादम्बरी पृ० ८१।
७ मानसोल्लास ५।१३।७०१।
८ वही ५।१३ ७०२ ३।
९ सम० क० ९, पृ० ९५४।
१० पा० वी० काणे—हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र वाल्यूम ५ पार्ट १ पृ० २८५ में उद्धृत।
११ जगदीश चन्द्र जैन—जैनागम साहित्य में भारतीय समाज पृ० ३६१।

पश्चात स्त्री-पुरुष किसी उद्यान में जाकर अनेक प्रकार की केलि-क्रीडाओं द्वारा रात व्यतीत करते थे।[1] किन्तु समराइच्च कहा में इस कौमुदी महोत्सव से भिन्न बताया गया है।

कौमुदी महोत्सव—समराइच्च कहा में अनेक स्थानों पर कौमुदी महोत्सव का उल्लेख है। यह महोत्सव शरद पूर्णिमा के दिन सम्पन्न किया जाता था।[2] काणे के अनुसार आश्विन मास के कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी के दिन कौमुदी महोत्सव मनाया जाता था।[3] भविष्योत्तर पुराण में कौमुदी शब्द की व्याख्या में कु (पृथ्वी) मुद (हर्ष) बताया गया है जिसका तात्पर्य पृथ्वी पर लोगों द्वारा हर्ष अथवा आनन्द मनाये जाने से है।[4] कामसूत्र में इसे देश व्यापी महोत्सव के रूप में उल्लिखित किया गया है।[5] हर्ष की प्रियदर्शिका में भी इस महोत्सव को उल्लेख प्राप्त होता है।[6] इस अवसर पर स्त्री पुरुष तथा बच्चे सुन्दर वस्त्र एवं आभूषण आदि धारण कर उद्यानों कुजों तथा लतागृहों में जाकर नृत्य गान आदि के द्वारा आनन्द मनाते थे।

अष्टमी चन्द्रमहोत्सव[7]—यह महोत्सव चैत्र मास के शुक्लपक्ष की अष्टमी को सम्पन्न किया जाता था। उस दिन स्त्रियाँ सुन्दर वस्त्राभूषणों से युक्त होकर उद्यानों में नाच गान तथा अन्य केलि क्रीडाओं द्वारा अपना मनोरंजन करती थीं। इस अवसर पर मदन लीला के साथ-साथ मदन पूजा का भी आयोजन किया जाता था। यद्यपि इस समारोह में पुरुष भी सम्मिलित होते थे किन्तु स्त्रियों की प्रधानता रहती थी। सम्भवत यह वसन्तोत्सव से सम्बंधित कोई उत्सव था जिसमें मदन पूजा एवं मदन लीला को प्रधानता दी गयी है।

---

१ सूत्रकृताङ्ग टीका २ ७५ पृ० ४१३।

२ सम० क० १, पृ० ३३ ५३ २ प० ७८ ७९ ४ पृ० ३२१ ५, पृ० ३६८ ३७०, ३७३, ४१६ ४७८ ६ प० ४९६ ७ पृ० ६३५ ३६ ८ पृ० ७४३, ९ प० ८८०।

३ पी० वी० काणे—हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र वाल्यूम ५ भाग १ पृ० २०६।

४ भविष्योत्तरपुराण १४०।६१-६४ (कु शब्देन मही ज्ञेया मुदीहर्षे तत परम्। धातुनैर्गम नदव तेनाा कौमुदी स्मृता। कौमोदन्ते यस्या नानाभाव पारस्परा। हृष्टा तुष्टा सुखा यत्तास्तेनपा कौमुदी स्मृता (पी० वी० काणे—हिस्टी आफ धर्मशास्त्र, वाल्यूम ५ पार्ट १, प० २०६ में उद्धृत।

५ कामसूत्र १।४।४२।

६ प्रियदर्शिका अक ३, पृ० ७०।

७ सम० क० ४, प० २३५।

मदनोत्सव[1]—यह उत्सव प्राचीनकाल में चत्र माम के शुक्लपक्ष की त्रयोदशी को भव्य आयोजनों के साथ सम्पन्न किया जाता था। इस महोत्सव के विशेष आयोजन के लिए नगरों में राजा द्वारा घोषणा की जाती थी। नगर के सभी स्त्री और पुरुष चाहे किसी भी वर्ग जाति के क्यों न हों वे नृत्य-गीत एवं नाटक के अभिनय का आयोजन करते थे। राज मार्गों पर सुगन्धित पुष्प तथा केशर एवं कस्तूरी युक्त जल छिड़का जाता था। लोग टोलियाँ बनाकर विभिन्न प्रकार के अलंकारों से युक्त नगर चचरी के साथ नाच-गान करते हुए राजमार्गों से होकर उद्यान की तरफ जाते थे।[2] नगर उद्यानों में पहुँचकर लोग विभिन्न प्रकार की क्रीडा करते हुए यह उत्सव सम्पन्न करते थे। राजपरिवार के लोग भवनोद्यान में झूले आदि के साथ यह महोत्सव मनाते थे।[3] नाताधम कथा में मदन त्रयोदशी के दिन कामदेव की पूजा का उल्लेख है।[4] यह बहुत बड़े उत्सव के साथ सम्पन्न किया जाता था। हर्ष की रत्नावली में भी मदन महोत्सव का विस्तृत वर्णन मिलता है। इसे वसन्तोत्सव के रूप में भी जाना जाता था जिसका आयोजन चैत्र मास की पूर्णिमा को सम्पन्न किया जाता था।[5] अल्बरुनी ने लिखा है कि चैत्र मास की पूर्णिमा को वसन्तोत्सव मनाया जाता था जिसका आयोजन विशेषतया स्त्रियों द्वारा किया जाता था।[6] यह महोत्सव आधुनिक होली की तरह ही था। रत्नावली के भी उल्लेख से पता चलता है कि उक्त अवसर पर स्त्री पुरुष सड़कों पर टोली बनाकर नाचते गाते तथा रंग विरंगी गुलाल उड़ाते थे।[7] निम्न वर्ग के लोग उस दिन मदिरा पान भी करते थे।[8] विविध प्रकार के खेल-कूद करते हुए सूर्यास्त के समय उद्यानों में आकर पुष्प आदि के साथ मदन की पूजा करते थे।[9] डा० दशरथ शर्मा के अनुसार

---

१ सम० क० १ पृ० ३३ ५३ २ प० ७८ ७९ ४ प० ३२१ ५ प० ३६८ ३७० ३७५ ४१६ ४७४ ६ पृ० ४०६ ७ पृ० ६३५ ३६ ८ प० ७४३ ९ पृ० ८८०।

२ वही ५ प० ३७३ ७ पृ० ६३५ ३६।

३ वही ९ पृ० ८७९।

४ नाताधम कथा—टीका २ प० ८०।

५ रत्नावली अंक १ पंक्ति १६।

६ सचाउ २ प० १७९।

७ रत्नावली अंक १ प० १० पंक्ति ११ १२ १३।

८ वही अंक १ प० २२।

९ वही अंक १ प० १६ २६।

प्राचीन काल में मन्नोत्सव तथा कौमुदी महोत्सव आदि राजस्थान के लोगो का प्रमुख महोत्सव था।[1]

गोष्ठी—विभिन्न प्रकार के मनोविनोद के साधनों में कुछ गोष्ठियों के भी उल्लेख मिलते है। गोष्ठिया में सम्मिलित होकर लोग नानाप्रकार के मनोविनोद का अनुभव करते थे। सगीत नृत्य वाद्य आदि के साथ साथ कुछ अन्य गोष्ठियों का भी आयोजन होता था।

गूढ़ चतुष्क गोष्ठी[2]—राजपरिवार के लोग अस्थानिका मडप में बैठकर इस गोष्ठी का आयोजन किया करते थे। यह गोष्ठी समवयस्कों द्वारा ही सम्पन्न की जाती थी। अत लोग एक स्थान पर एकत्रित होकर तरह तरह के वाद विवाद द्वारा गूढ़तर बातो का रहस्य भेदन किया करते थे। वाद विवाद के साथ साथ इस गोष्ठी मे तरह तरह की मनोरञ्जक चर्चायें भी चला करती थी। कामसूत्र में भी नागरिक द्वारा दोपहर के पश्चात गोष्ठी में भाग लेने का उल्लेख है।[3] इस गोष्ठी में समान वय चरित्र एव गुण वाले लोग ही सम्मिलित होते थे जहाँ वे काव्य समस्या और कला समस्या आदि का समाधान करते थे।[4]

मित्र गोष्ठी[5]—इस गोष्ठी के सदस्य मनोहर गीत गाकर, प्रहेलिका तथा समस्यापूर्ति द्वारा गाथा पढकर वीणा वादन द्वारा चित्र दर्शन द्वारा कामशास्त्र पर विचार कर पक्षियो के विषय में चर्चा करके झूला झूल कर तथा पुष्प शैया आदि सजा कर भाँति भाँति के मनोरजन कार्यों का सम्पादन किया करते थे। मित्र गोष्ठी अपने समवयस्को की ही होती थी। वात्स्यायन के कामसूत्र में सगीत वाद्य नृत्य नाटक, दर्शन, द्वन्द्व ज्ञान आदि चौंसठ कलाओं के ज्ञाता को ही गोष्ठी का सचालक बताया गया है किन्तु इन कलाओ को न जानने वाले का अधिक सम्मान नही दिया जाता था।[6] अधिकतर यह गोष्ठी मनोरजनार्थ सचालित की जाती थी जिसमें स्त्रियाँ भी बराबर भाग लेती थी।

---

१ दशरथ शर्मा—अर्ली चौहान डायनेस्टीज पृ० २६६।

२ सम० क० ८ पृ० ७५२।

३ एच० सी० चकलादर—सोशल लाइफ इन ऐंसियन्ट इडिया-स्टडीज इन कामसूत्र पृ० १६०।

४ वही पृ० १६४।

५ सम० क० ८, पृ० ७४४ ७५२ ९, पृ० ८६५।

६ एच० सी०—चकलादर—सोशल लाइफ इन ऐंसियन्ट इडिया-स्टडीज इन कामसूत्र पृ० १६५।

यहा तक कि काम सूत्र में कुमारी लडकिया के लिए कला और गोष्ठी का ज्ञान एक गुण माना गया ह ।[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि गोष्ठियों का आयोजन कलात्मक ज्ञान की वृद्धि के साथ साथ मनोविनोद के लिए भी उपयुक्त साधन समझा जाता था ।

वाहन

प्राचीन भारत में आवागमन की सुविधा के लिए सडका का निर्माण किया जाता था जो राजमाग के नाम से जाना जाता था ।[2] राजमार्गों के निर्माण एव प्रबन्ध का सारा व्यय राजकीय लोग ही वहन करते थे । राजमार्गों पर यातायात के विविध साधना यथा—हाथी घोड बल्गाडी तथा रथ आदि का प्रयाग होता था । प्राय हाथी घाडे रथ शिविका आदि का प्रयोग राजपरिवार सामन्त तथा श्रेष्ठि वग के लाग करते थे । जन साधारण वग गवट खच्चर एव घाडे आदि का प्रयाग करता था । समराइच्च कहा में निम्नलिखित वाहनों का उल्लेख आया है ।

अश्व—समराइच्च कहा में इसका उल्लेख कई स्थाना पर किया गया ह ।[3] इसका प्रयोग साधारण वग क लाग स लेकर राज परिवार तक के लोग करते थे । यह घुडसवारी रथ तथा सेना में वाहन के रूप में प्रयुक्त होता था । समराइच्च कहा में एक स्थान पर वाल्हीक तुरुष्क एव वज्जरा आदि अश्वा की घुडसवारी का उल्लेख ह ।[4] स्पष्ट ह कि घोडा का नाम उनके देश क आधार पर रखा गया ह । आय लोग अपने आगमन के प्रारम्भिक काल से ही घाडा का प्रयाग करते थ ।[5] वन्कि काल में मध्येशिया यथा वाह्लीक जाति क घाडे प्रसिद्ध थे ।[6] इसके साथ-साथ गुजरात बलूचिस्तान कम्बोज और पर्शिया भी घोडा के लिए

---

१ एच० सी० चक्लादर—सोशल लाइफ इन एंसियन्ट इण्डिया—स्टडीज इन कामसूत्र पृ० १६७ ।

२ समम० क० ४ पृ० ३६८ ३०५ ७ प० ७०० ८ पृ० ८८३ ।

३ वही २ पृ० १०१ ५ पृ० ३६५ ३६७ ८ पृ० ७६६ ७८८ ८२१ ८२२ ८४३ ।

४ वही ८ पृ० ७१३—वहिया वहवे वल्हाय तुरुक्क वज्जराइया आसा, देखिए—अग्नि पुराण—३०।१०६ ७ ।

५ आर० यल० मित्र—एंटीक्विटीज आफ उडीसा पृ० २०० ।

६ वही प० २०१ ।

प्रसिद्ध थे, इनका उल्लेख महाभारत में भी आया है।[१] वैदिक काल में अश्वरथ के साथ-साथ घुडदौड का भी उल्लेख है,[३] जिससे प्रतीत होता है कि अश्व का प्रयोग वैदिक काल से ही रथ में किया जाता था। पतंजलि के काल में भी अश्व वाहन के लिए प्रयुक्त होते थे।[४] पूर्व मध्यकाल में भी अश्व और हस्ति को वाहन के रूप में प्रयुक्त समझा जाता था।[५] मानसोल्लास में भी अश्व को वाहन की श्रेणी में गिनाया गया है।[६] जैन ग्रन्थ आदि पुराण में घुड़सवारी करने वाले घोड़ों को मन्दुरा कहा गया है।[७] सवारी के घोड़ों को स्वस्थ रखने के लिए उनके शरीर में अंगराग लगाया जाता था।[८]

हस्ति—समराइच्च कहा में इसका उल्लेख राजकीय वाहन के रूप में किया गया है।[९] विवाह के समय वर यात्रा में हस्ति को अनेक अलंकारों से सजा कर बारात के आगे रखा जाता था। महाभारत में हस्ति का प्रयोग युद्ध क्षेत्र में किये जाने का उल्लेख है।[१०] सिकन्दर के आक्रमण के समय अश्व और हस्ति दोनों सेना के प्रमुख अंग थे।[११] मेगस्थनीज ने भी हस्ति सेना का उल्लेख किया है।[१२] मानसोल्लास में हस्ति के दो भेद बताए गये हैं यथा—नाग और करिणी। सामने से जो विपुल स्कन्ध वाला, मृदु संचार वाला तथा चलाने पर तेज चलने वाला हो उसे नाग कहा जाता था। सुवर्ण स्तम्भ मुक्ता की माला और ऊर्ध्व प्रदेश में कांचन कलशों से युक्त तथा मयूर के समान पूँछ वाले तथा पुष्पों से सुशोभित करिणी को करिणी यान कहा जाता था।[१३]

---

१ आर० एल० मित्र—ऐंटीक्विटीज आफ उडीसा पृ० २०१।
२ ऋग्वेद १०।३३।५।
३ वही २।१३।५, ३।४।१३।
४ प्रभुदयाल अग्निहोत्री—पतंजलि कालीन भारत पृ० २९३।
५ ए० के० मजूमदार—चालुक्याज आफ गुजरात पृ० ३५७।
६ मानसोल्लास ३।१६।१६३१-४०।
७ आदि पुराण २९।१११।
८ वही २९।११६।
९ सम० क० २ पृ० ११६ ३ पृ० २००, ७ पृ० ६४० ८, पृ० ७६६ ७८४, ८२१, ८२३ ८३४ ८४३ देखिए—आदि पुराण ३०।४८, २९।१२२।
१० आर० एल० मित्र—ऐंटीक्विटीज आफ उडीसा पृ० २००।
११ वही पृ० २०१।
१२ वही पृ० २०५।
१३ शिवशेखर मिश्र—मानसोल्लास एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० ३०३।

खच्चर[1]—समराइच्च कहा में इसका उल्लेख भार वाहक के रूप में किया गया है। यह अश्व से मिलता जुलता उससे छोटे आकार का जानवर है। इसका प्रयोग साधारण वर्ग के लोग करते थे।

शकट[2]—समराइच्च कहा में माल ढोने के लिए शकट का उल्लेख हुआ है। शकट का प्रयोग वैदिक काल से ही बोझा ढोने के लिए किया जाता था।[3] अथर्ववेद में शकट का उल्लेख है जिसे ऊष्ट खीचते थे।[4] आदि पुराण में बैलों द्वारा खींचे जाने वाले शकट का उल्लेख है जो बोझा ढोने के काम आते थे।[5]

शिविका—समराइच्च कहा में शिविका का दिव्य वाहन के रूप में उल्लिखित किया गया है।[6] इसे ढोने के लिए वाहकों की आवश्यकता पड़ती थी। समराइच्च कहा में कहीं-कहीं पालकी का भी उल्लेख है,[7] किन्तु इस वर्णन से शिविका और पालकी में कोई अन्तर नहीं दिखलाया गया है। आप्टे ने भी शिविका और पालकी का पर्याय माना है।[8] शिविका का उल्लेख महाभारत तथा अन्य संस्कृत ग्रन्थों में भी आया है जिसमें दो काष्ठ स्तम्भ लगे रहते थे और जो व्यक्तियों द्वारा कंधों पर रखकर ढोई जाती थी।[9]

रथ—समराइच्च कहा में अनेक स्थानों पर रथ का उल्लेख आया है।[10] यह सम्मान की दृष्टि से एक उच्चकोटि का वाहन माना जाता था जिसका उपयोग धनी-सम्पन्न तथा राज परिवार के लोग ही करते थे। आवागमन के साथ-साथ युद्ध क्षेत्र में भी रथों का प्रयोग किया जाता था। रथों को सुन्दर तथा आकर्षक बनाने के लिए पताकाओं से सजाया जाता था क्षुद्र घंटिकाएँ बाँधी जाती थीं रत्नों की मालाएँ मोतियों के हार तथा चामर आदि लटकाए जाते थे रथ के बीच में माणिक्य सिंहासन होता था जिस पर रथी बैठते थे।[11]

---

१ सम० क० ६ पृ० ५०६।
२ वही ४ पृ० ३५५, ३५०।
३ आर० यल० मित्र—ऐंटीक्विटीज आफ उडीसा, पृ० २११।
४ अथर्ववेद २०।१२७।१३२।
५ आदिपुराण—७।३३।
६ सम० क० ३ पृ० २२२ पृ० ९३६ देखिए—आदिपुराण १७।८१।
७ वही ७ पृ० ६३९ ६५५ ८ पृ० ७४३।
८ आप्टे—संस्कृत हिन्दी कोश।
९ आर० यल० मित्र—ऐंटीक्विटीज आफ उडीसा, पृ० २१२।
१० सम० क० १, पृ० २९ २ पृ० ९६ ६ पृ० ४९६ ४९८, ५३८, ८, ७८८, ९, पृ० ८७९ ८० ८१ ८२ ८३, ८८६-८७ ८९२।
११ वही ८, पृ० ८८१।

रथा का प्रयोग वैदिक काल से ही चला आ रहा ह। ऋग्वेद में रथ का उल्लेख अनेक बार हुआ ह।[1] प्राय रथ में दो अश्व जोडे जाते थे किन्तु कहीं-कहीं तीन और चार का भी सकेत आया ह। यह कहना कठिन ह कि इनमें तीसरे और चौथे अश्व को आगे जोडा जाता था या पार्श्व में।[2] रामायण में राम के यौवराज्य पद पर अभिषेक के लिए अ य सामग्री के साथ वैयाघ्र नामक रथ भी लाया गया था।[3] महाभारत में भी रथ का उल्लेख ह।[4] कौटिल्य ने रथ पथ का उल्लेख किया है।[5] पाणिनी काल में लोगा के आवागमन के साधना में रथ का विशेष महत्व था जिसे बैल खीचते थे।[6] पतजलि के काल में भी बला द्वारा रथ खीचे जाते थे।[7] मानसोल्लास में दो पहियों से युक्त, सुन्दर चित्रा तथा नाना वण की पताकाआ आदि से सुशोभित रथ का उल्लेख ह जिसे अश्व खीचते थे।[8] यहा इसे राजाआ के ही योग्य बताया गया ह। हमने अ यत्र रथ क सैनिक उपयोगों का विवेचन किया है।[9]

जलयान—इसका भी प्रयोग व्यापारिक तथा आवागमन दोनों दृष्टिया से किया जाता था। हमने इसका विवरण अन्यत्र दिया ह।[10]

स्वास्थ्य—रोग और परिचर्या

समराइच्च कहा में कुछ आयुर्वेदीय सामग्री भी मिलती ह। इसमें निम्न लिखित रागा का उल्लेख है तथा उनको दूर करने के उपायों का भी उल्लेख मिलता है।

शीष वेदना—समराइच्च कहा के कथा प्रसग में इस राग का उल्लेख कई

१ ऋग्वेद १।२०।३ ३।१५।५ ४।४।१०।
२ मूयका त-वदिक काश प० ४३६।
३ रामायण—अयोध्या काण्ड ६।२८।
४ महाभारत—सभापव ५१।२३ ६१।४।
५ अथशास्त्र २।४।
६ वासुदेवशरण अग्रवाल—पाणिनि कालीन भारतवष, प० १५० ५१।
७ प्रभुदयाल अग्निहोत्री—पतजलि कालीन भारत, पृ० २९०।
८ मानसोल्लास ३।१६।१६५६।
९ विशेष जानकारी के लिए देखिए—राजनीतिक दशा वाले अध्याय में सन्यव्यवस्था के रथ सेना वाले परिच्छेद में (दीक्षितार चक्रवर्ती तथा मजूमदार के विचार)।
१० देखिए—आर्थिक दशा वाले अध्याय में व्यापारिक यान।

बार आया ह ।[1] सम्भवत यह उस समय का एक सव साधारण रोग था । इसे दूर करने के लिए वद्य विशारद बुलाए जाते थ[2] तथा विविध प्रकार की औष धियों तथा रत्नलेप आदि का प्रयोग किया जाता था । चरक सहिता में शिर रोग पाँच प्रकार का वताया गया ह—वातजन्य (वातिक) पित्तजन्य कफ जन्य (श्लेष्मिक) सन्निपातज और क्रिमिजन्य ।[3] इस दूर करने क लिए नत (तगर), उत्पल (नील कमल) चदन और कडवा कुट आदि को समान भाग में लेकर उसका चूण बनाना चाहिए और उसमें घृत मिला कर लेप करना चाहिए इससे वेदना शान्त हो जाता है ।[4]

बधिर—समराइच्च कहा में शबर वद्य द्वारा बधिर राग को प्राकृतिक उपचार द्वारा ठीक करने का उल्लेख ह ।[5] लेकिन यहाँ दूर करने की विधि आदि का उल्लेख नही ह । यह एक प्रकार का कणराग था जिससे सुनाई नही पडता था । इसका उल्लेख निशीथ चूर्णी में भी किया गया ह,[6] किन्तु इसक दूर करने का उल्लेख नहा है । आज भी नगरा और गाँवा में कुछ आदिवासी जाति के लोग घूम घूमकर कान के रोग का उपचार करते ह ।

तिमिर रोग—समराइच्च कहा में शबर वद्य द्वारा इस अन्य रोगा की श्रेणी में गिनाया गया ह ।[7] इस रोग क प्रभाव से आँखा की ज्योति समाप्त हा जाती था ।[8] चरक सहिता में बताया गया ह कि ज्वर तथा शाक आदि से सतप्त पुरुषा में तथा मद्य पीने वालों लोगा में तिमिर रोग उत्पन्न हो जाता है । ऐसी अवस्था में रक्ष शीताजन का प्रयोग, लेप और पुटपाक क प्रयोगा द्वारा तिमिर रोग को दूर करना चाहिए ।[9]

कसम—शबर वैद्य द्वारा इसे भी अन्य प्रकार के रोगा की श्रेणी में गिनाया

---

१ सम० क० १ पृ० २१ ७ प० ६९१ ।
२ वही ६ पृ० ५८४ ।
३ चरक सहिता भाग १ प० ३३३ स ३३५ ।
४ वही भाग १ प० ६३ से ९१ ।
५ सम० क० ६ प० ५८४ ८५ ।
६ निशीथ चूर्णी ३ पृ० २५८ ।
७ सम० क० ६ प० ५८४ ।
८ निशीथ चूर्णी ३ प० ५८ देखिए—वासुदेवशरण अग्रवाल—हर्षचरित एक सास्कृतिक अध्ययन प० १२० ।
९ चरक सहिता भाग २ पृ० १०७५ ।

गया है,[1] किन्तु इसके उपचार का उल्लेख नहीं है। निशीथ चूर्णी में भी इसका उल्लेख है।[2]

शूल[3]— यह एक प्रकार का उदर रोग था जिसके प्रभाव से उदर में अत्यधिक वेदना उत्पन्न होती थी। निशीथ चूर्णी में इसका उल्लेख आतंक रोग के रूप में किया गया है।[4] चरक संहिता के अनुसार जौ के आटे तथा यव क्षार को तक्र से पीस कर तथा उसे गरम कर पेट पर लगाने से पेट का शूल दूर हो जाता है।[5] इसी ग्रन्थ में उल्लेख है कि हृदय रोग से पीडित जिन रोगियों में भोजन करने के बाद हृदय में शूल अधिक उत्पन्न होता है तथा भोजन के पाचन काल में शूल अल्प मात्रा में होता है और भोजन के पूर्ण मात्रा में पच जाने के बाद जो शूल शान्त हो जाता है उसमें देवदारु कुट लोध, सेंधा नमक साचर नमक और अतीस इन सभी का चूर्ण गरम जल के साथ सेवन करना चाहिए।[6]

कुष्ठ रोग—समराइच्च कहा के कथा प्रसंग में कुष्ठ रोग का भी उल्लेख है[7] जिसका कारण पूर्व कृत कर्म दोष माना गया है। चरक संहिता में विकृति को प्राप्त हुए सात द्रव्य कुष्ठ रोग के कारण बताये गए हैं यथा—प्रकोपक कारणों से विकृत तीन दोष—वात पित्त और कफ दोषों के आक्रमणों से विकृत हुए द्रव्य स्वरूप शरीर धातु, त्वचा मांस, रक्त लसिका ये चार द्रव्य। इन सातों धातुओं का समूह सात कुष्ठों का उत्पादक बताया गया है।[8] उसी ग्रन्थ में एक जगह बताया गया है कि कुष्ठ रोग से पीडित व्यक्ति को घृत आदि स्नेहों और विकार न पैदा करने वाली लाभप्रद औषधियों से स्नेहन अर्थात् पिप्पली हर्रे या त्रिफला से पकाये हुए स्नेह से स्नेहन करना चाहिए।[9]

विसूचिका[10]—यह भी तत्कालीन समाज का प्रचलित रोग था। इसकी उत्पत्ति अत्यधिक भोजन करने से बतायी गयी है।[11] चरक संहिता में बताया

---

१ सम० क० ६ पृ० ५८६।

२ निशीथ चूर्णी ३ पृ० २५८।

३ सम० क० ६ पृ० ५८४, ७ पृ० ६९१।

४ निशीथ चूर्णी ३ पृ० ५२९।

५ चरक संहिता १ पृ० ६२।

६ वही २ पृ० ७३६।

७ सम० क० ४ पृ० ३१७ ३४८ देखिये निशीथ चूर्णी ३ पृ० २५८।

८ चरक संहिता भाग १, पृ० ६४१।

९ वही १ पृ० २७९।

१० सम० क० ४ पृ० २९८।

११ निशीथ चूर्णी २ पृ० २६७ (अतिमत्त वा विसूतिया)।

गया है कि ऊपर मुख और नीचे गुदा भाग द्वारा प्रवृत्त आम दोष तथा वात पित्त कफ आदि लक्षणों से युक्त जो रोग हो उसे विसूचिका जानना चाहिए।[१] इसका तात्पर्य हजे से लगाया गया है।[२]

मूर्च्छा[३]—यह भी समराइच्च कहा में एक रोग के रूप में उल्लिखित है। चरक संहिता में बताया गया है कि मलीनाहार करने वाले जिस मनुष्य की आत्मा रज और मोह से युक्त है उसके शरीर में जब कुपित हुए वात, पित्त और कफ अलग-अलग या समस्त दोष रक्तवाही रसवाही संज्ञावाही आदि श्रोतों को अवरुद्ध कर रुक जाते हैं तो मद, मूर्च्छा आदि व्याधियों को उत्पन्न करते हैं।[४] यहाँ मूर्च्छा के कई भेद बताये गये हैं—यथा वातज पित्तज, कफज सन्निपात (इसमें वात पित्त, कफ आदि सभी के लक्षण होते हैं) आदि।[५] इस रोग के कारण व्यक्ति चेतनाशून्य (बेहोश) हो जाता है।

ज्वर—समराइच्च कहा में ज्वर को भी अन्य रोगों की श्रेणी में गिनाया गया[६] है, किन्तु इस रोग की उत्पत्ति तथा प्रभाव आदि का विवरण नहीं दिया गया है। इसका उल्लेख अन्य जैन ग्रन्थों में भी आया है।[७] इस रोग से शरीर का ताप बढ़ जाता है तथा शरीर में पीड़ा आदि के साथ शक्ति का ह्रास होना प्रारम्भ हो जाता है। चरक संहिता में बताया गया है कि ज्वर में पित्त की ही प्रधानता होती है क्योंकि बिना पित्त के प्रधान हुए ताप की सम्भावना नहीं हो सकती और ज्वर में सन्ताप ही प्रधान है।[८] यहाँ ज्वर के आठ भेद गिनाये गये हैं—वात, पित्त कफ वात पित्त वात कफ पित्त कफ वात पित्त कफ और आगन्तु (थकावट) के कारण से उत्पन्न ज्वर।[९] अन्यत्र वात, पित्त कफ रज और तम ये पाँच प्रकृति दोष ज्वर के कारण बताये गये हैं।[१०] चरक के अनुसार ज्वर के पूर्व रूप में हल्का भोजन और उपवास करना चाहिए

---

१ चरक संहिता १ पृ० ६८८।
२ आप्टे—संस्कृत हिन्दी कोश।
३ सम० क० प० ४ पृ० २९८।
४ चरक संहिता १ पृ० ४४९।
५ वही १, पृ० ४५१ ५२।
६ सम० क० ४ पृ० ३४८।
७ निशीथ चूर्णी ३ पृ० २५८ यशस्तिलक, पृ० ५०९।
८ चरक संहिता भाग १ पृ० ६०१।
९ वही भाग १ पृ० ६१०।
१० वही भाग २ पृ० ९५

क्योंकि ज्वर आमाशय से ही उत्पन्न होता है। इसके बाद दोषों के अनुसार कषायपान अभ्यंगस्नेह, स्वेद प्रदेह परिसेक, अनुलेप वमन विरेचन, स्थापन वस्ति, अनुवासनवस्ति, समन औषध, नस्य, धूप, धूम्रपान अंजन, दुग्ध और भोजन की व्यवस्था युक्तिपूर्वक करनी चाहिए।[१] जीर्ण ज्वर की शांति के लिए घृत का प्रयोग करना चाहिए।[२] यहाँ वात, पित्त कफ, आदि ही प्रधान रूप से ज्वर के कारण बताये गये हैं और इन तीनों में भी पित्त को प्रधान माना गया है।

जलोदर—समराइच्चकहा में इस रोग के कारण भुजाओं का सूख जाने पर को शय हो जाने नेत्र मलीन हो जाने निद्रा समाप्त हो जाने जिह्वा के जड़ हो जाने तथा अत्यधिक पीड़ा का अनुभव होने का उल्लेख है।[3] निशीथ चूर्णी में भी जलोदर का उल्लेख है।[४] चरक संहिता में जलोदर के लक्षण के सम्बन्ध में बताया गया है कि इस रोग में भोजन की अनिच्छा पिपासा की वृद्धि गुदा से जल का श्राव, शूल शारीरिक दुर्बलता उदर में नाना प्रकार की रेखायें, स्पर्श करने पर जल से भरे हुए मशक के समान उदर में जल तरंग का अनुभव होता है।[५] इसी ग्रन्थ में एक अन्य स्थान पर बताया गया है कि मन्दाग्नि वाले पुरुष या दुर्बल व्यक्ति जब मात्रा से अधिक जल का सेवन करते हैं तो उनकी जठराग्नि नष्ट हो जाती है। फलस्वरूप उदर में जलीयांश की वृद्धि हो जाने के कारण जलोदर की उत्पत्ति होती।[६]

महोदर सन्निपात[७]—यह उदर में अत्यधिक दर्द पैदा करने वाला रोग था। चरक संहिता में सनिपातोदर नामक रोग का उल्लेख है जो वात पित्त कफ जन्य उदर रोग के अन्तर्गत बताया गया है। उदर के ऊपरी भाग में जब नाना वर्ण की रेखायें और शिरायें व्याप्त हुई दिखाई दें तो इसे सन्निपातोदर जानना चाहिए।[८] उदर में सन्निपात की स्थिति आ जाने पर ही सन्निपातोदर नामक रोग जाना जाता है। निशीथ चूर्णी में भी सन्निपात रोग का उल्लेख है जो वात कफ

---

१ चरक संहिता १ पृ० ६१७।
२ वही १ पृ० ६१७।
३ सम० क० ६ पृ० ५८४।
४ निशीथ चूर्णी ३, पृ० २५८।
५ चरक संहिता २, पृ० ३९०।
६ वही २ पृ० ३८६।
७ सम० क० ६ पृ० ५८५।
८ चरक संहिता, भाग २, पृ० २८६।

और पित्त के असन्तुलन से पैदा होता था।[1] चरक संहिता में भी एक स्थान पर आया है कि सन्निपात में प्रायः एक ही स्थान में रहने वाले शरीर के दोष (वात, पित्त कफ) तुल्य गुण होने के कारण उनका सन्निपात या संसर्ग होता है।[2] इन तीनों दोषों (वात, पित्त कफ) के एक साथ बिगडने पर विषम ज्वर अथवा भीषण ज्वर उत्पन्न हो जाता है जिसे सन्निपात कहा जाता है।[3]



---

१ नीशीथ चूर्णी ४ पृ० ३४०।

२ चरक संहिता भाग १ पृ० ७१८।

३ आप्टे—संस्कृत हिन्दी कोश पृ० १०७०।

अष्टम-अध्याय

धार्मिक-दशा

देवी-देवता

सरस्वती

समराइच्च कहा में यद्यपि सरस्वती के स्वरूप और उनकी पूजा विधि आदि का उल्लेख नहीं है फिर भी कथा प्रसंग में उन्हें कहीं विद्यादेवी[1] और कहीं शारदा[2] के नाम से सम्बोधित कर उनकी महत्ता दर्शायी गयी है। समराइच्च कहा में उल्लिखित सरस्वती का प्राचीनतम उल्लेख हमें वैदिक काल से प्राप्त होता है। ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर सरस्वती का नदी के रूप में उल्लिखित किया गया है।[3] एक स्थान पर तो इनकी महिमा के सन्दर्भ में सरस्वती को समस्त ज्ञान उत्पन्न करने वाली कहा गया है।[4] ऋग्वेद में उल्लिखित इसी सरस्वती नदी के तट पर उच्चकोटि की वैदिक संस्कृति का विकास हुआ था। इसी नदी के तट पर बैठकर वैदिक कालीन ऋषि मुनियों ने वेदों की रचना की। कालान्तर में इसे देवी का रूप मिला और पुनः यह वाणी और ज्ञान की देवी के रूप में मानी जाने लगी।[5] सुशीला खरे ने प्राचीन साक्ष्यों के आधार पर सरस्वती की उत्पत्ति ब्रह्माण्ड के सरोवर से बतायी है।[6]

वैदिक काल में तो सरस्वती को नदी के रूप में स्वीकृत किया गया है, किन्तु उत्तर वैदिक काल में इन्हें उत्तरोत्तर वाणी की देवी के रूप में स्वीकृत किया जाने लगा। शतपथ ब्राह्मण[7] तथा ऐतरेय ब्राह्मण[8] में स्पष्ट रूप से सरस्वती को वाक की अधिष्ठात्री देवी बताया गया है। सम्भवतः उत्तर वैदिक काल में क्रमशः सरस्वती को, जिन्हें ज्ञान की अधिष्ठातृ माना जाने लगा था

१ सम०क० ७ पृ० ६८१।

२ वही ८, पृ० ७८६।

३ ऋग्वेद १।३।१०, ४।९५।१ ६।६१।२, ६।६१।८–१०, १०।६४।८–९, १०।७५।५।

४ वही १।३।१२।

५ सुशीला खरे—प्राचीन भारतीय संस्कृति में सरस्वती, पृ० ७।

६ वही पृ० ८।

७ शतपथ ब्राह्मण ३।९।१।७।

८ ऐतरेय ब्राह्मण ३।९।१०।

'वाक' से समीकरण किया जाने लगा। इस प्रकार धीरे धीरे इन्हें वाग्देवी और ज्ञानदेवी कहा जाने लगा।[1]

रामायण में वाग्देवी के रूप में सरस्वती को जिह्वा पर वास करने वाली और कण्ठ में निवास करने वाली कहा गया है।[2] महाभारत में सरस्वती का वाग्देवी के साथ साथ विद्यादेवी के रूप में भी उल्लिखित किया गया है।[3] एक अन्य स्थान पर सरस्वती को दण्डनीति की रचना करने वाली बताया गया है।[4] पुराणों में तो सरस्वती को ब्रह्मा, विष्णु और शिव द्वारा पूज्य कह कर उच्चकोटि का स्थान प्रदान किया गया है तथा उन्हें सर्वव्यापी एवं दिव्य रूपों में स्वीकृत किया गया है।[5] वायुपुराण में दी गयी देवियों की सूची में प्रज्ञा (सरस्वती) तथा श्री (लक्ष्मी) को महादेवी बताया गया है तथा इन्हीं दोनों रूपों से सहस्रों देवियों की उत्पत्ति बतायी गयी है।[6]

सरस्वती के स्वरूप का चित्रांकन खजुराहो की दीवालों पर देखने को मिलता है जहाँ वह अपने वाहन हंस पर आसीन, हाथ में वीणा लिये हुए है।[7] एक अन्य स्थान पर अपने दो हाथों से वीणा बजाती हुई तथा एक हाथ में पुस्तक और दूसरे हाथ में पुष्प लिये हुए सरस्वती का चित्र चतुर्भुज रूप में देखने को मिलता है।[8] श्वेतवर्ण के रूप में सरस्वती को उन सभी वस्तुओं का प्रतीक माना गया है जो जीवन में शुद्ध और स्वच्छ है।[9] चटर्जी के अनुसार देवी सरस्वती न केवल बुद्धि और विद्या की ही अधिष्ठातृ थी वरन वह औषधि *कला और समृद्धि की भी अधिष्ठातृ देवी के रूप में मानी जाती थी।*[10]

---

१ सुशीला खरे—प्राचीन भारतीय संस्कृति में सरस्वती, पृ० १७।

२ रामायण—६।१२०।२४, ७।१०।४०–४३, ७।५।२८।

३ महाभारत—वनपर्व ३।१८६।

४ वही शान्ति पर्व १२।१२२ तस्माच्च धर्मचरणान्नीतिर्देवी सरस्वती।
 ससृजेदण्डनीति सा त्रिषु लोकेषु विश्रुताम॥'

५ देखिए—सरस्वती स्तोत्र मार्कण्डेय पुराण अध्याय २३, वामन पुराण अध्याय ३२।

६ वायुपुराण ९।५८।९८।

७ विद्या प्रकाश—खजुराहो, पृ० १४१।

८ आइकनोग्राफी इन ढाका म्युजियम प्लेट ६३।

९ ए०के० चटर्जी—सम एस्पेक्टस आफ सरस्वती पृ० १५२–पेपरस् सेमिनार आन लक्ष्मी एण्ड सरस्वती'—एडिटेड बाई डी०सी० सरकार।

१० वही पृ० १५२।

समराइच्च कहा म उल्लिखित विद्या और शारदा सरस्वती के ही पर्याय हैं। उपरोक्त साक्ष्या के अनुसार इन्हें विद्या सरस्वती, शारदा तथा प्रज्ञा आदि विभिन्न नामों से जाना जाता था। समराइच्च कहा में उल्लिखित सरस्वती की महत्ता का सकेत जन धम पर ब्राह्मण धम के प्रभाव की पुष्टि करता है। जनधम में इन्हें (सरस्वती का) विद्या की दवी के रूप में उतना ही महत्व प्रदान किया गया ह जितना ब्राह्मण धम में ब्रह्मा की पत्नी सरस्वती का। उनके चिह्न (वीणा, पुस्तक) आदि भी लगभग एक से ही ह।[1]

लक्ष्मी

प्राचीन भारतीय देवी-देवताओं की मान्यता के आधार पर चण्डिका, सरस्वती आदि के साथ ही लक्ष्मी की भी अलौकिक शक्ति में विश्वास किया जाता था। समराइच्च कहा में लक्ष्मी[2] का उल्लेख ता हुआ ह किन्तु उनके स्वरूप आदि पर विशेष प्रकाश नही पडता हैं। श्री तथा लक्ष्मी का उल्लेख ऋग्वेद[3] में भी हुआ ह किन्तु वहा भी उनके स्वरूप के बारे में कुछ भी विवरण नही ह। ऋग्वेद में एक स्थान पर माता अदिति[4] का उल्लेख ह। यजुर्वेद में वदिक देवी अदिति को विष्णु की पत्नी क रूप में दिखाया गया ह।[5] ऋग्वद में उन्हें जगन्माता सवप्रदाता तथा प्रकृति की अधिष्ठात्री देवी कहा गया ह।[6] इन उल्लेखा के आधार पर लक्ष्मी को माता अदिति से भी जाडा जा सकता ह।

तत्तिरीय उपनिषद् में लक्ष्मी का वस्त्र भोजन, पेय, धन आदि की प्रदात्री क रूप में बताया गया ह।[7] ऐतरेय ब्राह्मण में 'श्री' की कामना करने के लिये बिल्व क पेड का यूप शाखा सहित बनाने का आदेश मिलता ह।[8] बिल्व का श्रीफल भी कहा गया ह।[9] रामायण में श्री कुबेर के साथ सम्बन्धित बतायी

१ सुशीला खरे—भारतीय सस्कृति म सरस्वती, पृ० ५७।

२ सम०क० ८ पृ० ७३१ ७४१, ९, पृ० ९६०।

३ ऋग्वेद—श्री' १ १६८ १०, १, १७९ १ १ १८८, ६ २, १ १२, ४ १०, ५ ४ २३, ६ ५ ४४ २, लक्ष्मी—१०, ७१, २।

४ वही १ ८९, १०।

५ तत्तिरीय सहिता—७ ५ ४।

६ ऋग्वेद १, ८९ १०।

७ तत्तिरीय उपनिषद् १।४।

८ ऐतरेय ब्राह्मण २, १, ६।

९ मनु० ५।१२०।

गयी हैं, जो सांसारिक सुख एवं धन के देवता हैं।[1] रामायण में एक अन्य स्थान पर लक्ष्मी को पुष्पक प्रासाद पर कर में कमल लिए हुए दिखाया गया है।[2] महाभारत में लक्ष्मी की उत्पत्ति समुद्रमन्थन में बतायी गयी है जिनका मांगलिक चिह्न मकर माना गया है[3] जिसे ग्रीक देवता अफ्रोडाइट से जोड़ा जा सकता है।

बौद्धग्रन्थ दीघ निकाय के ब्रह्मजाल सूत्र में लक्ष्मी की उपासना वर्णित है।[4] धम्मपद अट्ठकथा[5] में लक्ष्मी को 'रज्जसिरी दायक' अर्थात् राजा का राज्य दिलाने वाली देवी कहा गया है। जैन ग्रन्थ अंगविज्जा में लक्ष्मी को 'श्री' के रूप में उल्लिखित किया गया है।[6]

कालिदास ने रघुवंश में लक्ष्मी का राज्य लक्ष्मी के रूप में उल्लिखित किया है।[7] मालविकाग्नि मित्र में कवि ने नायिका की उपमा लक्ष्मी से की है।[8] विष्णु पुराण में श्री की उत्पत्ति समुद्र मन्थन में कह कर उन्हें विष्णु की पत्नी बताया गया है।[9] एक अन्य स्थान पर इन्हें कमलालया कहा गया है।[10]

भरहुत के कटघरों के खम्भों पर हमें लक्ष्मी के विकसित दो स्वरूप प्राप्त होते हैं। एक बैठा हुआ[11] तथा दूसरा खड़ा[12] हुआ। बैठी हुई मूर्ति योगासन की मुद्रा में दोनों हाथ जोड़े हुए कमल के फूल पर स्थित है। खड़ी हुई मूर्ति के एक हाथ में कमल का फूल तथा दूसरा हाथ वरद मुद्रा में नीचे की ओर लटका हुआ है। इन दोनों प्रकार के फलकों में गज उन्हें स्नान करा रहे हैं। इसके साथ साथ लक्ष्मी का स्वरूप प्राचीन भारतीय मुद्राओं मुहरों तथा अभि

---

१ रामायण ७, ७६ ३१।
२ वही ५, ७, १४।
३ महाभारत १३, ११ ३।
४ दीघ निकाय १, ११।
५ धम्मपद अट्ठकथा ११, १७।
६ अंगविज्जा— देवता विजय' अध्याय ५१ पृ० २०४।
७ रघुवंश ४।५।
८ मालविकाग्नि मित्र ५।३०।
९ विष्णु महापुराण १ ८ १५, १६ १४ १५।
१० वही १ ८, २३।
११ कलकत्ता इण्डियन म्यूजियम—भरहुत खम्भा ११० के पास।
१२ वही भरहुत खम्भा २१० तथा १७७ के पास।

लेखों में भी चित्रित किया गया है।[1] प्राचीन भारतीय मूर्तिकला तथा मुद्रा निर्माण कला में लक्ष्मी का चित्रांकन दूसरी शताब्दी ई० पू० से प्रारम्भ होकर बारहवीं ई० तक चलता रहा।[2]

राय गोविन्द चन्द के मत में लक्ष्मी पहले अनार्यों की देवी थी जो कालान्तर में हमारे धर्म में आ गयी और आर्यों को इन्हें अनार्यों से अपनाना पड़ा। कभी इन्हें वरुण की स्त्री के रूप में माना गया है कभी इन्द्र की, कभी कुबेर की और अंत में विष्णु की पत्नी के रूप में स्वीकार किया गया जो आज भी जन प्रचलित है।[3]

उपरोक्त सभी विवरण से स्पष्ट होता है कि समराइच्च कहा में उल्लिखित लक्ष्मी को आज भी धन वैभव की अधिष्ठात्री देवी के रूप में स्वीकृत किया जाता है। यह विश्वास जन साधारण में आज भी प्रचलित है कि दीपावली के के दिन लक्ष्मी प्रत्येक गृह में पधारती है। अतः उनके आगमन की प्रतीक्षा में लोग अपने घरों को स्वच्छ करते हैं, दीपक जलाते हैं जागरण करते हैं तथा द्यूत रचाते हैं।[4] माघ मास के शुक्ल पक्ष में पंचमी को बंगाल के निवासी बड़ी धूमधाम से लक्ष्मी की मूर्ति बनाकर उसका पूजन करते हैं।[5]

चण्डिका

समराइच्च कहा में देवताओं के साथ साथ देवी पूजन का भी उल्लेख प्राप्त होता है। तत्कालीन भारतीय समाज में चण्डिका देवी[6] की अपूर्व शक्ति में विश्वास किया जाता था मन्दिरों में उनकी मूर्ति स्थापित कर समुचित पूजा की जाती थी।[7] अपने मनोवांछित फल की सिद्धि के लिए जंगली जातियां द्वारा पशुबलि के साथ साथ नरबलि का भी संकेत प्राप्त होता है।[8] वी० पी० सिन्हा के अनुसार प्राचीन काल में मुख्य रूप से सीरिया एशिया माइनर पलेस्तीन,

---

१ देखिए—रायगोविन्दचन्द—प्राचीन भारत में लक्ष्मी प्रतिमा अध्याय—७ ८ तथा ९।

२ लक्ष्मीकांत त्रिपाठी—'लक्ष्मी एण्ड सरस्वती'—पृ० १६०—पेपर—'सेमिनार आन लक्ष्मी एण्ड सरस्वती' -एडी०-डी० सी० सरकार।

३ रायगोविन्द चन्द—प्राचीन भारत में लक्ष्मी प्रतिमा पृ० १२।

४ वही पृ० ३।

५ जे० एन० बनर्जी—डेवेलपमेण्ट आफ हिन्दू आइकनोग्राफी, पृ० ३७०।

६ सम० क० ४ पृ० ३५५ ३५७ ५८ ३६१ ६ पृ० ५२९।

७ वही ४ पृ० ३५५ ३६० ६१।

८ सम० क० ६, पृ० ५२९।

साइप्रस क्रीत और इजिप्ट आदि स्थान मातृ पूजा के स्थल रहे ह । उन्ही के अनुमार यह कहना कठिन ह कि शक्ति क रूप में मातृ देवी की उपासना कहाँ स विकसित हुई, किन्तु माशल के विचार में सिन्धु और नील के बीच के लोग मातृपूजा से प्रभावित थे ।[1] अत स्पष्ट होता ह कि प्राचीन भारत में शक्ति पूजा का प्रारम्भ सिन्धु घाटी के लोगो म हुआ ।[2] बी० पी० सिन्हा के समथन में डी० सी० सरकार ने भी कहा ह कि पश्चिमी भारत म लोग उस समय शक्ति पूजा स पूणतया परिचित थे ।[3]

महाभारत[4] में उल्लिखित ह कि अजुन ने युद्ध म विजय प्राप्त करने के लिए श्रीकृष्ण का सलाह पर दुर्गा देवी की आराधना की थी । पिण्डनियुक्ति के टीकाकार न भी महाभारत में प्राप्त साक्ष्य क समथन में इस बात का उल्लेख किया ह । युद्ध में जाते समय लोग चामुण्डा का प्रणाम करते थे।[5] यहाँ चामुण्डा का सम्बोधन चण्डी अथवा चण्डिका से ध्वनित होता ह । धम शास्त्रों में दुर्गा को विभिन्न नामो म सम्बोधित किया गया ह, यथा—उमा पावती, देवी अम्बिका गौरी, चण्डी (चण्डिका), काली कुमारी ललिता आदि ।[6]

माकण्डेय पुराण में देवी माहात्म्य' खड मिलता ह ।[7] वायु पुराण म भी चण्डिका का उल्लख प्राप्त होता ह ।[8] चण्डेश्वर ने देवी पुराण का उद्धरण देत हुए व्यक्त किया ह कि महीने में शुक्ल पक्ष की अष्टमी (विशेषत आश्विन मास की) देवी क लिए पवित्र ह और उस दिन बकर या भसे की बलि होनी चाहिए ।[9] आचाराग चूर्णी में चण्डिका को बकरे भसे तथा पुरुष आदि की बलि दकर उस प्रसन्न करने का उल्लेख प्राप्त हाता ह ।[10] निशीथ चूर्णी में उल्लिखित

---

१ बी० पी० सिन्हा—इवोल्यूशन आफ शक्ति वर्सिप इन इण्डिया पृ० ४६ सेमिनार—*'आन दी कल्ट आफ शक्ति एण्ड तारा —एडीटड—बाई—डी० सी०* सरकार ।
२ वही प० ५४ ।
३ डी० सी० सरकार—*शक्ति कल्ट इन वेस्टन इण्डिया*, प० ८७ ।
४ महाभारत भीष्म पव अध्याय २३ ।
५ पिण्ड नियुक्ति-टीका ४४१ ।
६ पी० वी० काणे—धम शास्त्र का इतिहास भाग १, पृ० ४०२ ।
७ माकण्डेय पुराण अध्याय—८१—९३ ।
८ वायु पुराण अध्याय ९ ।
९ कृत्य रत्नाकर, पृ० ३५१ ।
१० आचाराग चूर्णी पृ० ६१ ।

ह कि अपने जमाई की तीर्थ यात्रा कुशलतापूर्वक सम्पन्न होने पर स्त्रियाँ कोटटार्या को बकरे की बलि चढ़ाती थी।[1] आर्या और कोटटकिरिया (कोट्टार्या) दोनों ही दुर्गा के रूप हैं।[2] अलबरुनी ने भी लिखा है कि चामुण्डा (चण्डिका) के पुजारी देवी को खुश करने के लिए बकरा, भसा तथा बैल आदि की बलि चढाते थे।[3]

चण्डी को महिषासुर (भैंसे के आकार वाला राक्षस) मर्दिनी कहा गया है जो मदिरा, मास और जानवर का भक्षण करती थी वह यशोदा के यहाँ पैदा हुई थी और पत्थर पर पटकते समय वहाँ से उछलकर स्वर्ग को चली गयी। वह वासुदेव की प्रिय बहन थी जिनका स्थायी निवास स्थान विन्ध्यपर्वत बताया जाता ह।[4] भण्डारकर के अनुसार अप्पा (दुर्गा) शबर पुलिंद बर्बर तथा अन्य जगली जातियों की आराध्या देवी मानी जाती थी, जिनका आहार मदिरा और मास था।[5]

समराइच्च कहा तथा अन्य साक्ष्यों से स्पष्ट होता है कि प्राचीन काल में देवी पूजन का प्रचलन अवश्य था किन्तु अधिकतर जगली जातियाँ यथा—शबर, पुलिंद आदि पशु बलि तथा नर बलि के द्वारा देवी पूजन किया करते थे। सभवत देवी को भैंसे बकरे आदि की बलि देकर प्रसन्न करने का प्रचलन चण्डिका द्वारा महिषासुर (भैंसे के आकार वाला राक्षस) का वध करने के बाद से प्रारम्भ हुआ। लगता ह कि लोगों में यह भावना पैदा हो गयी कि पशु बलि देकर ही देवी को खुश किया जा सकता ह। राजस्थान में आज भी चण्डिका की पूजा के समय वृहद् समारोह में भैंसे की बलि दी जाती ह।

नगर देवी

हरिभद्रकालीन भारतीय समाज में अन्य देवी-देवता के साथ साथ नगर देवी[6] के अस्तित्व में भी विश्वास किया जाता था। वह नगर की रक्षिका के रूप में मानी जाती थी। उत्सव महोत्सव के समय नगर देवी की पूजा का प्रचलन

१ निशीथ चूर्णी १३–४४००।
२ हार्पकिंस–इपिक माइथालाजी पृ० २२४।
३ सचाऊ वाल्यूम I, पृ० १२०।
४ सर आर० जी० भण्डारकर—वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड अदर माइनर रिलिजस सिस्टम, पृ० १४३।
५ वही, पृ० १४३।
६ सम० क० १, पृ० ११६, ४, पृ० ३५४ ३५५, ५ पृ० ४५७।

था ।[1] प्राकृत ग्रथ अगविज्जा में नगर देवता[2] का उल्लेख आया ह । इससे स्पष्ट हाता ह कि नगरों के सरक्षक देवी देवताआ में लोगा का विश्वास था ।

कुछ विद्वानों के अनुसार यूनानी भी अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए ननाइया (Nanaia) नामक नगर देवी की पूजा करते थे । यूनानिया के प्रभाव के कारण ही इनके अधिकार में स्थित नगरों में भी उस नगर की अपनी नगर देवी की परम्परा की सम्भावना विद्वानों ने स्वीकार की ह ।[3]

ब्रह्मा

भारतीय धार्मिक परम्परा में ब्रह्मा को सृष्टि का रचयिता स्वाकार किया गया ह । समराइच्च कहा म एक स्था पर इन्हें विधि[4] (विधाता अर्थात बनान वाला) बताया गया ह । एक अन्य स्थान पर इन्हें प्रजापति (ब्रह्मा का दूसरा नाम) कहकर मनानुकल फल की सिद्धि क लिए पूजा का विधान बताया गया ह ।[5] प्रजापति को ही कला का अधिष्ठाता देव समझ कर सुन्दर समार का रचयिता बताया गया ह ।[6] समराइच्च कहा क य उल्लेख ब्राह्मण धम का जन ग्र थों पर प्रभाव दिखलाते हैं ।

ब्रह्मा का प्राचीनतम इतिहास वदिक काल क पूव का माना जा सकता ह । प्रा० तारापद भट्टाचाय क अनुसार वदिक सस्कृति ब्रह्मा की अलौकिक शक्ति का हा विकसित रूप ह ।[7] उन्ही क अनुसार ब्रह्मा ही ससार मानव, देव, राक्षस वर्गो एव सभी धर्मों क जन्मदाता कहे जाते ह ।[8] यद्यपि ऋग्वद में प्रजापति सूक्त का वणन मिलता ह जिसे कुछ विद्वाना न सृष्टि का रचयिता देव माना ह । लेकिन प्रजापति को कहा सवित्र और साम के विशेपण क रूप म[9] ता कही हिरण्य गभ क रूप[10] में उल्लिखित किया गया ह जिससे प्रजापति की

---

१ सम० क० ४, प० ३५५ ।
२ अगविज्जा–दवता विजय अध्याय ५१, प० २०४–६ ।
३ डब्लू० डब्ल्य टान—ग्रीक्स इन बक्ट्रिया एण्ड इण्डिया प० ६९ ।
४ सम० क० ९ पृ० ८५८ ।
५ वही ८, पृ० ७३१ ७४२ ७६५ ।
६ वही ८ पृ० ७३१ ७४२— जइमय निउणत्त पुण एत्थ सुणभयवओ पया वइणो । जेण जयसुदर मिण लडह रुव विणिम्मविय' ।
७ तारापद भट्टाचाय—दी कल्ट आफ ब्रह्मा प० २४५ ।
८ वहा, प० १०२ ।
९ ऋग्वद ४।५३।२ ।
१० वही १०।२१।१ ।

सावभौमिक शक्ति में सदेह प्रतीत होता ह । प्रो० भट्टाचाय के अनुसार वदिक काल में ब्रह्मा का नाम अज्ञात नही था । ऋग्वेद में ब्रह्मणस्पति[1] का ब्रह्मा के रूप में प्रयाग किया गया ह यह ब्रह्मणस्पति पूव वदिक कालीन ब्रह्मा का समानार्थी ह ।[2]

ब्राह्मण ग्रन्थों म प्रजापति को श्रेष्ठ देवता बताया गया ह किन्तु अन्य स्थाना पर उ ही ग्रथों में वदिक देवताओं की स्तुति और आहुति का भी उल्लेख ह जिसमें प्रजापति को अन्य देवताओ की तुलना में कम महत्व दिया गया ह । प्रो० भट्टाचाय ने अपने तक में यह बात सिद्ध करने का प्रयास किया ह कि ब्राह्मण ग्रन्था में उल्लिखित प्रजापति (ब्राह्मण ग्रन्थों के सब शक्तिमान देव) का तात्पय प्राचीन ब्रह्मा स ह जिसके माहात्म्य, शक्ति आदि का वदिक धम म दबा दिया गया था ।[3] यहाँ भट्टाचाय की बात सही भी जान पडती ह, क्योंकि समराइच्च कहा म भी ब्रह्मा का विधि अर्थात विधाता कह कर सम्पूण कलाओ का अधिष्ठाता दव माना गया ह । जिसस स्पष्ट होता है कि ब्रह्मा का स्वरूप और उनकी शक्ति आदि वदिक काल के पूव भी अज्ञात नही थी । प्रो० भट्टाचाय ने वदिक काल के पूव ब्रह्मा का सम्बन्ध राष्ट्र स जोडा ह जिसके अंतगत पृथ्वी, जल, अग्नि वायु आदि शक्तियों में विश्वास किया जाता था । धीरे धीरे ये सभी शक्तियां अलग-अलग देवताओं क रूप में परिणत हो गयी और बाद म सभी दवताओं का एकमात्र देव ब्रह्मा के रूप में जाना जाने लगा ।[4] तभी स इन्हें ब्राह्मण उपनिषद तथा बाद के अन्य ग्रथा में कही ब्रह्मा, कही 'प्रजापति और कही विधाता के रूप में स्वीकार किया जाने लगा ।

काणे क अनुसार इन्द्र, यम, वरुण आदि की भाँति ब्रह्मा का भी पूजा में बलि (पक्वान का अन्न) दी जाती थी ।[5]

ब्रह्मा क स्वरूप और उनके वाहन का चित्राङ्कन अजन्ता का चित्रकला में देखन को मिलता ह । वहाँ ब्रह्मा के तीन मुख दिखाए गये ह तथा उनक वाहन हस का भी चित्राङ्कन ह ।[6] यहाँ ब्रह्मा विष्णु और शिव को साथ साथ दिखाया गया है जिसस पता चलता ह कि धार्मिक परम्परागत आधुनिक विचार

---

१ ऋग्वेद २।१।३ ।

२ तारापद भट्टाचाय—दी कल्ट आफ ब्रह्मा, पृ० १०८ ।

३ वही पृ० २४६ ।

४ वही पृ० २४३ ।

५ पी० वी० काणे—धम शास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० ४०६ ।

६ जे० एन० बनर्जी—डेवल्पमेण्ट आफ हिन्दू इक्नोग्राफी, पृ० ५५१ ।

धारा (यथा—सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा पालनकर्त्ता विष्णु तथा संहारकर्त्ता शिव) प्राचीन विचार धारा का ही प्रतिफल है।

विष्णु

समराइच्च कहा में विष्णु की पूजा प्रशस्ति तथा उनके स्वरूप आदि का तो उल्लेख नहीं है फिर भी कहीं परमेश्वर[1] और कहीं नारायण[2] कह कर उनकी महत्ता दर्शायी गयी है। हिन्दू धार्मिक परम्परा के अनुसार ब्रह्मा, विष्णु और महेश (शिव) ये तीनों देवता सभी देवों में श्रेष्ठ माने जाते हैं और इन तीनों में भी विष्णु का स्थान श्रेष्ठतम है।

ऋग्वेद में विष्णु की महिमा, पराक्रम एवं पूजा आदि का विस्तृत वर्णन किया गया है।[3] एक स्थान पर विष्णु को बृहत् शरीर एवं युवा रूप में युद्ध में जाते हुए उल्लिखित किया गया है।[4] विष्णु के प्रसिद्ध दस अवतार माने गये हैं, यथा—मत्स्य कूर्म वाराह नरसिंह वामन परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध, एवं कल्कि।[5] महाभारत के शांतिपर्व में विष्णु के दश अवतारों का उल्लेख है।[6] परन्तु वहाँ 'बुद्ध' की हंस तथा कृष्ण की जगह 'सात्वत' नाम आया है।

विष्णुधर्मोत्तर में 'विष्णुराच' कह कर विष्णु की पूजा किये जाने का संकेत प्राप्त होता है।[7] इन्हें चतुर्भुज देवता के रूप में पूजे जाने का उल्लेख है। उनके एक हाथ में शंख, दूसरे में चक्र, तीसरे हाथ में गदा तथा चौथे हाथ में पद्म लिए हुए दिखाया गया है।[8]

वासुदेव, जो कि वैदिक देवता विष्णु के अवतार माने जाते थे तथा दूसरे जिन्हें नारायण के रूप में भी जाना जाने लगा, की पूजा का प्रचलन पाणिनि के समय से ही प्रारम्भ हो गयी थी।[9] तैत्तिरीय आरण्यक में भी नारायण, वासुदेव और

---

१ सम० क० ७, पृ० ६५७।
२ वही ८, पृ० ७५७।
३ ऋग्वेद—विष्णु सूक्त।
४ वही १।१५५।६।
५ पी० वी० काणे—धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० ३९४।
६ महाभारत—शान्ति पर्व ३३९।१०३ ४।
७ वासुदेव शरण अग्रवाल—प्राचीन भारतीय लोक धर्म पृ० ८९।
८ ईस्टर्न इण्डियन स्कूल आफ मेडिवल स्कल्पचर प्लेट XLIII XLIV।
९ दी कल्चरल हेरिटेज आफ इण्डिया, ४, पृ० ४२।

विष्णु का एक ही देवता के रूप में स्वीकार किया गया है।[1] नारायण को हरि तथा अनन्त एव सवशक्तिशाली देवता क रूप में स्वीकार किया गया ह।[2]

नर अथवा नरों के समूह का विश्राम स्थल (अन्तिम लक्ष्य) ही नारायण है।[3] महाभारत में श्रीकृष्ण ने अजुन स कहा कि मैं ही अनन्त नरों का विश्राम स्थल हू।[4] भण्डारकर के अनुसार 'नृ अथवा नर' का प्रयोग वेदों में नर रूपी दवता (नारायण) को इगित करता ह ताकि वह (नारायण) अन्य दवताओं का अतिम लक्ष्य (अतिम विश्राम स्थल) बन सके।[5] नौवी शताब्दी म भी विष्णु की एक पत्थर की मूर्ति पर भगवान नारायण का अकन प्राप्त होता ह।[6] अत स्पष्ट ह कि समराइच्च कहा में उल्लिखित नारायण तथा परमेश्वर शब्द विष्णु क पर्याय हैं। यह देवों में भी श्रेष्ठ अर्थात परमेश्वर के रूप में आज भी मान्य ह तथा जो समय-समय पर इस पृथ्वी पर अवतरित होकर अधम का नाश करके धम की स्थापना करते हैं।

सूय

हरिभद्र के काल में अन्य देवी-दवताओं की तरह सूय देव की सत्ता में भी विश्वास किया जाता था। समराइच्च कहा में इन्हें दिनकर कह कर ऋषिगण, किन्नर तथा लक्ष्मी आदि से वन्दनीय बताया गया ह।[7] सूय देव को तीनों लोकों का प्रकाशित करने वाला देवता समझकर उनकी पूजा की जाती थी। वह अपनी तजस्विता क कारण ही तीनों लोकों में वन्दनीय समझे जाते थे।[8]

विश्व की प्रत्येक प्राचीन सभ्यता यथा—मिस्र मेसापोटामिया, ग्रीक, रोम ईरान और भारत में सूय की उपासना का उल्लेख पाया गया ह।[9] कुछ विचा

---

१ तत्तिरीय आरण्यक १०।१।६ नारायणया विद्महे वासुदेवायधिमाहि ताव ना विष्णु प्रचोदयात।

२ दी कल्चरल हेरिटेज आफ इण्डिया ४ पृ० ११९।

३ मेधातिथि—आन मनु० १।१०।

४ महाभारत—शाति पव १२।३४१।

५ सर आर० जी० भण्डारकर—वष्णविज्म शविज्म एण्ड माइनर रिजिलस सिस्टम्म पृ० ३०।

६ इपि० इडि० १८ प० ३३०—भगवतो नारायणस्य शैली प्रतिमा भक्तानाम।

७ सम० क० ९ प० ८५९-६०, ९६०।

८ वही ९ पृ० ८५९ ६०।

९ श्लता प्रसाद—सन वर्शिप इन ऐंसियन्ट इडिया, इन्ट्रोडक्शन, पृ० XXIX।

रका व अनुमार सूय की उपासना उत्तर पापाण काल से ही प्रारम्भ हुई और सि धु घाटी की सभ्यता तथा उसके बाद तक चलती रही।[१]

वदिक काल म सूय की उपासना विभिन्न रूपों में की जाती था। सूय के रूप में वह प्रकाश और गर्मी प्रदान करने वाले, सवित के रूप में वह सभी लोगों का यहाँ तक कि मानव मस्तिष्क के विचारों का भी प्रेरणा तथा उत्साह प्रदान करने वाले विष्णु के रूप में वह सम्पूण जीवो को पदा करने वाले, पालन करने वाले तथा सम्पन्नता प्रदान करने वाले पूपन के रूप में वह पशुओ, फसलो भोजन तथा वनस्पतियो के सरक्षक देव के रूप में पूजनीय थे।[२]

मौय काल के अतिम समय से ही सूय देव का स्वरूप दष्टिगोचर होता ह और तभी से सूय-देव की मूर्ति-पूजा का प्रारम्भ होता ह।[३] इण्डाग्रीक, शक और कुषाण के आगमन पर सूय की उपासना का प्रचार और बढ गया क्योंकि वे लोग (विदेशी) अपने देश में सूय पूजा म पूव परिचित थे।[४]

गुप्तकाल म सूय देव के बहुत से मन्दिर निर्मित किये गये। कुमार गुप्त के शासनकाल में सूय के सम्मान में मन्दसौर (मालवा) में तथा स्कन्द गुप्त के समय में मध्यदेश में सूय देव का मन्दिर बनवाया गया जिसमें उन्हें भास्कर कह कर उनकी प्रार्थना की गई ह।[५] गुप्त प्रशासन के पतन के पश्चात बहुत से राजवंशो ने, यथा—मौखरी थानेश्वर और कन्नोज के वधन वशीय शासक, काश्मीर के कार्कोटक और सेन तथा बगाल के पालवशीय शासक सूय के उपासक बने रहे।[६] थानेश्वर के राजा राज्यवधन प्रथम, आदित्यवधन तथा महाराज प्रभाकरवधन सूय देव के उपासक थे।[७] अलबरूनी ने थानेश्वर नामक नगर में सूय देव की एक विशाल मूर्ति देखी थी।[८] प्रतिहार नरेश महेन्द्र पाल द्वितीय के उज्जन भूमिदान पत्र में सूय की उपासना का उल्लेख ह।[९]

सूय देव की मूर्ति को चतुभु ज मदिर की दीवालो पर चित्रित किया गया

१ लालता प्रसाद—सन वर्शिप इन ऐंसियन्ट इंडिया, प० १८९।
२ वही, पृ० १८९।
३ वही, प० १८८।
४ वही प० १८८।
५ इन्सक्रिप्सनम इंडिकरम, ३, पृ० ८९।
६ लालता प्रसाद—सन वर्शिप इन ऐंसियन्ट इंडिया, प० १८९।
७ हषवधन का मधुवन ताम्रपत्र—इपि० इण्डि० १ पृ० ७२।
८ सचाऊ १ प० ११७।
९ इपि० इण्डि० १४, पृ० १७८।

ह। वह सात घोड़ों से खीचे जाने वाले रथ में बैठे हुए चित्रित किये गये है।[1] खजुराहो के संग्रहालयों में भी सूर्य की मूर्ति देखने को मिलती है। पूर्व मध्य कालीन भारत में भी वैदिक काल की भाँति भिन्न भिन्न नामों से सम्बोधित कर उनकी उपासना की जाती थी—यथा—सूर्य[2], इन्द्रादित्य[3], भास्कर[4], आदित्य[5] और मार्तण्ड[6] आदि। उन्हें समस्त रोगों का हर्ता तथा विश्व प्रकाशक बताया गया है।[7]

अतः स्पष्ट होता है कि सूर्य को विभिन्न नामों से सम्बोधित कर वैदिक काल से लेकर पूर्व मध्यकाल तथा उसके पश्चात भी उनकी पूजा का प्रचलन था। उन्हें विश्व को प्रकाशित करने वाला दिन और रात को बनाने वाला तथा जीवन और शक्ति प्रदान करने वाला देव स्वीकार किया गया है।

चन्द्रमा

हरिभद्र कालीन भारतीय समाज में चन्द्रमा को भी देवता के रूप में जाना जाता था।[8] हवन और यज्ञ आदि कार्यों में अन्य देवताओं की तरह चन्द्रमा की भी अलौकिक शक्ति में विश्वास कर उनकी पूजा का विधान था। वह सकल जन मन आनन्दकारी मृगलक्षणयुक्त चन्द्रत्व के रूप में पूजनीय थे।[9] अथर्ववेद में भी चन्द्रमा को देवताओं की सूची में उल्लिखित किया गया है।[10] विष्णुधर्मोत्तर में रुचि देवता का उल्लेख आया है। रुचि शब्द का अर्थ रुचि (इच्छा) से लगाया जाता है अर्थात जो जिसकी रुचता था वही उसका देवता बन जाता था, वहाँ चन्द्ररुचि का भी उल्लेख प्राप्त होता है।[11]

---

१ विद्या प्रकाश—खजुराहो, पृ० १४०।
२ इपि० इण्डि० ११ पृ० ५५ ९ प० १–५ तथा ६३।
३ वही १९ प० १७८।
४ वही १६ प० १३।
५ सचाऊ १ पृ० ११०।
६ राजतरंगिणी ३, ४६७, ४ १००।
७ जनल आफ दी एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल (न्यू सीरीज) २६ पृ० १४७ प्लेट २ (सूर्य समस्त रोगानां हर्ताविश्व प्रकाशक)।
८ सम० क० ८ पृ० ७५८।
९ वही ५, पृ० ३६४ ६५।
१० अथर्ववेद ११।६।१–२३ (पाप मोचन सूक्त), देखिए—अंगविज्जा—देवता विजय अध्याय ५१ पृ० २०४–६।
११ वासुदेवशरण अग्रवाल—प्राचीन भारतीय लोकधर्म, पृ० ८–९।

यानवल्वय स्मृति में चन्द्रमा को नौ ग्रहा में स एक माना गया ह और इन नौ ग्रहा (सूय च द्र मगल, बुध, वहस्पति, शुक्र, शनि, राहु और केतु) की पूजा के लिए उनकी मूर्तियाँ क्रम से ताम्र, स्फटिक, लाल च दन, साना (बुध एव वृहस्पति के लिए) रजत लोहा सीसा एव कांसे की बनी होनी चाहिए।[1] गीता में सूय च द्र इ द्र अग्नि आदि देवताओ को विष्णु का नाना रूप वताया गया ह।[2] इस प्रकार यह बात स्पष्ट होती ह कि वदिक काल से ही च द्रमा को सूय इ द्र अग्नि आदि की श्रेणी में रखा जाने लगा और स्मृति काल तक आते आते इ हें (च द्रमा को) नौ ग्रहा में से एक मानकर पूजा जाने लगा। यहाँ च द्रमा के स्वरूप का उल्लेख तो नही प्राप्त होता ह किन्तु कुछ विद्वाना की राय में तो अग्नि वायु आन्त्यि पथ्वी और च द्रमा आदि प्रत्यक्ष दिखाई देन वाले देवताआ को मनुष्य के रूप में नही आँका जा सकता।[3] समराइच्च कहा में इन्हें मृगलक्षणयुक्त बताया गया ह जा आज भी हमें दष्टिगोचर होता ह। समवत इन्ह प्राकृतिक देव क रूप में स्वीकृत किया गया ह।

प्राचीन जन और वौद्ध ग्रथ सूय च द्र इ द्र, अग्नि, यम कुबेर आदि देव ताआ के स्वरूप गुण-अवगुण, मा यता तथा पूजा आदि के सम्ब ध में एक दूसर का समथन नही करते, लेकिन महाका या म उल्लिखित इन आठ देवताओं को बाद के ग्रथों में दिकपाल के रूप में चार मुख्य और चार गौड दिशाआ का अधिपति देव माना जाने लगा।[4] समराइच्च कहा में भी दिकपाल का उल्लेख आया ह, कि तु यहाँ दिकपाल देवों के नाम नही आये हैं।

देवराज इ द्र

समराइच्च कहा में अ य देवताआ के साथ-साथ देवराज इ द्र[5] की अलौ किक शक्ति में भा विश्वास का उल्लेख ह। एक स्थान पर इ हें पुरदर[6] कहा गया ह।

---

१ यानवल्वय स्मृति १।२९६ ९८।
२ भगवदगीता–अध्याय १० श्लाक–२१।
३ जे० यन० बनर्जी—डेवल्पमेंट आफ हिंदू आइक्नाग्राफी प० ४९।
४ वहा प० ४९।
५ सम० क० ८ प० ६३८, ८ पृ० ७५७ ९, पृ० ९६२।
६ वही ८ पृ० ७५७ दखिए—आप्टे–सस्कृत हि दी कोश–पुर दारयति इति पुरदर (द + णिच् + खच + मुम = पुरदर), रघुवश ३।८, मकडोनल—वन्कि माइथालाजी, प० ११३ (यहाँ दैत्या के पुर या गढ को तोडने के कारण ही इ द्र को पुरदर कहा गया ह)।

वन्कि काल से ही इन्द्र की प्रतिमा एव स्वरूप का पता चलता ह। ऋग्वेद में इन्द्र का तुविग्रीव (शक्तिशाली या माटी गदन वाला) वयोन्र (बडे उदर वाला) ग्व सुबाहु बताया गया ह।[१] आगे उनके अगा एव पार्श्वों का वणन करते हुए जिह्वा से मधु पीने का कहा गया ह। ऋग्वद में ही एक अन्य स्थान पर इन्द्र को रगीन बाला ग्व दाढी वाला[३] एव हरे रग की ठुड्डी वाला[४] कहा गया ह। कभी-कभी उन्हें स्वण क रग वाला बताया गया ह।[५]

ऋग्वन में इन्द्र का हथियार वज्र बताया गया ह।[६] कभी-कभी उन्हें धनुष बाण लिए हुए दिखाया गया ह।[७] वे अकुश भी लिए रहते थे।[८] शत्रुओं का फँसान के लिए वह एक जाल भी लिए रहते थे।[९] इन्द्र को जन्म से ही बहादुर एव पराक्रमी बताया गया ह।[१०] ऋग्वेद में उल्लिखित ह कि इन्द्र के जन्म के समय उनके भय से पवत, आकाश और पथ्वी हिल उठे।[११]

इन्द्र का वदिक कालीन भारतीयों का राष्ट्रीय देवता बताया गया ह। मक्डानल के अनुसार इन्द्र की महत्ता का पता इसस चलता ह कि लगभग दा सौ पचास स्तुति मन्त्र तथा उनकी प्रशसा एव अन्य देवों के साथ प्रशस्ति में उल्लिखित मन्त्रों की सख्या तीन सौ के करीब पहुँच जाती है।[१२] सवप्रथम उन्हें वर्षा का दवता (पानी वर्षाने वाल दव) और दूसर स्थान पर युद्ध का दवता कहा जाता ह जिन्होंन युद्ध में आर्यों का सहायता की थी।[१३]

हरिवश पुराण म इन्द्रमह क उत्सव के रूप में इन्द्रध्वज के पजन का उल्लख

---

१ ऋग्वेद ८।१७।३।
२ वही ८ १७।७।
३ वही १०।९७।८।
४ वही १०।१०५।७।
५ वही १।७।२ ८।५५।३।
६ मक्डानल—वन्कि माइथालोजी पृ० ५५।
७ ऋग्वन ८।४५।४ १०।१०३।२ ३।
८ वही ८।१७।१ अथव० ६।८२।३।
९ अथर्वेद ८।८५।८।
१० ऋग्वन ३।५१।८, ५।३०।५ ८।४५।४।
११ वही १।६।१४।
१२ मक्डानल—वदिक माइथालाजी प० ५४।
१३ वही पृ० ५४।

ह ।[1] वृहत संहिता में किंकिणी जाल, माला, छत्र घंटियों और पिटकों से इन्द्र ध्वज को सजाने का उल्लेख है ।[2] कालिदास ने भी रघुवंश में इन्द्र ध्वज को सजाने का उल्लेख किया है ।[3] राजतरंगिणी में इन्द्र के उत्सव का वर्णन आता है ।[4] गुप्तकालीन मन्दसौर शिलालेख में इन्द्रोत्सव को शक्र का मख कहा गया है वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार मख, मह और मह तीनों शब्द परस्पर सम्बन्धित हैं ।[5] अग्रवाल जी के ही शब्दों में प्राचीन भारतीयों के जीवन में इन्द्र महोत्सव हरियाली से भरी हुई शस्य श्यामला धरित्री के दर्शन से माननीय उल्लास को व्यक्त करने का उत्सव था । इसके द्वारा विश्वव्यापी प्रजनन और पृथ्वी से पनपने वाले वनस्पति जीवन को देखकर मानव के स्वाभाविक हर्ष की अभिव्यक्ति की जाती थी ।[6]

रामायण में भी आश्विन की पूर्णिमा को इन्द्र ध्वजोत्सव मनाए जाने का उल्लेख है ।[7] जैन ग्रन्थों में भी इन्द्रोत्सव का उल्लेख मिलता है । निशीथ सूत्र में इन्द्र, स्कन्द, यक्ष और भूत नामक महामहों का उल्लेख है जो क्रमशः आषाढ़, आसोज, कार्तिक और चैत्र की पूर्णिमाओं के दिन मनाया जाता था । उस समय लोग खूब खाते पीते और नाचते गाते थे ।[8] उत्तराध्ययन टीका में इन्द्रकेतु की पूजा का उल्लेख है जो बड़ी ही धूमधाम एवं वाद्य, नृत्य गान आदि के साथ किया जाता था ।[9] बृहत्कल्प भाष्य से पता चलता है कि हेमपुर में भी इन्द्रमह मनाया जाता था । यहाँ इन्द्र स्थान के चारों ओर नगर की पाँच सौ कुल बालिकाएँ एकत्रित हो अपने सौभाग्य के लिए बलि, पुष्प और धूप आदि से इन्द्र की पूजा करती थीं ।[10] इन्द्र महोत्सव के समय आमोद प्रमोद में उन्मत्त रहने के कारण जिन सगे सम्बन्धियों को आमंत्रित नहीं किया जा सकता था

---

१ हरिवंश पुराण २।१९।४ ।
२ बृहत संहिता ४३।७ ।
३ रघुवंश ४।३— पुरुहूते ध्वजस्येवतस्यो नयन पङ्क्तय । नवाभ्युत्थान दर्शिन्यो ननन्द सप्रजा प्रजा ॥
४ राजतरंगिणी ८।१७० ।
५ वासुदेवशरण अग्रवाल–प्राचीन भारतीय लोक धर्म पृ० ३४ ।
६ वही पृ० ३४ ।
७ रामायण किष्किन्धा काण्ड १६।३७ ।
८ निशीथ सूत्र १९।११ १२ ।
९ उत्तराध्ययन टीका ८, पृ० १३६ ।
१० बृहत्कल्प भाष्य ४।५१५३ ।

उन्हें भी प्रतिपदा के दिन बुलाया जाता था।[१]

जैन ग्रंथ वृहत्कल्पभाष्य में इन्द्र को परस्त्रीगामी बताया गया है।[२] कल्पसूत्र के अनुसार इन्द्र अपनी आठ पटरानियों तीन परिषदा सात सेना, सात सेनापतियों[३] और आत्मरक्षकों से परिवृत्त होकर स्वर्गिक सुख का उपभोग करते हैं।[४]

समराइच्च कहा में उल्लिखित इन्द्र देव की महत्ता एवं पराक्रम की प्रशस्ति वेदों, पुराणों एवं अन्य जैन ग्रंथों में भी देखने को मिलती है। हिन्दू धर्म ग्रंथों के अतिरिक्त जैन ग्रंथों में इन्द्र को कहीं-कहीं पर-स्त्रीगामी बताकर इनकी महिमा को घटाया गया है। अन्य उल्लेखों से पता चलता है कि प्राचीन काल में इन्द्र महोत्सव बड़ी धूम धाम से मनाया जाता था जिसमें इन्द्र की पूजा-अर्चा की जाती थी।

यम

प्राचीन भारतीय देवताओं में यम देव का भी महत्ता पायी जाती है। यम को मृत्यु का देवता माना गया है। कठोपनिषद में यमदेव का विशद प्रभाव देखने को मिलता है। महाभारत में भी यमदेव के प्रभावशाली अस्तित्व का पता चलता है। महाभारत उपनिषद तथा अन्य ब्राह्मण ग्रंथों के आधार पर यम को मृत्यु का देवता स्वीकार किया जाता है तथा उनका वाहन भैंसा माना गया है। समराइच्च कहा में यम को भगवान कृतान्त[५] के नाम से सम्बोधित किया गया है।

अथर्ववेद के पाप मोचन सूक्त में भी यम देव का उल्लेख प्राप्त होता है।[६] विष्णुधर्मोत्तर में भी यम देव का उल्लेख प्राप्त होता है जिससे विदित होता है कि यम की भी पूजा अर्चा लोग अपनी रुचि से करते थे (यहाँ रुच का अर्थ रुचि अर्थात इच्छा से लगाया जाता है)।[७] रामायण में यम को चारों लोकपाल देवों (इन्द्र यम, वरुण और कुबेर) के अंतर्गत रखा गया है जिन्हें

---

१ निशीथ चूर्णी १९।६०६८।

२ वृहत्कल्प भाष्य ११।८५६-५९।

३ कल्पसूत्र २।२६।

४ वही १।१३।

५ सम० क० ६ पृ० ५२१।

६ अथर्ववेद ११।६।१ २३ (पाप मोचन सूक्त) देखिए—अंगविज्जा-देवता विजय अध्याय ५१ पृ० २०४-६।

७ वासुदेवशरण अग्रवाल—प्राचीन भारतीय लोकधर्म पृ० ८९।

क्रमश पूरब दक्षिण, पश्चिम और उत्तर का अधिपति देव बताया गया है।[1] महाभारत में भी अन्य देवताओं की भाँति यम का दक्षिण दिशा का दिक्पाल बताया गया है।[2] प्राचीन भारत में इन्द्र ब्रह्मा वरुण आदि देवों के साथ यमन्त्व की भी पूजा का विधान था।[3] भगवद्गीता में इन्द्र, यम सूर्य, अग्नि आदि देवताओं को विष्णु का ही रूप माना गया है।[4] इस प्रकार प्राचीन ब्राह्मण प्रथा में यम का मृत्यु का देव तथा कहीं दिक्पाल (दिशा का संरक्षक देव) बताया गया है।

समराइच्च कहा में यद्यपि यमदेव के स्वरूप आदि का उल्लेख नहीं है, फिर भी अजन्ता में यम देव को अन्य दिक्पालों के साथ भैंसे पर सवार हुआ चित्रित किया गया है।[5]

दिक्पाल

हरिभद्र कालीन समाज में दिक्पाल[6] के अस्तित्व में भी विश्वास किया जाता था। इन्हें दिशाओं का पालक अर्थात् दिशाओं की रक्षा करने वाला देव समझा जाता था। यज्ञ आदि सत्कर्मों में दिक्पाल की पूजा का विधान था।[7] इन्हें मंदिरों के अगले भाग में चारों कोनों पर स्थापित किया जाता था। उनके स्थान इस प्रकार थे—दक्षिण-पूर्व में इन्द्र और अग्नि दक्षिण-पश्चिम में यम और निरात, उत्तर-पश्चिम में वरुण और वायु और उत्तर-पूर्व में कुबेर और ईशान देव, मुख्यतया इनके चार भुजाएँ थीं लेकिन कभी-कभी दो भुजाएँ ही दिखलाई गयी हैं।[8] चारों दिशाओं के संरक्षक देव के रूप में इनको मान्यता प्राप्त थी।

पौराणिक आख्यानों से भी पता चलता है कि इन दिक्पालों में इन्द्र पूर्व के यम दक्षिण के, वरुण पश्चिम के और कुबेर उत्तर के अधिपति देव माने जाते थे। इसी प्रकार अग्नि निरात वायु और ईशान क्रमशः दक्षिण पूर्व, दक्षिण पश्चिम, उत्तर पश्चिम और उत्तर-पूर्व के संरक्षक देव माने जाते थे।[9]

१ जे० एन० बनर्जी—डेवेलपमेंट आफ हिन्दू आइकनोग्राफी, पृ० ५२०।
२ महाभारत ८ ४५ ३१।
३ पा० वा० काणे—धर्मशास्त्र का इतिहास भाग १, पृ० ४०६।
४ भगवद्गीता अध्याय १० श्लोक २१।
५ जे० एन० बनर्जी—डेवलपमेंट आफ हिन्दू आइकनोग्राफी, पृ० ४८५।
६ सम० क० ६ पृ० ६०१।
७ जे० एन० बनर्जी—डेवलपमेंट आफ हिन्दू आइकनोग्राफी पृ० २०७ ८।
८ विद्या प्रकाश—खजुराहो पृ० १४१।
९ जे० एन० बनर्जी—डेवलपमेंट आफ हिन्दू आइकनोग्राफी, पृ० ५१९ २०।

रामायण में चार ही लोकपालों (दिकपाल) के नाम आये हैं—इन्द्र, यम वरुण और कुबेर जो क्रमशः पूर्व दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशा के अधीक्षक देव माने जाते थे।[1] किन्तु महाभारत में अग्नि को पूर्व का यम को दक्षिण का वरुण को पश्चिम और भागवत सोम को उत्तर का अधीक्षक देव बताया गया है।[2]

अजन्ता के चित्रों में ब्रह्मा विष्णु और शिव के साथ ऊपर की तरफ दिकपालों को अपने अपने वाहनों के साथ दिखाया गया है, यथा—वरुण मकर के ऊपर इन्द्र हाथी पर, अग्नि दुम्बा (एक प्रकार की मछली) पर, यम भैंसे पर, वायु बारहसिंगा (एक प्रकार का हिरन) के ऊपर[3]। समराइच्च कहा में यद्यपि दिक्पालों के नाम और उनसे सबन्धित दिशाओं का उल्लेख नहीं है फिर भी अन्य प्रमाणों से ज्ञात होता है कि उन्हें अपनी अपनी दिशाओं का संरक्षक देव समझा जाता था।

किन्नर

समराइच्च कहा में किन्नरों का उल्लेख कई बार किया गया है।[4] इनके क्रियाकलाप सर्व-साधारण लोगो से कुछ भिन्न होते थे। गन्धर्वों की भाँति ये भी संगीत के प्रेमी होते थे।[5] प्राकृत ग्रथ अगविज्जा में भी किन्नर किन्नरी को देवताओं की श्रेणी में गिनाया गया है।[6] प्राचीन भारतीय लोक धर्म के अन्तर्गत किन्नरों के अस्तित्व में विश्वास किया जाता था।[7]

किन्नर का अर्थ बुरा या विकृत पुरुष कहा गया है। पुराणों में इसका सिर घोड़े का और शेष शरीर मनुष्य का बताया गया है।[8] मानसार में भी किन्नरों को अश्व मुखवाले पक्षियों के समान वर्णित किया गया है।[9] इससे स्पष्ट होता है कि किन्नर का स्वरूप मनुष्यों से भिन्न कुछ विकृत ढंग का होता

१ जे० एन० बनर्जी—डेवेल्पमेन्ट आफ हिन्दू आइकनाग्राफी, पृ० ५२०।
२ महाभारत ८, ४५, ३१।
३ जे० एन० बनर्जी—डेवेल्पमेन्ट आफ हिन्दू आइकनाग्राफी, प० ४८५।
४ सम० क० ६ प० ५४७ ७ प० ६८५, ९ पृ० ८८२ ९६०, ९६२।
५ वही ५, पृ० ४५१।
६ अगविज्जा-देवता विजय अध्याय ५१, पृ० २०४–६।
७ वासुदेवशरण अग्रवाल—प्राचीन भारतीय लोकधर्म पृ० ११९।
८ देखिए—वामन शिवराम आप्टे—संस्कृत हिन्दी कोश, पृ० २७५।
९ मानसार अध्याय ७।

था जिसके कारण इन्हें विकृत पुरुष गया है।[1] कालिदास ने भी किन्नरों का उल्लेख अपने ग्रंथों में किया है।[2] बाणभट्ट ने कादम्बरी में किन्नर मिथुन का उल्लेख किया है।[3] किन्नरों का स्वरूप हमें देवगढ़ (मध्य भारत में स्थित झाँसी जिले के ललितपुर तहसील में) से प्राप्त मूर्ति में देखने को मिलता है। किन्नर मिथुन एक लम्बे पेड़ के नीचे खण्ड के अन्दर बने सुन्दर वृत्त में एक दूसरे के आमने सामने खड़े दिखाई देते हैं। उनके ऊपर का भाग मनुष्य का है जो पंख से जुड़ा है घुटने के नीचे वाला भाग भी मनुष्य जैसा है, किन्तु पाँव पक्षी का है तथा गरुड की भाँति आश्चर्यजनक आँखें हैं।[4]

मानसार अध्याय ५८ में गन्धर्व और किन्नर को एक साथ समान रूप से वर्णित किया गया है[5] उसी ग्रंथ के अध्याय आठ में किन्नरों की समरूपता अश्वमुखी यक्षिणी से की गयी है। अतः स्पष्ट होता है कि गन्धर्व, किन्नर और यक्ष के स्वरूप में कुछ समरूपता थी। ये देवता विकृत स्वरूप के होते थे और कहीं गरुडमुखी (किन्नर और गन्धर्व) तो कहीं अश्वमुखी (किन्नरी तथा यक्षिणी) चित्रित किये गये हैं।

किन्नर रूप से तो विकृत होते ही थे स्वभाव से भी बुरे होते थे। बौद्ध ग्रन्थों में आया है कि किन्नर अपनी दैवी शक्ति के द्वारा पशु और विरक्त बनकर मनुष्य की आकृति धारण कर राजमहलों के पास रहा करते थे और महल की सुन्दर रानियों के साथ बुरा व्यवहार करते थे।[6]

सम्भवतः समय के परिवर्तन के साथ किन्नर जो कि आज कल अपने को गर्व से किन्नौर कहते हैं आर्यों के आक्रमण के परिणाम स्वरूप पहाड़ियों पर ऊँचाई की तरफ बढ़ने के लिए मजबूर हुए होंगे और धीरे धीरे आधुनिक किन्नौर वाले क्षेत्र में अपना अधिकार जमा लिए होंगे। आज भी वहाँ नब्बे प्रतिशत हिन्दू रहते हैं जो अधिकतर देवनागरी लिपि तथा विभिन्न रूपों में किन्नौरी भाषा का प्रयोग करते हैं।

---

१ आप्टे—संस्कृत हिन्दी कोश, पृ० २७५ 'किम (कु + डिमु बा०) बुराई ह्रास दोष कलंक और निंदा के भाव को प्रकट करने के लिए यह शब्द के आदि में कु के स्थान पर प्रयुक्त होता है यथा—किसखा, किन्नर—नरो या विकृत पुरुष आदि।

२ रघु० ४।७८ कुमारसभव १।१४।

३ कादम्बरी—अनुच्छेद १२४।

४ जे० यन० बनर्जी—डवलपमेंट आफ हिन्दू आइकनोग्राफी पृ० ३५३।

५ मानसार अध्याय ५८ देखिए—गन्धर्व सूची।

६ आर० यन० मेहता—प्री बुद्धिस्ट इंडिया, प० ११९।

यक्ष

समराइच्च कहा में अन्य देवताओं की भाँति यक्ष देव का भी महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था।[1] समराइच्च कहा में संतान प्राप्ति की कामना से यक्षदेव की पूजा का उल्लेख है।[2] यक्ष देव का इतिहास अति प्राचीन जान पड़ता है। मोतीचन्द के अनुसार कुछ विद्वानों के विचार में यह कल्पना की जाती है कि यक्ष और नाग उत्तर भारत में आर्यों के आगमन के पूर्व दस्युओं द्वारा उर्वरता और वर्षा के देव के रूप में पूजे जाते थे।[3] कुमार स्वामी ने अपना मत प्रतिपादित करते हुए बताया है कि यक्ष अपने सरंक्षक देव की महत्ता को खोकर क्रमशः प्रवत्ति के देवों में गिने जाने लगे जो कि धार्मिक ग्रन्थों की ईर्ष्या से प्रभावित जान पड़ते है।[4]

कुमार स्वामी ने वेद और उपनिषद् ग्रन्थों का उद्धरण देते हुए यक्षों के विषय में दो विचार धाराएँ प्रतिपादित की हैं—प्रथम भय और अविश्वास जो कि प्राकृतिक था क्योंकि आर्य लोग अनार्यों के देवताओं में विश्वास नहीं करते थे। दूसरा विचार यक्षों के विषय में उनके प्रति उच्च सम्मान था जिसका उल्लेख अथर्ववेद और उपनिषद् में पाया जाता है। उन्हीं के अनुसार वनस्पति और जल को वैदिक काल में जीवन का प्रतीक माना गया है जिसका सम्बन्ध यक्ष देव से रहा क्योंकि यक्ष सर्वप्रथम वनस्पतियों के देव समझे जाते थे जो जीवन रस और जल का प्रतीक है।[5]

यक्ष का उल्लेख वेद उपनिषद ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर किया गया है। अथर्ववेद में वरुण अथवा प्रजापति को पानी पर विश्राम करते हुए यक्ष के रूप में चित्रित किया गया है।[6] इसी ग्रन्थ में एक अन्य स्थान पर एक ब्रह्म नामक यक्ष को शरीर में प्रवेश करने वाला बताया गया है।[7] इस

---

१ सम० क० ३ पृ० १७४ ५ पृ० ४०२ ६ पृ० ५१० ५४७।

२ वही ४ पृ० २८८ २३५—अन्नयावच्चचित्ता समप्पज्जई। तओ तनय म्मनिहियस्स धणदत्ताभिहाण जक्खस्स महापूय काऊण कय उवाइयमणेहि।

३ मोतीचन्द—सम ऐस्पेक्ट्स आफ यक्ष कल्ट इन ऐंसियन्ट इण्डिया पृ० २४५-प्राम-प्रूर्य फ्रिसिडेन्स वाल्यूम।

४ कुमार स्वामी—यक्षाज १ पृ० ४।

५ दक्षिण—मोतीचन्द—सम ऐस्पेक्टस आफ यक्ष कल्ट इन ऐंसियन्ट इण्डिया प्राम—प्रूर्य फ्रिसिडेन्स वाल्यूम।

६ अथर्ववेद १०।७।३८।

७ वही १०।२।२८—३३।

बात का समर्थन हमें महाभारत से भी प्राप्त होता है।[१] वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार वीर ब्रह्म के रूप में यक्ष की पूजा आधुनिक काल में भी बंगाल से गुजरात तक और हिमालय से कन्या कुमारी तक प्रचलित है।[२]

आर० एन० मेहता ने जातक कथाओं के आधार पर यह विचार प्रतिपादित किया है कि इन कथाओं में यक्षों की दयालुता का भाव समाप्त सा दिखाई देने लगा और वे भयानक रूप में चित्रित किये गये। वे मनुष्य एवं जानवरों की माँस पर तथा प्रेत की तरह रेगिस्तान, जंगल, वृक्ष एवं जलों में रहते हुए दिखाए गये हैं।[३] एक जैन ग्रंथ आवश्यक चूर्णी में उल्लिखित है कि आडम्बर नामक एक यक्ष का आयतन हाथी में भरे हुए हड्डियों के आयतन पर बनाया जाता था।[४] निशीथ चूर्णी के उल्लेख से पता चलता है कि यक्ष प्रसन्न होने पर लाभ तथा अप्रसन्न होने पर हानि भी पहुँचाते थे।[५] जैन सूत्रों में इन्द्रग्रह, धनुग्रह, स्कन्दग्रह और भूतग्रह के साथ साथ यक्षग्रह का भी उल्लेख प्राप्त होता है।[६]

मोतीचन्द के अनुसार बौद्ध, जैन और ब्राह्मण साहित्य में यक्ष को प्रथम तो दयालु (सच्चरित्र) और दुष्ट दोनों रूपों में चित्रित किया गया है। दूसरे उनको पूजे जाने का निश्चित स्थान भी बताया गया है जहाँ पूजा द्वारा लोग उन्हें प्रसन्न किया करते थे। तीसरे वे लोगों पर छा जाते थे और उनके प्रश्नों का उत्तर देते थे।[७] समराइच्च कहा में धनदेव यक्ष का नाम आया है जिसका एक आयतन था जहाँ लोग सन्तान, धन-वैभव आदि प्राप्त करने के लिए पूजा करते थे। इसी ग्रंथ के चतुर्थ भव में धन और धनश्री की कथा कही गयी है। धन का जन्म धनदेव यक्ष की मनौती पर ही हुआ था जिसके कारण उसके माता पिता ने अपने पुत्र का धन (धनदेव यक्ष के नाम पर) ही रखा था। मोतीचन्द ने भी विस्तृत विवरण के साथ समराइच्च कहा के समर्थन में बताया है कि यक्ष भविष्य द्रष्टा के रूप में माने जाते थे तथा अपने भक्तों को सन्तान

१ महाभारत—शांति पर्व १७१।५२।
२ वासुदेवशरण अग्रवाल—प्राचीन भारतीय लोक धर्म, पृ० ११८।
३ आर० एन० मेहता—प्री बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० ३२४।
४ आवश्यक चूर्णी २ पृ० २२७।
५ निशीथ चूर्णी २ पृ० ३०८ ३ पृ० ४१६।
६ जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र २४, पृ० १२०।
७ मोतीचन्द— सम ऐस्पेक्टस आफ यक्ष कल्ट इन ऐंसियन्ट इंडिया', पृ० २४९ फ्राम 'धूर्ये फेलिसिटेशन वाल्यूम।

धन-वभव एव यश प्रदान करते थे। वे उन लोगों को हानि पहुँचाते थे जो उनके वृक्ष को नुकसान पहुँचाते थे जिसमें उनका वास होता किन्तु वे पुष्प, मालाओं तथा बलि द्वारा पूजे जाने पर प्रसन्न भी होते थे।[1]

विद्याधर

समराइच्च कहा में विद्याधरों का उल्लेख कई बार किया गया ह[2]। तत्कालीन समाज में विद्याधर लोग श्रमणत्व की सिद्धि[3] के साथ साथ यज्ञ-हवन आदि के द्वारा मन्त्र सिद्धि किया करते थे। सिद्धि से प्राप्त अलौकिक शक्ति के द्वारा व सवसाधारण को प्रभावित किया करते थे[4]। इन्ही सिद्धियों के कारण इन्हें देवताओं की श्रेणी में गिना जाता था। किसी महत्त्वपूर्ण काय के अवसर पर ये मुक्तहस्त म पुष्प-वर्षा भी करते थ[5]। समराइच्च कहा में विद्याधरों के अपने नगर का उल्लेख ह। उनके स्वामी को विद्याधरों का राजा कहा गया है[6]। एक अन्य जन ग्रन्थ अगविज्जा में भी विद्याधर को देवताओं की श्रेणी में गिनाया गया ह[7]। रघुवश में राजा दिलीप के त्याग और भक्ति के ऊपर प्रसन्न होकर विद्याधरों द्वारा उनके ऊपर पुष्प वृष्टि किये जाने का उल्लेख ह।[8]

कथासरित्सागर में विद्याधरों का उल्लेख कई बार किया गया ह। समराइच्च कहा की ही भाँति इस ग्रन्थ में भी विद्याधरों के राजा[9] तथा उनकी सन्य शक्ति[10] का उल्लेख ह जिसके बल पर वे नगर में शासन करते थ। कथा

---

१ मोतीचन्द—सम ऐस्पक्ट आफ यक्ष इन ऐंसियन्ट इंडिया पृ० २४७—'घूर्ये फेलिसिटेशन वाल्यूम स।

२ सम० क० १, पृ० ५६, २ पृ० १०७ १०९ पृ० ३६७ ४१२, ४१९ ४३८ ४३९, ४४१, ४२-४३ ४४८, ४५३-५४-५५-५६-४६३ ६ पृ० ५००, ५०४, ५४५, ५५८ ५६३ ७ पृ० ६११, ६४८, ६६६, ६८१, ६८२, ८ पृ० ७३६-३७-७४९ ७८०, ९, पृ० ९३९।

३ वही १ पृ० ५६।

४ वही ५ प० ४६८-६९, ८, पृ० ७७५।

५ वही ७ पृ० ६०७।

६ वही ५ पृ० ३६७ ४५६, ६, पृ० ५५८, ७ पृ० ६४८।

७ अगविज्जा-देवता विजय—अध्याय ५१ प० २०४-६, तथा देखिए—अध्याय ५८।

८ रघुवश २।६०— तस्मि क्षणे पालयितु प्रजानामुत्पश्यत सिंहनिपातमुग्रम।
अवाङ्मुखस्यापरि पुष्पवृष्टि पपात विद्याधर हस्तमुक्ता॥

९ यन० यम० पिंजर—नोटस आन टानीज आसन आफ स्टोरी, ५, पृ० १।

१० वही ४, प० १०।

सरित्सागर की व्याख्या करते हुए पिंजर का विचार है कि प्राचीन भारत में कुछ लोग जादुई शक्ति प्राप्त करने के लिए सन्यस्त जीवन बिताते थे जिस शक्ति को प्राप्त कर लेने पर उसका प्रयोग अच्छे अथवा बुरे उद्देश्यों के लिए करते थे।[1] उन्हीं के विचारों में ऐसी शक्ति अथवा विद्या (जिसे विज्ञान अथवा कला भी कहा जा सकता है) को प्राप्त कर लेनेवाले लोग विद्याधर कहे जाने लगे।[2] इस बात का समर्थन हमें समराइच्चकहा से भी होता है जहाँ हम यह पाते हैं कि विद्या की सिद्धि (हवन, पूजन आदि के द्वारा) प्राप्त कर लेने पर साधारण मानव भी सम्पूर्ण कलाओं को जीत लेता था। विद्याधर का साधारण अर्थ भी विद्या को धारण करने वाला है। अतः स्पष्ट होता है कि ये लोग पहले मानव थे, किन्तु हवन तन्त्र मन्त्र आदि के सहारे विशिष्ट विद्या (कला अथवा विज्ञान) को प्राप्त कर लेने पर विद्याधर कहलाये जाने लगे।

गन्धर्व

विद्याधरों की भाँति गन्धर्व भी प्राचीन भारतीय देवताओं की श्रेणी में गिने जाते थे। समराइच्चकहा में गन्धर्वों को सामान्य लोगों से कुछ भिन्न बताया गया है।[3] ये लोग भी तन्त्र मन्त्र की सिद्धि करते तथा संगीत एवं वाद्य में रुचि रखते थे। गन्धर्व सुन्दरियों द्वारा मधुर संगीत के आयोजन का उल्लेख है।[4] सम्भवतः ये गान्धार देश के निवासी[5] थे जो प्रारम्भ में मानव थे किन्तु कालान्तर में अर्ध दैविक लोगों के रूप में कल्पित किये जाने लगे। अंगविज्जा नामक जैन ग्रन्थ में भी देवताओं की सूची में गन्धर्व का उल्लेख है।[6]

अथर्ववेद के पापमोचन सूक्त में भी गन्धर्व को देवताओं की श्रेणी में गिनाया गया है।[7] वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार भूत, पिशाच, किन्नर राक्षस गन्धर्व यातुधान किम्पुरुष नाग यक्ष दानव आदि प्राचीन लौकिक देवता की श्रेणी में गिने जाते थे।[8] भगवद्गीता में विष्णु रवि मरीचि चन्द्र

---

१ नोट्स आन टानीज आसन आफ स्टोरी ४ पृ० ४६।
२ वही ४ पृ० ४६।
३ सम० क० ४ पृ० २४८ ३३६ ६, पृ० ५४५ ५४८।
४ वही ६ पृ० ५४५।
५ वही ५, पृ० ४५८ ५९।
६ अंगविज्जा—भवना विजय अध्याय ५१ पृ० २०४ ६।
७ अथर्ववेद—पापमोचन सूक्त ११।६।११ २३।
८ वासुदेवशरण अग्रवाल—प्राचीन भारतीय लोकधर्म पृ० ११९।

इन्द्र, रुद्र, अग्नि आदि के साथ साथ गन्धर्व को देवता की श्रेणी में गिनाया गया है तथा इन सब को भगवान् की विभूति या नाना रूप कहा गया है।[1]

महाभारत में एक स्थान पर गन्धर्व द्वारा उत्सव में सम्मिलित होने का उल्लेख है।[2] रामायण और महाभारत में चित्ररथ को गन्धर्वों का राजा बताया गया है।[3] याज्ञवल्क्य स्मृति में गन्धर्व के सुन्दर स्वर का उल्लेख है।[4] कुछ विद्वानों के अनुसार गन्धर्व और किन्नर अर्ध दैविक चरित्र वाले काल्पनिक जन थे जिनका प्राधान भारतीय धार्मिक साहित्य और कला में कम महत्व है।[5]

यद्यपि समराइच्च कहा में गन्धर्वों के स्वरूप का उल्लेख नहीं है फिर भी अन्य स्थान पर इनके स्वरूप का पता चलता है। मानसार में उल्लिखित है कि गन्धर्व और किन्नर दोनों के पैर जानवर जैसे थे ऊपर का भाग मानव जैसा किन्तु मुख गरुड जैसा था। उनकी भुजाएँ पंख में जुडी हुई थी, वे कमल का ताज धारण किये थे और मधुर संगीत तथा वाद्यों से संयुक्त होते थे।[6]

गन्धर्व स्वरूप से सुन्दर थे वे ताज धारण करते कानों में आभूषण पहनते, समारोह में भाग लेते और वीणा बजाते थे।[7] मध्य भारत (भरहुत साँची) के प्राचीन बौद्ध स्मारकों में गन्धर्व का नीचे का भाग चिड़िया जैसा दिखाया गया है। उनके हाथ पंख में लगे हुए हैं किन्तु सिर तथा धड़ मानव जैसा है। वे सिर पर ताज तथा कानों में कुण्डल धारण किये हुए दिखाए गये हैं।[8] अजन्ता के चित्रों में गन्धर्वों को जोड़े का समानरूप में, किन्तु हाथों में वीणा बजाते हुए चित्रित किया गया है।[9]

समराइच्च कहा तथा अन्य साक्ष्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि गन्धर्व अर्ध-लौकिक देवता थे जो संगीत वाद्य नृत्य के शौकीन होते थे। वे लोग महत्वपूर्ण समारोहों में भाग लेते और अपने मधुर संगीत से लोगों को प्रभावित करते रहते थे।

---

१ भगवद्गीता—अध्याय १०, श्लोक २६।

२ महाभारत—आदि पर्व २१२ पृ० ६७।

३ जे० यन० बनर्जी—डेवेल्पमेंट आफ हिन्दू आइकनाग्राफी, पृ०३५१, देखिए—*विष्णु धर्मोत्तर सूत्र ३ २२१, ७।*

४ याज्ञ० १।७१—'साम शौच दत्तावासा गन्धर्वश्च शुभा गिरम्।'

५ जे० यन० बनर्जी—डेवेल्पमेन्ट आफ हिन्दू आइकनोग्राफी, पृ० ३५१।

६ मानसार अध्याय ५८ पृ० ५७०।

७ हेमाद्रिव्रत खण्ड, प० १३९।

८ जे० यन० बनर्जी—डेवेल्पमेंट आफ हिन्दू आइकनाग्राफी, प० ३५२।

९ वही पृ० ३५२।

वानमन्तर

हरिभद्र ने समराइच्च कहा में इस प्रत्यक्ष देव को कभी वानमन्तर[1] और कभी व्यन्तर सुर[2] कह कर सम्बोधित किया ह । सम्भवत ये दोनों नाम एक ही देवता का सम्बोधित करते ह । तन्त्र मन्त्र की सिद्धि द्वारा इन्हें भी कुछ अलौकिक शक्ति प्राप्त थी जिसका वे कभी कभी दुरुपयोग भी करते थे ।[3] भगवान जिनके सत्कार में इन देवताओं को विशिष्टता प्राप्त थी ।[4] निशीथ चर्णी में भी वानमन्तर देव[5] का उल्लेख किया गया ह जिन्हें यन गुह्यक आदि की श्रेणी में गिना जाता था । अनेक अवसरों पर वानमन्तर देव को प्रसन्न करनेके लिए सुबह दोपहर और सध्या के समय पटह बजाया जाता था ।[6] वृहत्कल्प भाष्य म वानमन्तर देव की पूजा का उल्लेख किया गया ह ।[7]

नया मकान बनकर तयार हाने पर वानमतरा की पूजा की जाती था ।[8] वानमतरिया में सालेज्जा भगवान् महावीर की भक्त थी ।[9]

समराइच्च कहा तथा अन्य ग्रन्था में वानमतर देव के स्वरूप का पता नही चलता ह किन्तु स्वभावत ये लोग कुछ दुष्ट प्रकृति के होत थ । कभी कभी अपनी अलौकिक शक्ति का दुरुपयाग भी करते थे जिसके कारण लोग इनकी पूजा किया करते थे ।

क्षेत्र देवता

समराइच्च कहा में इन्हें स्थान विशेष का प्रभावशाली देव बताया गया ह जा अपने क्षेत्र के अन्तगत किसी अनतिक काय को नही होने देते थे ।[10] उत्तराध्ययन सूत्र और अभिधान चिन्तामणि आदि म चार दवताओ (ज्यातिष विमानवासी भवनपति और व्यन्तर देव) के साथ जिन देवताओ का उल्लेख

---

१ सम० क० ६ प० ५९२, ८ प० ७३७ ।

२ वही १, पृ० १०, ५६ ३, पृ० १७२, ८ प० ७८७ ।

३ वही ८, पृ० ७३७ ।

४ वही ८ पृ० ७८७ ।

५ निशीथ चूर्णी १ पृ० ८९, ४० प० १३ ।

६ दशवकालिक चूर्णी पृ० ४८ ।

७ वृहत्कल्पभाष्य ४।४९६३ ।

८ वही ३।४७६९ ।

९ आवश्यक चूर्णी पृ० २९४ ।

१० सम० क० ७ प० ६२१ ६८८ ७२८ ८ पृ० ७३७ ।

आया ह—उनमें विद्यादेवी (सरस्वती) श्री (लक्ष्मी), गणेश तथा क्षेत्रपाल देव का भी उल्लेख किया गया ह ।[१]

क्षेत्रदेव की मान्यता एव प्रभाव अपन क्षेत्र (कुछ सीमा के अन्दर) के अ तगत ही था । सम्भवत ये स्थानीय देव के रूप में जाने जाते थे जिनकी तुलना क्षेत्र पाल (क्षेत्र की रक्षा करने वाला देव)[२] से की जा सकती ह ।

भवनवासी देव

हरिभद्र के काल में भवनवासी[3] दव के अस्तित्व म विश्वास किया जाता था। सम्भवत यह गृह देव के रूप म जाने जाते थे तथा गृह की सुख सम्मृद्धि के लिए इ ह पूजा जाता था। भगवान् जिन के स्वागत समारोह में भी अ य देवताओ के साथ साथ भवनवासी दव की भूमिका थी ।[४] उत्तराध्ययन सूत्र तथा अभिधान चि तामणि आदि ग थों में भवनवासी देव को भवनपति बताया गया ह ।[५]

ज्योतिष्क देव

भवनवासी दव की भाँति ज्योतिष्क[६] देव की भी अधिमा यता थी । भगवान जिन के स्वागत समारोह म अ य देवताओ क साथ ज्योतिष्क देव का भी स्थान महत्वपूण समझा जाता था । अन्य जन ग्र थों में इ ह ज्योतिषि देव कहा गया[७] ह कि तु उनके स्वरूप का पता नही चलता ह ।

वन-देवता

हरिभद्र ने अ य देवी-देवताओ के साथ वन-देवता[८] की लौकिक शक्ति की तरफ सकेत किया है । जगल के अधिपति देव को वन देवता के रूप में स्वीकार किया जाता था । वन-देवता को जगल में रहन वाले जीव जन्तुओं का कल्याण कारी समझ कर उनकी व दना किये जाने का उल्लेख है ।[९] वहृतकल्प भाष्य

---

१ जे० यन० बनर्जी—डेवेलपमेंट आफ हिन्दू आइक्नाग्राफी, पृ० ५६१ ।

२ दखिए—आप्टे—सस्कृत हि दी का ।

३ सम० क० ८, पृ० ७८७ ।

४ वही ८ पृ० ७८७ ।

५ जे० यन० बनर्जी—डेवलपमेंट आफ हिन्दू आइक्नोग्राफी प० ५६१ ।

६ सम० क० ८, पृ० ७८७ ।

७ जे० यन० बनर्जी—डेवेलपमेंट आफ हिन्दू आइक्नाग्रापी, पृ० ५६१ ।

८ सम० क० ५, पृ० ४२०, ७, पृ० ६६२–६६३ ।

९ वही ७ प० ६६२ ।

में भी वन देवता का उल्लेख प्राप्त होता है।[1] रामायण के उल्लेख से भी पता चलता है कि जब हनुमान जी सीता की खोज में लंका पहुँचे तो सीता को देखकर पहले यह समझे कि यह नंदन वन की देवता है।[2] डा० मेहता ने जातक कथाओं के आधार पर यहां तक सिद्ध किया है कि प्राचीन काल के लोगों में यह भावना प्रचलित थी वृक्षों में भी दैवी-आत्मा का वास होता है। परिणामतः सन्तान, धन-वैभव एवं सम्पन्नता के लिए वृक्षों को देवता की भांति पूजा जाने लगा।[3] उनकी पूजा के लिए लोग पुष्प, मालाएँ और यहाँ तक कि जीव-बलि भी देते थे।[4] काणे ने भी धर्मशास्त्रों के आधार पर वृक्ष का दैवी माहात्म्य बताते हुए वृक्षारोपण को पवित्र कृत्य बताया है।[5] वासुदेवशरण अग्रवाल ने 'वृक्ष मह' के सन्दर्भ में बताया है कि प्राचीन काल में वृक्ष-पूजा के पीछे आदिम मानव के मन की सहज प्रवृत्ति रही होगी जिसके कारण उसका वृक्षों की तरफ खिंचाव हुआ और उसने उन्हें देव भाव से पूज्य माना[6]। इस प्रकार वृक्ष-पूजा की मान्यता से यह स्पष्ट हो जाती है कि प्राचीन काल के लोग वृक्षों के समूह उद्यान एवं वन में भी दैवी शक्ति मानने लगे। परिणामतः वन-देवता की भी अधिमान्यता प्रारम्भ हुई। अतः गृह देवता, कुल-देवता नगर देवता और क्षेत्र-देवता की भांति वन-देवता को भी अपने क्षेत्र के अन्तर्गत स्थित देव माना जाने लगा तथा उसकी शक्ति में विश्वास कर अरण्यों में आपत्ति के समय सुरक्षा के लिए उनका आह्वान किया जाने लगा।

कुल-देवता

समराइच्च कहा में कुल देवता का भी उल्लेख कई स्थानों पर किया गया है।[7] हर परिवार के लोग अपने तथा परिवार के कल्याण के लिए कुल क्रमागत देव का हवन पूजन करते थे। पूजा के साथ-साथ अपने मनोनुकूल कार्यों की सिद्धि के लिए उन्हें जीव बलि भी दी जाती थी।[8] किन्तु बृहत्कल्पभाष्य में आया है जब कभी गलगंड अथवा महामारी से लोग मरने लगते, शत्रु के सैनिक

---

१ बृहत् कल्पभाष्य १।३१८।
२ रामायण—सुन्दरकाण्ड ३०।२— अवेक्षमाणस्ता देवीं देवतामिव नंदने।
३ आर० एन० मेहता—प्री बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० ३२६।
४ वही पृ० ३२६।
५ पी० वी० काणे—धर्मशास्त्र का इतिहास भाग १, पृ० ४७३–७५।
६ वासुदेवशरण अग्रवाल—प्राचीन भारतीय लोकधर्म, पृ० ७६।
७ सम० क० ४, पृ० २९८ ३०३, ६, पृ० ५१५।
८ वही ६ पृ० ५१५।

नगर के चारों तरफ घेरा डाल देते, भुखमरी फैल जाती तो पुरवासी आचार्य (पूजा-पाठ करने वाले) के पास जाते और रक्षा के लिए प्रार्थना करते थे। आचार्य अशिव आदि की शांति के लिए एक पुतला बनाते तत्पश्चात मंत्र-पाठ द्वारा उसका छेदन कर कुल देव को प्रसन्न करते थे। इस प्रकार कुल देवता की शांति पर उपद्रव भी शांत हो जाता था।[1] किन्तु यहाँ के कुल देव को समरा इच्च कहा में उल्लिखित कुल देवता से भिन्न बताया गया है। अंगविज्जा में भी देवताओं की सूची में कुल देवता का उल्लेख है[2] किन्तु उनके स्वरूप आदि पर प्रकाश नहीं डाला गया है।

काणे के अनुसार प्राचीन काल में इन्द्र, यम वरुण ब्रह्मा आदि के साथ घरलू देवता (कुल देवता) को प्रसन्न रखने के लिए बलि (पक्वान्न का अंश आदि) दी जाती थी।[3] कुमार सम्भव में भी कुल देवता का उल्लेख है, यहाँ पार्वती जी द्वारा उन्हें प्रणाम किये जाने की बात कही गयी है।[4]

साधु-सन्यासी (श्रमण धर्म)

भारतीय समाज के रंग मंच पर विभिन्न धर्मावलम्बियों द्वारा जन मानस में अपने-अपने धर्म के प्रचार, प्रसार एवं प्रभाव को स्थायित्व प्रदान करने का प्रयास किया गया। परिणामत भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति भी उनसे प्रभावित हुए बिना न रही। कहीं वैदिक धर्म का तो कहीं जैन और बौद्ध धर्म का और कहीं मुसलमान धर्म का तो कहीं ईसाई धर्म का प्रभाव दृष्टिगोचर होता रहा है। ऐतिहासिक परिवर्तनों के साथ ही समय समय पर धार्मिक परिवर्तन का रूप यत्र तत्र परिलक्षित होता रहा है।

धार्मिक परिवर्तन एवं परिवर्धन के परिवेश में हरिभद्र कालीन समाज में हम मुख्यतया वैदिक धर्म बौद्ध धर्म तथा जैन धर्म का स्पष्ट चित्रावलोकन करते हैं। तत्कालीन समाज के विभिन्न धार्मिक धाराओं के बीच भारतीय संस्कृति मुख्यतया जैन बौद्ध एवं वैदिक धर्म से प्रभावित थी जिनके क्रिया कलाप समराइच्च कहा में स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं।

प्राचीन काल से ही जैन धर्म के प्रवर्तकों तथा तीर्थंकरों द्वारा समाज में अपने धर्म के प्रचार प्रसार एवं परिवर्धन का प्रयास किया जाता रहा है। समय

---

१ वृहत्कल्पभाष्य ४ ५११२ १३ तथा ५११६।

२ अंगविज्जा अध्याय ५८।

३ पी० वी० काणे—धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १ पृ० ४०६।

४ कुमारसम्भव ७।२७— तामर्चिताभ्य कुलदेवताभ्य कुलप्रतिष्ठा प्रणम्य माता।'

समय पर इस धम में कुछ सुधार भी किये गये तथा जन समूह के कल्याणाथ नियम, सयम तथा व्रत आदि के विधानों का प्रतिपादन कर इस धम का प्रचार किया गया। परिणामत भारतीय सस्कृति क परिवतन में इस धम का योगदान आज भी परिलक्षित होता ह। इस धम का मुख्य ल्क्ष्य शुभ आचरण परिणाम से सम्पूण कममल से मुक्ति पाना और तत्पश्चात केवल नान के प्रभाव से सिद्धि सुख अथात मोक्ष की प्राप्ति करना बताया गया ह।[१] जिस सिद्धि अथवा परम-पद का प्राप्त होकर जीव को इस ससार में जन्म जरा मरण आदि दुखों से मुक्ति मिल जाती ह।[२] जन धम क अनुसार सम्यक दशन सम्यक ज्ञान, और सम्यक चरित्र ये तीनों मिल कर उस मोक्ष माग का निर्माण करते ह[३] जिस पर चलने से जीव और पुद्गल अततोगत्वा अलग-अलग हो जात ह। पुद्गल से सवथा मुक्त जीव ही शुद्ध आत्मा ह सिद्ध ह एव परमात्मा ह।[४] अत हरिभद्र काल में भी श्रमणत्व का पालन परम पद का साधक तथा सुख का सार माना जाता था।[५]

श्रमणत्व-कारण

समराइच्च कहा में जन परपरा क अनुसार सासारिक क्लेश (जन्म-जरा मरण रोग शोक-सयोग और वियोग) के कारण ही सम्पूण दुखो के मोचक श्रमणत्व को ग्रहण करन का उल्लेख ह।[६] अर्थात सासारिक दुखों स छुटकारा पाकर परम पद (मोक्ष) की प्राप्ति का मुख्य साधन श्रमणाचरण ही माना जाता था। नारक तियक मनुष्य और देवादि के द्वारा कुछ न कुछ पाप होता ह और पाप स हो सभी दुख गृहीत होते ह तथा जब व्यक्ति यह सोचता ह कि किन कारणों स मेरी उत्पत्ति हुई ह और मुझ कहाँ जाना ह तो वही विचार (तक वितक) श्रमणत्व का कारण बन जाता ह।[७] अत दुखों का कारण और

१ सम० क० ४ पृ० ३३४ ६ पृ० ४९८ ७ पृ० ७२० ७२३, ८ पृ० ८३१, ९ पृ० ९५३।

२ सम० क० ४, पृ० ३२८ ३४९ ७ पृ० ६२७ ८, पृ० ७८०, ९, ८७१ पृ० ९१७।

३ तत्त्वाथ सूत्र १।१ (सम्यकदशन ज्ञान चरित्राणि मोक्ष माग)।

४ मोहनलाल मेहता— जन दशन पृ० ३१।

५ सम० क० ५ पृ० ४७९ ९ पृ० ९१७ ९४८।

६ वही ४ पृ० ३३७, ७ पृ० ७१०, ९ पृ० ९२६।

७ वही १ पृ० ४७, २, पृ० १०२।

दुख स छुटकारा पाने का उपाय ही श्रमणत्व आचरण का कारण बताया गया है।

प्रव्रज्या

समराइच्चकहा में जन सम्प्रदाय की मायता के अनुसार कमतरु को काट कर सभी प्रकार के बन्धनों स छुटकारा पाने क लिए प्रव्रज्यारूपी महाकुठार परलोक में सहायक बताया गया ह।[1] शुभ परिणाम योग से प्रव्रज्या ग्रहण करना तथा चरित्र पालन करते हुए आगम विधि से देह-त्याग कर सुरलोक की प्राप्ति में विश्वास किया जाता था।[2] सवसाधारण स लेकर मध्यम श्रणी के लोग तिथिकरण मुहूत एव शुभ शकुन की वेला में प्रवचन के बाद पत्नी आदि के सहित प्रव्रज्या ग्रहण करते थे।[3] किन्तु राजा महाराजा एव धनी सम्पन्न घरानों के लोग प्रव्रज्या ग्रहण करते समय प्रशस्त तिथि करण महूत में पूजा महादान अष्टाहिका महिमा आदि के द्वारा माता पिता भाई पत्नी तथा परिजना के साथ प्रव्रज्या ग्रहण करते थे।[4] दीक्षा के पूव भगवान् महावीर के शरीर पर चन्दन आदि का विलेपन किया गया था जिससे उनपर चार माह से भी अधिक समय तक स्थान-स्थान पर नाना प्रकार के जीव-जन्तुओं का आक्रमण हता रहा।[5] प्रव्रज्या ग्रहण करने के पूव लाग माता पिता अथवा परिवार क अन्य लोगों की राय ले लिया करते थ।[6] उत्तम जाति तथा गुण वाले व्यक्तियों के लिए महा प्रव्रज्या भी ग्रहण करन का विधान था।[7]

समराइच्च कहा की ही भाति उत्तराध्ययन में प्रव्रज्या ग्रहण करन का कारण जीवन की क्षणभगुरता तथा दुख बताया गया ह।[8] कमफल सभी को

---

१ सम० क० १, प० ५६ २ प० १२७ ४, पृ० २४६ ३४३ ३५०, ६ प० ५७४ ५१०, ५९३, ७ पृ० ६२३ ७२४–२५, ८, पृ० ८११–१२।

२ वही ३ प० २८१ ७ प० ७१२–१३।

३ वही ३ प० २२२, ५ ४८७, ६ पृ० ५७५, ७२६, ८ पृ० ८४५।

४ वही १, प० ६८–६९ ४, पृ० २९८ ३५३, ५, प० ४७५, ४८७–८८, ६, प० ५९३, ७, पृ० ६१८ ६२९, ६९४–९५ ८ प० ८३७ ९, पृ० ९३६–३७।

५ मोहनलाल मेहता— जैनाचार', पृ० १५३।

६ सम० क० ५ प० ४८५।

७ वही ६, पृ० ५८८।

८ उत्तराध्ययन १४।७।

था।[१] गृहस्थाश्रम में रहते हुए श्रावक के लिए अणु (छोटे) व्रतों के पालन का विधान था।[२] जन परम्परा के अनुसार ये अणुव्रत पाँच प्रकार के माने गये ह यथा—स्थूल प्राणातिपात विरमण, स्थूल मृषावाद विरमण स्थूल अदत्तादान विरमण स्वदार सतोप तथा इच्छा परिमाण।[३] श्रावका के आचार का प्रतिपादन सूत्रकृताग[४] उपासक दशाग[५] आदि आगम ग्रन्थों में बारह व्रतों के आधार पर किया गया ह। इन बारह व्रता में क्रमश पाँच अणुव्रत और शेष सात शिक्षा व्रत ह। तीन गुण व्रतों और चार शिक्षाव्रतों का ही सामूहिक नाम शिक्षा व्रत ह।

उत्तर गुणव्रत

समराइच्च कहा में उल्लिखित ह कि श्रावक अतिचारो से दूर रहता हुआ निम्नलिखित उत्तर गुणा को स्वीकार करता ह। उर्ध्वादिगुणव्रत, अधादिग्गुणव्रत, तियक आदि गुणव्रत भागापभाग परिणाम लक्षण गुणव्रत उपभोग और परिभोग का कारण स्वर और कम का त्याग, बुरे ध्यान से आचरित विरति गुणव्रत प्रमाद स आचरित विरति गुणव्रत, पापकर्मोपदेश लक्षण विरतिगुणव्रत, अनय दण्ड विरति गुणव्रत, सावद्ययोग का परिवजन और निवद्ययाग का प्रतिसेवन रूप सामयिक शिक्षाव्रत और दिकव्रत से ग्रहण किया हुआ दिशा के परिणाम का प्रति दिन प्रमाण करण, देशावकाशिक शिक्षाव्रत आहार और शरीर के सत्कार स रहित ब्रह्मचयव्रत का सवन व्यापार रहित पौषध शिक्षाव्रत का सेवन तथा न्यायपूवक अर्जित एव कल्पनीय अन्न-पान आदि द्रव्या का देश-काल श्रद्धा सत्कार से युक्त तथा परमभक्ति से आत्म शुद्धि के लिए साधुओ को दान और अतिथि विभाग शिक्षाव्रत आदि सभी उत्तर गुण के रूप में स्वीकार किये गये ह।[६]

---

१ सम० क० ७, प० ६१८।

२ वही ३ प० २२८ ५ पृ० ४७३, ४८०, ८, पृ० ८१२ १३, ९, प० ९५३।

३ कैलाशचन्द्र शास्त्री–जन धम, प० १८४–१९५ हीरालाल जन–भारतीय सस्कृति में जन धम का योगदान, प० २५५ से २६० मोहनलाल मेहता–जनाचार पृ० ८६–१०४।

४ सूत्रकृताग श्रुत २ अ० २३, सूक्त ३ (—*सील वय गुणविरमण पच्च क्खाणपोसहोववासेहिं अप्पाण भावे माणा एव चरण विहरइ*)।

५ उपासक दशाग अध्याय १ सूक्त १२ सूक्त ५८ (—पचाणुव्वतिय सत्तसिक्खावईय दुवालसविह गिहिधम्म)।

६ सम० क० १, पृ० ६२।

उपासक दशाग में श्रावका को पाच अणुव्रत और सात शिक्षा व्रता का नाम गिनाया गया ह।[१] यहाँ तीन गुणव्रतों और चार शिक्षाव्रतों को ही सामूहिक रूप से शिक्षाव्रत कहा गया है।

समराइच्च कहा में श्रावकाचार के अन्तगत पाँच अणुव्रता के साथ-साथ तीन गुण व्रतों का भी उल्लेख प्राप्त होता है।[२] इन्हें गुणव्रत इसलिए कहा गया है कि इनसे अणुव्रत रूप मूल गुणों की रक्षा तथा विकास होता ह। धार्मिक क्रियाओं में ही दिन व्यतीत करना पोषधोपवास व्रत कहलाता ह। इसे गृहस्थ का यथाशक्ति प्रत्येक पक्ष की अष्टमी चतुदशी को करना चाहिए जिसम उसे भूख-प्यास आदि पर विजय प्राप्त हो। चौथे अपने गृह पर आये हुए मुनि आदि को दान देना आतिथि सविभाग व्रत ह।

श्रावक-अतिचार

समराच्च कहा में गृहस्थ श्रावकों के लिए कुछ अतिचारा का गिनाया गया ह जिनका पालन करना उनके लिए आवश्यक माना जाता था। सासारिक भ्रमण अथवा सासारिक दुखों के कारणभूत अतिचार इस प्रकार ह—बन्ध वध, किसी अग का काटना, जानवरा पर अधिक बाझ लादना किसी को भोजन-पानी में बाधा डालना, सभा में किसी की निन्दा करना या किसी की गुप्त बात का प्रकट करना, अपनी पत्नी की बात दूसरों से कहना, अथवा किसी का झूठा उपदेश देना जाली लेख लिखना अथवा चोरी स लायी हुई वस्तु खरीदना या चोरा से किसी का धन चुरवा लेना, राज्य क कानूनों को भग करना, नकली तराजू बाट रखना, न्यूनाधिक तालना या इस प्रकार के अन्य व्यवहार, व्यभिचारिणा स्त्री से सम्पक स्थापित करना या अविवाहिता स्त्री स ससग करना, काम क्रीडा, दूसरे का विवाह करना काम की तीव्र अभिलाषा, क्षेत्र और वस्तु की सीमा का उल्लघन, द्विपद या चतुष्पद क प्रमाण का उल्लघन, मणि आदि क प्रमाणा का उल्लघन या इस प्रकार क अन्य काय एव पदाथ जो ससार में भ्रमण क निमित्त ह।[3]

श्रावक के पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत तथा चार शिक्षाव्रत इन सभी क क पाच-पाँच अतिचार ह।[४]

---

१ उपासक दशाग अध्याय १, सूक्त १२, सूक्त ५८ (—पचाणुव्वतिय सत्त सिक्खावइय दुवालसविह गिहिधम्म—)।

२ सम० क० १, पृ० ५७, देखिए—हीरालाल जन—भारतीय सस्कृति में जन धम का मागदान, पृ० २६१ ६२, मोहनलाल मेहता—जनाचार, पृ० १०४५।

३ सम० क० १ पृ० ६१ ६२।

४ मोहनलाल मेहता—जन आचार, पृ० ८९ से १२४।

स्थूल अहिंसा अथवा स्थूल प्राणातिपात विरमण के पाँच मुख्य अतिचार हैं—बध, बध छविच्छेद (किसी भी प्राणी को अंगोपांग काटना), अतिभार तथा अन्न पान निरोध, स्थूल मृषावाद विरमण के अन्तर्गत—सहसा अभ्याख्यान, रहस्य अभ्याख्यान, स्वदार अथवा स्वपति मन्त्रभेद, मृषा उपदेश तथा कूट लेख करण (झूठा लेख तथा लेखा जोखा लिखना लिखवाना) स्थूल अदत्तादान विरमण के अन्तर्गत स्तेनाहृत (चोरी का माल लेना) तस्कर प्रयोग राज्यादि विरुद्ध कर्म कूट तौल कूट माप तथा तत्प्रतिरूपक व्यवहार (वस्तुओं में मिलावट करना), स्वदार संतोष के अन्तर्गत इत्वरिक परिगृहीता गमन (इत्वर का अर्थ अल्पकाल से लगाया गया है अर्थात अल्पकाल के लिए स्वीकार की हुई स्त्री के साथ काम भोग का सेवन करना) अपरिगृहीता गमन (अपने लिए अस्वीकृत स्त्री के साथ काम भोग का सेवन) अनंग क्रीडा पर विवाहकरण तथा काम भोग की तीव्राभिलाषा इच्छा परिमाण के अन्तर्गत—क्षेत्र वस्तु परिमाण अतिक्रमण हिरण्य सुवर्ण परिमाण अतिक्रमण धन धान्य परिमाण अतिक्रमण, द्विपद चतुष्पद परिमाण अतिक्रमण तथा कुप्य परिमाण अतिक्रमण आदि अतिचार गिनाए गये हैं। इसी प्रकार गुण व्रतों में दिशा परिमाण के अतिचार—ऊर्ध्व दिशा परिमाण अतिक्रमण अधोदिशा परिमाण अतिक्रमण तिर्यग्दिशा परिमाण अतिक्रमण, क्षेत्रवृद्धि, स्मृत्यन्तर्धा (विस्मृति के कारण छूट गया हो अथवा कोई वस्तु प्राप्त हुई हो तो उसका भी परित्याग करना) उपभोग परिभोग परिमाण के अन्तर्गत—सचित्ताहार सचित्त प्रतिबद्धाहार, अपक्वाहार दुष्पक्वाहार तथा तुच्छौषधि भक्षण अनर्थदण्ड विरमण के अन्तर्गत कन्दर्प (विकार वर्धक वचन बोलना या सुनना) कौत्कुच्य (विकार वर्धक चेष्टा करना या देखना) मौखर्य (असम्बद्ध एवं अनावश्यक वचन बोलना), संयुक्ताधिकरण (जिन उपकरणों के संयोग से हिंसा की सम्भावना बढ जाती है) और उपभोग परिभोगातिरिक्त (आवश्यकता से अधिक उपभोग एवं परिभोग की सामग्री का संग्रह) आदि अतिचार गिनाये गये हैं। शिक्षाव्रत के अन्तर्गत गिनाये गये अतिचारों में सामयिक शिक्षाव्रत के मनोदुष्प्रणिधान वाग्दुष्प्रणिधान, कायदुष्प्रणिधान, स्मृत्यकरण, अनवस्थितकरण (समय पूरा हुए बिना ही सामायिक पूरी कर लेना) देशावकाशिक के अन्तर्गत आनयन प्रयोग (मर्यादित क्षेत्र के बाहर की वस्तु लाना या मँगवाना), प्रेषण प्रयोग (मर्यादित क्षेत्र से बाहर वस्तु भेजना तथा ले जाना आदि), शब्दानुपात (किसी को निर्धारित क्षेत्र से बाहर खडा देख कर शब्द संकेतों से बुलाने का चेष्टा करना), रूपानुपात (सीमित क्षेत्र के बाहर के लोगों का हाथ, मुँह, सिर आदि का संकेत देकर बुलाना) और पुद्गल प्रक्षेप (मर्यादित क्षेत्र से बाहर के व्यक्ति को अपना अभिप्राय जताने के

लिए कागज, कंकण आदि फेंक कर जताना), पौषधोपवास के अन्तर्गत अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित शय्यासंस्तारक (मकान और बिछौना का निरीक्षण ठीक ढंग से न करना), अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित शय्यासंस्तारक (बिना झाड़े पोंछे बिस्तर आदि काम में लाना), अप्रतिलेखित दुष्प्रतिलेखित उच्चारप्रस्रवण भूमि (मल मूत्र की भूमि का बिना देखे उपयोग करना) और पौषधोपवास सम्यगअनुपालनता (आत्मपोषक तत्वों का भलीभाँति सेवन न करना) अतिथिसंविभाग के अन्तर्गत सचित्तनिक्षेप (कपटपूर्वक साधु को देने योग्य आहार आदि को सचेतन वनस्पति आदि पर रखना) सचित्तपिधान (आहार आदि को सचित्त वस्तु से ढँकना) कालातिक्रम परव्यपदेश (न देने की भावना से अपनी वस्तु को पराई कहना अथवा पराई वस्तु देकर अपना उचा लेना आदि) और मात्सर्य (श्रद्धापूर्वक दान न देते हुए दूसरे के दान गुण की ईर्ष्या से दान देना) आदि अतिचार गिनाये गये हैं जिनका पालन करना श्रावकों के लिए अति आवश्यक बताया गया है।

ऊपर समराइच्च कहा में उल्लिखित अतिचारों को जैनाचार के अनुसार पाँचों अणुव्रतों के अन्तर्गत ही रखा जा सकता है। बन्ध वध, किसी अंग का काटना जानवरों पर अधिक बोझ लादना तथा किसी का भोजन पानी में बाधा पहुँचाना आदि अतिचार स्थूल अहिंसा अथवा स्थूल प्राणातिपात विरमण के अन्तर्गत गिनाए गए हैं। इसी प्रकार सभा में किसी की निन्दा करना, किसी की गुप्त बात को प्रकट करना अपनी पत्नी की बात दूसरों से कहना किसी को झूठा उपदेश देना तथा जाली लेख लिखना आदि स्थूलमृषावाद के अन्तर्गत चोरी से लाई हुई वस्तु को खरीदना चोरों से किसी का धन चुरवा लेना राज्य के कानून को भंग करना नकली तराजू बाट रखना, न्यूनाधिक तौलना या इस प्रकार के अन्य व्यवहार को स्थूल अदत्तादान विरमण के अन्तर्गत व्याभिचारिणी स्त्री के साथ सम्पर्क स्थापित करना अविवाहिता स्त्री से संसर्ग करना काम क्रीडा, दूसरे का विवाह करना तथा काम की तीव्र अभिलाषा आदि स्वदार संतोष के अन्तर्गत, क्षेत्र और वस्तु की सीमा का उल्लंघन द्विपद या चतुष्पद के प्रमाण का उल्लंघन और मणि आदि के प्रमाणों का उल्लंघन आदि अतिचार इच्छा परिमाणव्रत के अन्तर्गत गिनाए गये हैं। यहाँ समराइच्च कहा में केवल पाँचों अणुव्रतों के ही अतिचारों को गिनाया गया है जब कि जैनाचार में पाँचों अणुव्रतों के साथ साथ तीन गुणव्रत तथा चार शिक्षाव्रत के भी पाँच-पाँच अतिचारों की व्याख्या दी गयी है।

श्रमणत्व-आचरण

प्रव्रज्या ग्रहण करने के पश्चात् श्रमणचर्या के लिए कुछ नियम-संयम तथा

व्रन आदि आचरणा का पालन करना पडता था। समराइच्च कहा में श्रमणा के आचरण सम्बन्धी कुछ नियमो का उल्लेख ह्। ये आचरित नियम हं—शत्रु मित्र का समानभाव से देखना प्रमाद से झूठा भाषण न देना अदत्त वजना, मन वचन और शरीर स ब्रह्मचयव्रत का पालन करना वस्त्र पात्र आदि म प्रेम न रखना रात्रि में भोजन न करना विशुद्ध पिण्ड ग्रहण सयाजन आदि पच दाप रहित मित काल भोजन ग्रहण, पच समित्व त्रिगुप्तता ईर्या समित्यादि भावना अनशन, प्रायश्चित विनय आदि से बाह्य तथा आभ्यतर तपविधान मासादिक अनक प्रतिमा, विचित्र द्रव्य आदि का ग्रहण स्नान न करना, भूमि शयन कश लाच निष्प्रति-कम शरीरता सवदा गुरु निर्देश पालन भूख-प्यास आदि की सहनशक्ति, दिव्यादि उत्सग विजय लब्ध अलब्ध वृत्तिता आदि।[1] अत मन, वचन और शरीर मे अहिंसा तथा मन-वचन और शरीर से ब्रह्मचय का पालन करत हुए ध्यान एव अध्ययन म रत रहने का विधान था।[2]

श्रमणा क योग्य व्रता की साधना कर्मों क क्षय रूप निजरा कराने वाली ह्। तप साधना ही निजरा क लिए विशेषरूप स उपयोगी मानी गयी ह जिनके मुख्यतया दो भेद माने गये ह्—बाह्य और आभ्यन्तर। अनशन अव मौन्य वृत्ति परिसख्यान रस परित्याग विविक्त शय्यासन एव कायक्लेश ये छ प्रकार के बाह्य तप ह्। आभ्यतर तप भी छ प्रकार के बताये गये ह्—प्राय श्चित विनय वयावृत्त स्वाध्याय, व्युत्सग और ध्यान।[3]

समराइच्च कहा की भाँति भगवती सूत्र में भी श्रमणा क लिए दा प्रकार के तप बाह्य और आभ्यन्तर गिनाये गये ह्।[4] बाह्य तप के अन्तगत अनसन, अवमोदरिका (अवमोदय) भिक्षाचर्या रसत्याग (दूध, घी आदि का त्याग) कायक्लेश प्रतिसलीनता ये छ प्रकार के तप गिनाये गये हं तथा आभ्यन्तर तप क अन्तगत प्रायश्चित विनय वयावृत्त, स्वाध्याय ध्यान और व्युत्सग आदि नाम गिनाये गये ह्।

अत स्पष्ट हाता ह् कि श्रावकों क आचरण स भिन्न श्रमणों के लिए विहित तपश्चर्या क अन्तगत बाह्य और आभ्यन्तर ये दो प्रकार के तप माने गये ह् जिनके भेद प्रभेदा स बारह प्रकार क तप कहे गये ह्। इन दो प्रकार के तपों क अलावा दशवकालिक सूत्र में श्रमणा के लिए हिंसा असत्य भाषण, चोर

१ सम० क० १ पृ० ६६ ६७, ३ पृ० १९७ ९८ ६ पृ० ५८५ ८६।
२ सम० क० २ पृ० १४० ४१, ४ पृ० २८८, ८ पृ० ७८० ७९०।
३ हीरालाल जन—भारतीय सस्कृति में जन धम का यागदान, पृ० २७१।
४ भगवती सूत्र २५।७।८०२।

कम सभोग, सम्पत्ति रात्रिभोजन गिति'गरीरो-जीवोत्पीडन, वानस्पतिक जीवो त्पीडन, जगमजीवोत्पीडन, वर्जितवस्तु गृहस्थ के पात्रों में भोजन पयक प्रयोग, स्नान और अलकार आदि वर्जित बताये गये हैं।[1] इसी प्रकार उत्तराध्ययन सूत्र में भी उल्लाग निषेध, सयम, परनिन्दा निषेध, अनुशासन शीलता लोभ निषेध तथा सत्यभाषण आदि नियमों का उल्लेख ह।[2] ये सभी आचरण सम्बन्धी नियम शुद्ध ज्ञान तथा मोक्ष प्राप्ति में सहायक माने जात थे जो साधारण व्यक्तियों के अभ्यास से परे की बात समझी जाती थी।

श्रमणत्व-आचरण प्रभाव

समराइच्च कहा के अनुसार विमक्त ज्ञान युक्त श्रमण मणि मुक्ता-कचन आदि को तृण के समान मानते थे।[3] धर्माचरण का पालन करते हुए श्रमणत्व से ही अजरता और अमरता की प्राप्ति में विश्वास किया जाता था।[4] तप-सयम[5] आदि का पालन करत हुए ममता आदि दुख मूल का नाश, सभी जीवों में मत्री भाव, पूव-दुष्कृत के प्रति शुद्ध भाव स जुगुप्सा, ज्ञान दशन चरित्र आदि का पालन तथा प्रमाद-वजना का आचरण करते हुए ही परमपद (मोक्ष सुख) की प्राप्ति सभव मानी जाती थी।[6] एकान्त स्थान में स्वाध्याय, याग, तप, सयम आदि के द्वारा सम्यक ज्ञान की प्राप्ति ही श्रमणत्व का सार माना जाता था।[7] चित्त की एकाग्रता तथा याग और सयम में कायोत्सग भी कर डालत थे।[8] अत कभी कभी ध्यान योग के समय ईर्ष्यालु अथवा दुष्टों द्वारा श्रमणों का जिन्दा जला कर मार डालने का भी सकेत मिलता ह किन्तु मर कर भी वे अपना ध्यान नही तोड़ते थे।[9] इस प्रकार स्वाध्याय ध्यान, योग में रत श्रमण क्षमा शील भी होते थे।[10] अत शुद्धाचरण क परिणाम स्वरूप ही नागरिकों द्वारा

---

१ दशवकालिक सूत्र ६।८।
२ उत्तराध्ययन सूत्र ११।५।
३ सम० क० ५, प० ४११ ७, पृ० ६२६।
४ वही ७ पृ० ६७५।
५ वही ६ पृ० ५७०, ९ पृ० ९३७।
६ वही ५, पृ० ४९७, ६, पृ० ५९८, ७ पृ० ७२१।
७ वही ६, पृ० ५७२, ५७७, ५७९।
८ वही ४ प० ३५५ ५६।
९ सम० क० ४ प० ३५४ ५५ ५६।
१० वही ४, प० ३३० ३१।

श्रमणों को सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था।[१] उन्हें कष्ट पहुँचाने वालो को समाज में घृणा की दृष्टि से देखा जाता था तथा उन्हें अपने दुष्कृत्यो के लिए श्रमणों से क्षमा याचना करनी पडती थी।[२]

नायाधम्म कहा में श्रमणों का जीवन तलवार की धार के समान कठिन बताया गया है।[३] वृहत्कल्पभाष्य से पता चलता है कि श्रमण व्रत भग करने की अपेक्षा अग्नि में प्रवेश करना अधिक उपयुक्त समझते थे।[४] अत स्पष्ट होता है कि हरिभद्र के काल में भी सम्यक ज्ञान, सम्यक दर्शन और सम्यक चरित्र का पालन करते हुए श्रमण लोग समाज के शुभचिन्तक समझे जाते थे तथा वे समाज के अन्य लोगो का उपदेश, प्रवचन प्रव्रज्या आदि के द्वारा शुभ कर्म में लगाने का प्रयास करते थे। इन्ही सात्विक कारणो से उन्हें समाज में आदर की दृष्टि से देखा जाता था।

श्रमण विहार

समराइच्च कहा के अनुसार सकल जनोपकारी श्रमण विकार रहित, सकल संगत्यागी, ध्यान योग तथा तप में लीन तथा नियम एव सयम से विहार भी करते थे।[५] श्रमणाचार के अन्तर्गत विहार का अत्यधिक महत्व समझा जाता था। विहार शब्द का तात्पर्य विहरन अर्थात भ्रमण से लगाया जाता था। अत श्रमण तथा श्रमणाचार्य सभी का धर्म प्रचार कर लोगो के दुख को दूर करने वाले जनाचार से अवगत कराना था। श्रमणचार के अन्तर्गत ग्राम में एक रात्रि और नगर में पाच रात्रि अकेले ही विहार करने का विधान था।[६] इस प्रकार की विधि से शिक्षा-दीक्षा द्वारा विहार करते हुए वर्षावास एक ही स्थान पर करते थे।[७] वर्षा ऋतु आ जाने पर अनेक जीव जन्तुओं की उत्पत्ति होती है। अत उस समय विहार करने से अनेक हिंसादि दोषों का भागी बनना पडता था जिसके कारण एक ही स्थान पर वर्षावास का विधान था। उपधान श्रुत में बताया गया है कि महावीर प्रव्रज्या ग्रहण करने के पश्चात विहार (पदयात्रा)

---

१ सम० क० ३ पृ० २२७।
२ वही ६, प० ५७० ७१ ७२।
३ नायाधम्म कहा—१।२८।
४ वहत्कल्पभाष्य—५।४९४९।
५ सम० क० १ प० ४३ ६ प० ५७० ७, पृ० ६२३, ८ पृ० ८४६, ८४८ ८५० ८५७ ९ पृ० ९५९।
६ वही ४ पृ० ३५३ ७ पृ० ७२७।
७ वही १ पृ० ४८४९।

के लिए तुरत चल पड़े।[१] निग्रंथ श्रमण वर्षा ऋतु में एक स्थान पर रहते थे तथा शेष ऋतुओं में पदयात्रा करते हुए स्थान-स्थान पर घूमते रहते थे।[२]

दश प्रकार की शुद्धियों से युक्त मुनि का मोक्षानुगामी बताया गया है, उन दश प्रकार की शुद्धियों में विहारशुद्धि भी एक है।[३] आचारांगसूत्र में विहार करने के सन्दर्भ में बताया गया है कि भिक्षु या भिक्षुणी को जब मालूम हो जाय कि वर्षा ऋतु का आगमन हो गया है एवं वर्षा के कारण विविध प्रकार के जीवों की सृष्टि हो चुकी है तथा मार्गों में अंकुर आदि के कारण गमनागमन दुष्कर हो गया है, तब वह किसी निर्दोष स्थान पर वर्षावास अर्थात् चातुर्मास करके रुक जाय लेकिन जहाँ स्वाध्याय आदि की अनुकूलता न हो वहाँ न रहे।[४] समराइच्च कहा के उल्लेख से पता चलता है कि भिक्षा आदि के लिए गुरु की आज्ञा लेनी पड़ती थी।[५] श्रमणाचार्य भी शिष्यों के साथ मासकल्प विहार करते तथा चैत्या में विश्राम करते थे।[६] मासकल्प विहार के पश्चात् वे अन्यत्र प्रस्थान करते थे।[७]

श्रमण भोजन-वस्त्र

श्रमणाचार के अन्तर्गत भिक्षा वृत्ति से दिन में एक बार ही भोजन करने का विधान था।[८] गोचरी के लिए प्रस्थान करने के पूर्व श्रमणों को आचार्य की आज्ञा लेनी पड़ती थी।[९] कभी-कभी तो उन्हें बिना भिक्षा प्राप्त किये ही वापस लौट आना पड़ता था।[१०] अधिकतर लोग श्रद्धा और भक्ति से श्रमणों को भिक्षा प्रदान करते थे।[११] अतः भिक्षा माँग कर वे (श्रमण) यथा विधि नियमित एवं संयमित भोजन करते थे।

---

१ उपधान श्रुत १ १।
२ मोहनलाल मेहता—जैनाचार पृ० १७६।
३ वही, पृ० ७२।
४ आचारांग सूत्र २ १, ३।
५ सम० क० ६, पृ० ५७१।
६ वही २ पृ० १२०, ३, पृ० १८१, ५, पृ० ४८८ ९, पृ० ९३८।
७ वही ३ पृ० २२४।
८ वही ३, पृ० २२८, ७ पृ० ६७५।
९ वही ४, पृ० ३४०, ३५३, ७, पृ० ६२४।
१० वही ४, पृ० ३५९।
११ वही ८ पृ० ८०७।

श्रमणों को सासारिक वस्तुओं क प्रति मोह से वर्जित किया गया था। कही कही रत्न रूपी गुणा स युक्त श्वेत वस्त्रधारी श्रमणों का भी उल्लेख प्राप्त होता ह।[1] आचाराग में बताया गया ह कि निग्रथ निग्रथियों को अलाबु, काष्ठ व मिट्टी के पात्र रखना अकल्प्य ह, उन्हें बहुमूल्य वस्त्र की तरह बहुमूल्य पात्र भी न रखने का विधान था।[2] आवश्यक सूत्र में मुनि के ग्रहण करने योग्य चौदह प्रकार के पदार्थों का उल्लेख ह यथा—(१) अशन, (२) पान, (३) खादिम (४) स्वादिम (५) वस्त्र (६) पात्र (७) कम्बल (८) पाद-पाछन (९) पीठ (१०) फलक (११) शय्या, (१२) सस्तारक (१३) औषधि और (१४) भोजन।[3] यहाँ समराइच्च कहा में श्वेताम्बर श्रमण सम्प्रदाय का स्पष्ट वणन मिलता ह, जिनको श्वेत वस्त्रधारी बताया गया ह। साथ-साथ आचाराग तथा आवश्यक सूत्र के उल्लेखों से भी स्पष्ट होता ह कि श्रमण अपने पास वस्त्र, भिक्षापात्र, कम्बल, पाद पाछन आदि लिए रहते थे तथा गाचरी (भिक्षा माग कर) द्वारा अपनी जीविका चलाते थे।

श्रमणाचाय

जन श्रमणा के गुरु व आचाय को श्रमणाचाय कहा जाता था। गुरुत्व अर्थात श्रेष्ठ ज्ञान युक्त श्रमण को आचाय के योग्य समझा जाता था। वे तप, ज्ञान योग, सयम से युक्त भूत, भविष्य वतमान के अवधि ज्ञाता होते थे तथा शिष्यों से घिरे रहते थे।[4] व परलोक ज्ञान से युक्त[5] तथा अनेक ज्ञान पिपासु श्रमणो स घिरे हुए क्षमा मादव-आजव मुक्ति-तप सयम, सत्य, शौच तथा ब्रह्मचर्यादि[6] गुणा के अनुगामी होते थे।

समराइच्च कहा में श्रमणाचाय के लिए एक प्रकार के सयम में रत, दो प्रकार के असत ध्यान से रहित त्रिदण्डरहित क्रोध मान माया और लोभ का मदन, पचेन्द्रियो का निग्रह, छ जीव निकायों पर दया करना, सात प्रकार क भय से मुक्त आठ प्रकार के मद स्थान से रहित नौ प्रकार के ब्रह्मचय रा गुप्त, दश प्रकार के धर्मों में स्थिर चित्त एव दशाग का ज्ञान तथा बारह प्रकार क

१ सम० क० ३ पृ० १७० ७, प० ६०९।

२ आचाराग २ १६।

३ मोहनलाल मेहता—जनाचार, पृ० १६५ में उद्धृत।

४ सम० क० १ पृ० १०३, ५, पृ० ३६-६६५, ६, पृ० ५६६, ८, पृ० ७७८।

५ वही १ पृ० ५० ५१।

६ वही २ पृ० १०१, ७ पृ० ७०९ १०।

तपाचरणों का पालन करना आवश्यक बताया गया है।[1] व्यवहार सूत्र में बताया गया है कि जो कम से कम पाँच वर्ष की दीक्षा पर्याय वाला है, श्रमणाचार में कुशल है, प्रवचन में प्रवीण है, यावत दशाश्रुत स्कन्ध, कल्प अर्थात वृहतकल्प एवं व्यवहार सूत्रों का ज्ञाता है उसे आचार्य अथवा उपाध्याय के पद पर प्रतिष्ठित करना कल्प्य है।[2] आठ वर्ष की दीक्षा पर्याय वाला श्रमण यदि आचार कुशल प्रवचन प्रवीण एवं असंक्लिष्टमना है तथा कम से कम स्थानांग व समवायांग सूत्रों का ज्ञाता है उसे आचार्य उपाध्याय, स्थविर, गणी, गणावच्छेदक आदि की पदवी प्रदान की जा सकती है।[3] अतः स्पष्ट होता है कि समराइच्च कहा में उल्लिखित आचार्य श्रमण संघ में अपने आचरण प्रभाव के कारण सबसे श्रेष्ठ समझे जाते थे। उन्हें उपाध्याय स्थविर गणी गणावच्छेदक आदि पदवियों से सम्बोधित किया जाता था। ये अन्य श्रमणों के गुरु होते थे और इनकी आज्ञा का पालना करना आवश्यक समझा जाता था।

आचार्य लोग मानवकल्याण के लिए अपने धर्म का शिक्षा-दीक्षा देते हुए शिष्य मंडली के साथ मास कल्प विहार[4] करते तथा चर्या में आराम करते थे। सर्वसाधारण से लेकर राजा महाराजाओं तक के लोग उनका भव्य स्वागत करते थे।[5]

गणधर

श्रमण परम्परा में अनेक गच्छों के समूह को, कुल अनेक कुलों के समूह को गण तथा अनेक गणों के समुदाय को संघ कहा गया है।[6] गच्छ के विभिन्न वर्गों के साधु-साध्वियों को गच्छाचार्य कुल के नायक को कुलाचार्य तथा गणों के नायक को गणाचार्य अथवा गणधर कहा जाता था। इसी प्रकार अनेक गणों के समुदाय को संघ कहा जाता था जिसका अध्यक्ष संघनायक संघाचार्य अथवा प्रधानाचार्य कहा जाता था। गणधर का मुख्य कार्य अपने गण का सूत्रार्थ देना अर्थात शास्त्र पढाना तथा भ्रमण करते हुए चातुर्मास युक्त साधुओं के साथ धर्मोपदेश देना था।[7]

१ सम० क० ३, पृ० १६६-६७।
२ वही, पृ० २०१ में उद्धृत।
३ मोहनलाल मेहता—जैनाचार पृ० २०१।
४ सम० क० २, पृ० १२० ३ पृ० १८१, ५, पृ० ४८१, ४८८।
५ वही ३, पृ० १६६ ६७ ८, पृ० ७८८ ८९, ९ पृ० ९३८।
६ मोहनलाल मेहता—जैनाचार, पृ० २०१।
७ सम० क० २, पृ० ११८, ७, पृ० ७१९ २०, ७२६।

गण में सम्मिलित होने के लिए साधु की अटूट-श्रद्धा विश्वास, मेधा, नम्रता अपरिग्रह एव बहुश्रुत होना आवश्यक था।[१] पुन कोई साधु छ मास के भीतर अपने गण को बदल भी नही सकता।[२] अगर कोई गण छाडना भी चाहता था तो उसे आचाय से आज्ञा लेनी पडती थी और गण त्याग की आज्ञा तभी मिल सकती थी जबकि वह साधु उच्चतर ज्ञान एक विहार प्रतिमा आदि के लिए प्रयाशी हो।[३] यह गण सघ के प्रति उत्तरदायी था और सम्पूण सघ अर्थात निग्रथ निर्ग्रंथी आदि का उत्तरदायित्व सघाचाय के ऊपर निभर रहता था।

श्राविका

समराइच्च कहा क विवरणों म पता चलता ह कि हरिभद्र क काल में जन धर्मावलम्बियों म पुरुषा की भाति स्त्रिया की भी महत्वपूण भूमिका थी। श्रावकों की भाँति स्त्रिया में भी श्राविका या श्रमणोपासिका (साध्वी) अणुव्रताचरण का पालन करती हुई श्रमणिया की उपासना व वन्दना करती थी।[४] ये श्राविकायें गृहस्थाश्रम में रह कर श्रावका का सा आचरण करती थी।[५]

श्रमणी

जन परपरा में जहाँ श्राविकाए श्रावकों का सा आचरण करती थी, वही श्रमणी भा श्रमणों का सा आचरण करती थी। समराइच्च कहा से पता चलता ह कि *नारी वग भी माता पिता अथवा पति की आज्ञा* लेकर जन धर्माचरण क लिए प्रव्रज्या ग्रहण करती थी।[६] एक विद्याधर श्रमणी ने अनेक साध्वी स्त्रिया तथा पुरुषो को दीक्षित किया था।[७] गणिनी द्वारा भी धम कथा का श्रवण कर नारी वग श्रमणाचार का पालन करन के लिए प्रव्रजित होता था।[८] श्रमणियों के लिए भी वही तप-सयम-व्रत आदि आचार बताए गये ह जा श्रमणों के लिए थे। श्रमणों की भाति श्रमणिया भी विहार तथा गोचरी करती थी।[९]

---

१ स्थानाग पृ० ३५२।
२ समवायाग प० ३९ ४०।
३ स्थानाग टीका—प० ३८१।
४ सम० क० ७ प० ६०९।
५ *मोहनलाल मेहता—जनाचार श्रावकाचार में श्राविका।*
६ सम० क० ४ प० ३४६ ४७।
७ वही २ प० १५५ ५६।
८ वही ८ प० ८३७ ३८ ३९।
९ वही ८, पृ० ८०९।

गणिनी

श्रेष्ठ श्रमणियों को गणिनी कहा जाता था तथा उनसे धर्मकथा को श्रवण कर पुरुष एवं स्त्री वर्ग के लोग शिक्षित एवं प्रव्रजित होते थे।[1] 'धर्म से ही शाश्वत शिव सौख्य की प्राप्ति सम्भव है' इस प्रकार की धर्म कथा सुना कर लोगों को जन धर्माचरण के लिए प्रोत्साहित करती थी।[2] तत्कालीन जन समूह भी गणिनी का सम्मान एवं वन्दना द्वारा नमस्कार पूर्वक अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रत का ग्रहण कर श्रमणत्व का आचरण करता था।[3] गणधर की ही भाँति साध्वी श्रमणियों के गणों की नायिका को ही गणिनी कहा जाता था। पूरे श्रमण संघ में जो स्थान आचार्य का होता था वही स्थान निर्ग्रंथ संघ में प्रवर्तिनी का होता था। उसकी योग्यता भी आचार्य के बराबर थी अर्थात् आठ वर्ष की दीक्षा पर्यायवाली साध्वी आचार कुशल, प्रवचन प्रवीण तथा असंक्लिष्ट चित्त वाली एवं स्थानांग, समवायांग की ज्ञाता होने पर प्रवर्तिनी के पद पर प्रतिष्ठित की जा सकती थी।[4] यहाँ प्रवर्तिनी के सभी प्रकार के गुण-समराइच्च कहा में उल्लिखित गणिनी से मिलते जुलते दिखाई देते हैं। जन ग्रंथों में प्रधान-साध्वी के लिए गणिनी शब्द का भी प्रयोग हुआ है।[5]

तीर्थंकर धर्म चक्रवर्ती

हरिभद्र के अनुसार त्रिदशनाथ भगवान धर्मवरचक्रवर्ती भारत वर्ष में प्रथम धर्मचक्रवर्ती माने जाते हैं।[6] उनसे पहले यहाँ धर्म नाम की कोई वस्तु न थी। अतः प्रथम धर्मचक्रवर्ती आदि तीर्थंकर अर्थात् जगत गुरु त्रैलोक्य बन्धु ने ही विवाहादि क्रिया दान-शील-तप भावना आदि विविध धर्म का प्रवर्तन किया तथा जिन्हें विविध कलाकार शिल्पियों तथा सुरासुर का सम्मान प्राप्त है।[7] भगवान तीर्थंकर ही भारत में प्रथम धर्म संस्थापक माने जाते थे। परिणामतः त्रिभुवन नाथ गुरु को मान्यता प्रदान कर भगवान जिन देव, भवनवासी देव,

---

१ सम० क० ७, पृ० ६१३, ६३०, ७१२ ८, प० ८०७, ८४० ४१।
२ वही ८, पृ० ८०९ १०, ८१३, ८१५ १६ १७ १८ १९।
३ वही ८, ८३७ ३८-३९।
४ मोहनलाल मेहता—जनाचार, पृ० २०७।
५ वही पृ० २०७।
६ सम० क० ९, पृ० ९३९ ४०।
७ वही ९, पृ० ९४३, ९४९ ९५०।

न्यतर सुर तप-सयम युक्त गणधर एव साधु गणा द्वारा पूजे जाते थे।[1] तीर्थंकर भाषित धम को ही शिव सौख्य जनक माना जाता था।[2] पहाड पुर अभिलेख (गुप्त सवत १५९) में जन विहार में तीथकर की पूजा निमित्त भूमि दान का विवरण है जिसकी आय गध, धूप दीप, नवेद्य आदि के लिए व्यय की जाती थी।[3] चाहमान अभिलेख में भी तीथकर शातिनाथ की पूजा क निमित्त आठ द्रम (सिक्क) के दान का वणन ह।[4]

'मोक्ष'

कम राशि के क्षय तथा शुभ परिणाम की वृद्धि स ही केवल नान और तत्पश्चात ज म जरा मरण रोग शाक आदि से रहित हुआ जीव माक्ष पद का अनुगामी माना जाता था।[5] इसी प्रकार समराइच्च कहा में अ य स्थानो पर मोक्ष के विवेचन म बताया गया है कि निर्वाण प्राप्ति स जीव ज म, जरा मरण रोग, शोक, इष्ट वियोग अनिष्ट सयोग भूख, प्यास राग, द्वष क्राध, मान माया लोभ तथा अ य उपद्रवों स रहित सवज्ञ सवदर्शी एव निरुपम सुख सम्पन्न हाकर मोक्ष पद प्राप्त करता ह।[6] तत्त्वाथ सूत्र में मोक्ष क पूव केवल ज्ञान क प्रकट होने के लिए मोहनीय कम क्षय तथा ज्ञानावरणीय, दशनावरणीय और अतराय कम का क्षय हाना आवश्यक बताया गया ह।[7] इसी ग्रथ में आग बताया गया है कि ब ध हेतु के अभाव से और निजरा से कर्मों का अत्यधिक क्षय हाता ह और सम्पूण कर्मों के क्षय को ही मोक्ष कहा गया ह।[8]

भगवती सूत्र में उल्लिखित ह कि सम्यक दृष्टि सम्यक नान और सम्यक चरित्र[9] से ही भाव व्युत्सग (विचारों का त्याग) तथा द्रव्युत्सग[1] (सासारिक पदार्थों का त्याग) द्वारा आत्मा पूणता का प्राप्त हाता ह। एक अ य स्थान पर आया है कि जब आत्मा के सभी कर्मांश समाप्त हो जाते ह तो वह कर्मों से

१ सम० क० ६, पृ० ५७६ ८ पृ० ७८४, ७८६ ७८८ ८९ ९ पृ० ९२७।
२ वही ७, पृ० ६२९, ८, पृ० ८१०।
३ वासुदेव उपाध्याय—प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन पृ० १०३।
४ वही, पृ० १०३।
५ सम० क० १ पृ० ४९ ५०, ७ पृ० ७२० ७२३ ८ पृ० ८५५।
६ वही २, पृ० १५८ ८ पृ० ७८० ९, पृ० ८७१ ९१७।
७ तत्त्वाथ सूत्र १०।१—मोहक्षयाज्ज्ञानदशन वरणा तरायक्षयाच्च केवलम।
८ वही १०।२ ३—'ब ध हेत्व भाव निजराभ्याम। कृत्स्नकमक्षयो मोक्ष।
९ भगवती सूत्र—८।१०।३५५।
१० वही २५।७। ८०३।

छुटकारा पाकर ऊपर मोक्ष पद का अनुगामी होता है।[1] सर्वदर्शन संग्रह में आस्रव (आत्मा में कर्मों का प्रवेश) को संसार भ्रमण का कारण तथा संवर (आत्मा में कर्मों के प्रवेश का क्षय) को मोक्ष का कारण बताया गया है।[2]

अतः जैन विचार धारा के अनुसार जब समुचित साधना से सम्पूर्ण कर्म समाप्त हो जाते हैं और जीव सर्वज्ञता की स्थिति में पहुँच जाता है तब वह मुक्त हो जाता है और मृत्यु के पश्चात् लोकाकाश में पहुँच कर सदा के लिए शान्ति और आनंद की अवस्था में स्थित हो जाता है,[3] अर्थात् जन्म जरा मरण, रोग शोक आदि से मुक्त हो जाता है। इन उल्लेखों से स्पष्ट होता है कि तप, संयम, नियम, व्रत आदि के द्वारा ही भवोपग्राही कर्मों का नाश करके केवल ज्ञान की प्राप्ति और केवल ज्ञान से ही इस भौतिक देह पंजर का त्याग करके परमपद (मोक्ष) को प्राप्त करना ही जैन धर्म का चरम लक्ष्य माना गया है।

वैदिक धर्म

समराइच्च कहा में जैन धर्म का विस्तृत वर्णन किया गया है फिर भी कथा प्रसंग में यत्र तत्र वैदिक धर्म का भी उल्लेख है। उस काल में वैदिक तापस अधिकतर आश्रम बना कर जंगलों में रहते थे।[4] समराइच्च कहा में कुछ तपस्वी जनों का संकेत विन्ध्यारण्यवासी के रूप में मिलता है जो गिरि कन्दराओं में तपस्या करते तथा कन्दमूल आदि खाकर अपनी जीविका चलाते थे।[5] मुनि सेवित धर्म को परलोक का बन्धु माना जाता था।[6] परिणामतः तपोवन का सेवन करने वाले तपस्वी आदर की दृष्टि से देखे जाते थे।[7] एकान्त स्थान में रहकर यज्ञ, हवन, एवं व्रत आदि के द्वारा तप का आचरण करने के कारण ही इन्हें तपोवनवासी कहा गया है।[8] सर्वप्रथम वैदिक कालीन ऋषियों के लिए

---

१ भगवतीसूत्र ७।१।२२५।

२ सर्वदर्शन संग्रह पृ० ३९—'आस्रवो भवहेतुः स्यात् संवरो मोक्ष कारणम्।

३ यम० हिरियन्ना—भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृ० १७४।

४ सम० क० ५ पृ० ४१५, ४१८, ४२२।

५ वही २ पृ० ७९९ ८००।

६ वही १ पृ० ११।

७ वही १, पृ० ३८, २, पृ० ८४ ५ ३९२, ७ पृ० ६६४।

८ वही १ पृ० १२, १४, १६, १७, २३, २४, ४०, ५ पृ० ४२३, ४२४, ४४७ ७, पृ० ६६२, ६६३, ६६४, ६६६।

ऋग्वेद में बखानस शब्द का प्रयोग हुआ है।[१] तैत्तिरीय आरण्यक में वैखानस शब्द का संबंध प्रजापति के नखों से लगाया गया है।[२] मनुस्मृति में वानप्रस्थ[३] तथा परिव्राजक[४] का उल्लेख है तथा दोनों के लिए समान नियम व्यवस्थित किये गये हैं। वानप्रस्थ ही बाद में चल कर संन्यासी हो जाता है तथा दोनों को ब्रह्मचर्य, इंद्रिय निग्रह, भोजन नियम आदि का पालन करना पड़ता था तथा ब्रह्मज्ञान के लिए यत्न करना पड़ता था।[५] वानप्रस्थी अपनी स्त्री को भी साथ में रख सकता था, किन्तु संन्यासी के लिए ऐसा संभव नहीं था। रतिलाल मेहता के अनुसार बौद्ध धर्म के उत्थान के पूर्व ही ब्राह्मण धर्म के अंतर्गत श्रमण और तापस इन दोनों का उल्लेख प्राप्त होता है।[६] इस धर्म के अंतर्गत तपस्वी लोग जंगलों में रहकर तपस्या करते तथा यज्ञ, हवन आदि का विधान करते थे।[७] धर्मसूत्रों में भी समराइच्च कहा की भांति चीर अजिनधारी, ग्राम से बाहर रहने वाले मूल फल आदि खाने वाले और अग्नि में हवन करने वाले वानप्रस्थों का उल्लेख है।[८] आपस्तम्ब धर्मसूत्र में वानप्रस्थों के लिए मूल फल, पर्ण और तृण से आरम्भ कर अप, वायु और आकाश के सहारे जीवित रहने का अभ्यास करना बताया गया है।[९] ये सभी साक्ष्य समराइच्च कहा में उल्लिखित तपस्वी जनों के आचरण तथा रहन-सहन का समर्थन करते हैं।

तपाचरण

समराइच्च कहा के उल्लेख से पता चलता है कि उस समय के वैदिक साधु संन्यासी संध्योपासना करते[१०] तथा कुसुम, समिधा अग्नि में यज्ञ हवन आदि का भी विधान करते थे।[११] ये तपस्वी पद्मासनोपविष्ट, एकाग्रचित्त होकर तथा ध्यान

---

१ पी० वी० काणे—धर्मशास्त्र का इतिहास भाग १ पृ० ४८२।
२ तैत्तिरीय आरण्यक १।२३।
३ मनुस्मृति ६।२५ २९।
४ वही ६।३८, ४३ ४४।
५ पी० वी० काणे—धर्म शास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० ४८९।
६ रतिलाल मेहता—प्री बुद्धिस्ट इंडिया, पृ० ३३७।
७ वही, पृ० ३३७ ३८।
८ वशिष्ठ धर्मसूत्र—अध्याय ८।
९ आपस्तम्ब धर्मसूत्र—२।९।२२।
१० सम० क० ७, पृ० ६६२ ६३, ६४।
११ वही ५ पृ० ४२४ ७, पृ० ६८४ ८५।

लगाकर मन्त्रजाप करते एवं रुद्राक्ष माला घुमाते थे।[१] कभी-कभी नदियों के तट पर स्थित मंडप में भी पूजा-पाठ एवं ध्यान लगाते थे।[२] वैदिक धर्मविरण के अनुसार समराइच्च कहा में साधु संन्यासियों को स्त्री दर्शन तथा अलीक वचन बोलने का निषेध था।[३] इसके साथ-साथ अनाथ एवं दुर्बल जीवों पर दया भाव, शत्रु मित्र में समान भाव तथा मणि-मुक्ता को तृण के समान मानते थे।[४]

समराइच्च कहा में उल्लिखित वैदिक संन्यासियों के तपाचरण का उल्लेख स्मृतियों में भी किया गया है। मनु एवं गौतम स्मृतियों में संन्यासी का ब्रह्मचारी होना बताया गया है और उसे सदैव ध्यान एवं आध्यात्मिक ज्ञान के प्रति भक्ति भाव रखना तथा इन्द्रिय सुख एवं आनन्दप्रद वस्तुओं से दूर रहना उचित बताया गया है।[५] उसे जीवों को कष्ट नहीं देना चाहिए तथा क्रोधी एवं असत्यभाषी नहीं होना चाहिए।[६] मनु एवं याज्ञवल्क्य के अनुसार संन्यासी को प्राणायाम तथा अन्य योगांगों द्वारा मनको पवित्र करना चाहिए।[७] केवल वैदिक मन्त्रों के जप को छोड़ कर उसे साधारणतया मौन व्रत रखना चाहिए।[८] तैत्तिरीय उपनिषद के अनुसार उसे यज्ञ देवों एवं दार्शनिक विचारों से सम्बन्धित वैदिक वार्ता का अध्ययन एवं उच्चारण करना चाहिए।[९] सत्य की अप्रवचना, क्रोधहीनता विनीतता, पवित्रता, अच्छे बुरे का भेद, मन की स्थिरता, मन नियन्त्रण, इन्द्रिय निग्रह तथा आत्मज्ञान आदि गुण स्मृतियों में संन्यासियों के लिए आवश्यक बताये गये हैं।[१०] समराइच्च कहा के समर्थन में स्मृतियों में वानप्रस्थों द्वारा यज्ञ करने के विधान का उल्लेख किया गया है। मनु एवं याज्ञवल्क्य स्मृतियों में उल्लिखित है कि वानप्रस्थों को पूर्णिमा के दिन श्रौत यज्ञ करना चाहिए।[११] एक अन्य स्थान पर मनु ने वानप्रस्थों के लिए अग्नि प्रज्वलित कर आहुति देने की बात कही है।[१२]

१ सम० क० १, पृ० १२ १८।
२ वही १, पृ० ३९।
३ वही ७, पृ० ६६३।
४ वही १, पृ० ३५ ३९।
५ मनु० ६।४१ एवं ४९, गौतम० ३।११।
६ मनु० ६।४०, ४७ ४८, याज्ञवल्क्य० ३।६१ गौतम० ३।२३।
७ मनु० ६।७० ७५, ८१, याज्ञवल्क्य० ३।६२, ६४।
८ मनु० ६।४३, गौतम ३।१६ बौधायन धर्मसूत्र २।१०।७९ आपस्तम्ब धर्म सूत्र २।९।२१।१०।
९ तैत्तिरीय उपनिषद् २।१।
१० मनु० ६।६६, ९२ ९४, याज्ञ० ३।६५ ६६ वशिष्ठ० १०।३०।
११ मनु० ६।४, याज्ञवल्क्य० ३।४५।
१२ मनु० ६।९।

ऋग्वेद में बखानस शब्द का प्रयोग हुआ ह।[१] तत्तिरीय आरण्यक में वैखानस श द का सबध प्रजापति के नखो से लगाया गया ह।[२] मनुस्मृति में वानप्रस्थ[३] तथा परिव्राजक[४] का उल्लेख ह तथा दोनो क लिए समान नियम व्यवस्थित किये गये ह। बानप्रस्थ ही बाद में चल कर स यासी हो जाता ह तथा दोनों को ब्रह्मचय इद्रिय निग्रह, भोजन नियम आदि का पालन करना पडता था तथा ब्रह्मज्ञान के लिए यत्न करना पडता था।[५] वानप्रस्थी अपनी स्त्री का भी साथ में रख सकता था, किन्तु स यासी क लिए ऐसा सभव नही था। रतिलाल महता के अनुसार बौद्ध धम क उत्थान क पूव ही ब्राह्मण धम के अतगत श्रमण और तापस इन दोनों का उल्लेख प्राप्त होता ह।[६] इस धम के अन्तगत तपस्वी लोग जगलो में रहकर तपस्या करते तथा यज्ञ, हवन आदि का विधान करते थे।[७] धमसूत्रो में भी समराइच्च कहा की भाति चीर अजिनधारी, ग्राम स बाहर रहन वाल मूल फल आदि खाने वाले और अग्नि म हवन करन वाल वानप्रस्थो का उल्लेख ह।[८] आपस्तम्ब धमसूत्र म वानप्रस्थी क लिए मूल फल, पण और तण से आरम्भ कर अप, वायु और आकाश के सहारे जीवित रहने का अभ्यास करना बताया गया ह।[९] ये सभी साक्ष्य समराइच्च कहा में उल्लिखित तपस्वी जनों क आचरण तथा रहन सहन का समथन करत ह।

तपाचरण

समराइच्च कहा के उल्लख स पता चलता ह कि उस समय के वदिक साधु स यासी स ध्योपासना करते[१०] तथा कुसुम, समिधा आदि स यज्ञ, हवन आदि का भी विधान करत थे।[११] य तपस्वी पद्मासनापविष्ट, एकाग्रचित्त होकर तथा ध्यान

---

१ पी० वा० काणा—धमशास्त्र का इतिहास भाग १, प० ४८२।
२ तत्तिरीय आरण्यक १।२३।
३ मनुस्मृति ६।२५ २९।
४ वही ६।३८, ८३, ४४।
५ पी० वी० काणा—धम शास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० ४८९।
६ रतिलाल महता—प्री बुद्धिस्ट इडिया पृ० ३३७।
७ वही, पृ० ३३७ ३८।
८ वशिष्ठ धमसूत्र—अध्याय ८।
९ आपस्तम्ब धमसूत्र—२।९।२२।
१० सम० क० ७, पृ० ६६२ ६३, ६४।
११ वही ५ पृ० ४२४ ७ पृ० ६८४ ८५।

लगाकर मत्रजाप करते एव रुद्राक्ष माला घुमाते थे।[१] कभी-कभी नदिया के तट पर स्थित मडप में भी पूजा-पाठ एव ध्यान लगाते थे।[२] वैदिक धर्माचरण के अनुसार समराइच्च कहा में साधु स यासियो को स्त्री दशन तथा अलीक वचन बोलने का निषेध था।[3] इसके साथ-साथ अनाथ एव दुवल जीवा पर दया भाव, शत्रु मित्र म समान भाव तथा मणि-मुक्ता को तृण के समान मानते थे।[४]

समराइच्च कहा में उल्लिखित वदिक स यासियो के तपाचरण का उल्लेख स्मृतियों में भी किया गया ह। मनु एव गौतम स्मृतियो में स यासी का ब्रह्मचारी होना बताया गया ह और उस सदव ध्यान एव आध्यात्मिक ज्ञान के प्रति भक्ति भाव रखना तथा इद्रिय सुख एव आनन्दप्रद वस्तुओ से दूर रहना उचित बताया गया ह।[५] उसे जीवो को कष्ट नही दना चाहिए तथा क्रोधी एव अस त्यभाषी नही होना चाहिए।[६] मनु एव याज्ञवल्क्य के अनुसार स यासी का प्राणायाम तथा अन्य योगागों द्वारा मनको पवित्र करना चाहिए।[७] केवल वदिक मत्रों के जप को छोड कर उसे साधारणतया मौन व्रत रखना चाहिए।[८] तत्ति रीय उपनिषद के अनुसार उसे यज्ञ, देवों एव दाशनिक विचारो से सम्बन्धित वदिक वार्ता का अध्ययन एव उच्चारण करना चाहिए।[९] सत्य की अप्रवचना, क्रोधहीनता विनीतता, पवित्रता, अच्छे बुरे का भेद, मन की स्थिरता, मन नियत्रण, इन्द्रिय निग्रह तथा आत्मज्ञान आदि गुण स्मृतियों में स यासियों क लिए आवश्यक बताये गये ह।[१०] समराइच्च कहा के समथन में स्मृतिया म वान प्रस्थों द्वारा यज्ञ करने के विधान का उल्लेख किया गया ह। मनु एव याज्ञ वल्क्य स्मृतियो में उल्लिखित ह कि वानप्रस्थों को पूर्णिमा के दिन श्रौत यज्ञ करना चाहिए।[११] एक अन्य स्थान पर मनु ने वानप्रस्थो के लिए अग्नि प्रज्वलित कर आहुति देने की बात कही ह।[१२]

१ सम० क० १ पृ० १२ १८।
२ वही १, प० ३९।
३ वही ७, प० ६६३।
४ वही १ पृ० ३५ ३९।
५ मनु० ६।४१ एव ४९, गौतम० ३।११।
६ मनु० ६।४०, ४७ ४८ याज्ञवल्क्य० ३।६१ गौतम० ३।२३।
७ मनु० ६।७० ७५, ८१, याज्ञवल्क्य० ३।६२, ६४।
८ मनु० ६।४३, गौतम ३।१६ बौधायन धमसूत्र २।१०।७९ आपस्तम्ब धम सूत्र २।९।२१।१०।
९ तत्तिरीय उपनिषद् २।१।
१० मनु० ६।६६ ९२ ९४, याज्ञ० ३।६५ ६६ वशिष्ठ० १०।३०।
११ मनु० ६।४, याज्ञवल्क्य० ३।४५।
१२ मनु० ६।९।

तापस

समराइच्च कहा के उल्लेखानुसार ध्यान योग आदि का आचरण करने वाले दयालु स्वभाव के तपोवन वासी ऋषि धन्य समझे जाते थे।[1] तत्कालीन तपाचरण करने वाले वैदिक साधु संन्यासियों की दो श्रेणियाँ थी—प्रथम साधारण तापस तथा दूसरे कुलपति। उत्तम तिथि मुहूर्त में कुलपति द्वारा तपस्वियों को आश्रम में दीक्षित किया जाता था। दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात ये तपस्वी कुलपति की सेवा करते हुए तप व्रत धर्म आदि का आचरण करते थे।[2] अतः वे वनवासी (आश्रम में कुलपति की सेवा करते हुए तपाचरण करने वाले) तापस कहे जाते थे।[3] उन तपोवन का सेवन करने वालों में बालक मुनि[4] तथा मुनिकुमार[5] का भी उल्लेख मिलता है। महाभाष्य में वानप्रस्थ के लिए तपस्वी शब्द का प्रयोग किया गया है जिनका लक्ष्य ही तपाचरण[6] करना था।

काशिकाकार के अनुसार अस्थिचर्मविशिष्ट तापस स्वर्ग प्राप्ति के लिए तप करता है।[7] तप, श्रद्धा, दीक्षा आदि जीवन के अभिन्न अङ्ग थे तथा भोजन पर नियन्त्रण रखना तपस्या के लिए एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग माना जाता था।[8] तपस्वी जनों की तपश्चर्या तथा उनके रहन सहन का उल्लेख धर्मसूत्रों तथा स्मृतियों में किया गया है जिसका विवरण पीछे दिया जा चुका है।

कुलपति

वैदिक तपस्वियों में श्रेष्ठ तथा आश्रम के आचार्य को कुलपति कहा जाता था। ये दश प्रकार के यतिधर्म पालन में निपुण एवं दिव्य ज्ञान युक्त होते थे।[9] वे आश्रम में रहने वाले सभी तपस्वियों के आचार्य व गुरु होते थे।[10] अन्य तपस्वियों से लेकर साधारण गृहस्थ तक के लोग उन्हें वन्दना-पूजा आदि के

---

१ सम० क० १, पृ० ३८ ५ प० ३९२ ७, प० ६६४, ६६७।
२ वही १ पृ० १४।
३ वही १ पृ० १२, १४, १७, २६ ३६–४०।
४ वही १, पृ० ४२–४३।
५ वही १ पृ० १६ ५, पृ० ४२०, ४२२ २३।
६ महाभाष्य—३।१।१५ पृ० ५५।
७ काशिका० ३।१।८८।
८ महाभाष्य २।३।३६, पृ० ३९०।
९ सम० क० ५, पृ० ४१७।
१० वही ५, पृ० ४१५, ४१८, ४२२।

साथ सम्मान प्रदान करते थे।[1] इस प्रकार के कुलपति को ऋषि अथवा महर्षि[2] कहा जाता था जिनकी वाणी अमोघ समझी जाती थी।[3] तपस्वी-जन सम्पूर्ण प्राणि वर्ग की जननी के सदृश व्यवहार करते थे।[4] यहाँ समराइच्च कहा में ऋषि को (आश्रम के आचार्य को) ही कुलपति कहा गया है।

कुलपति का उल्लेख रघुवंश[5] तथा उत्तररामचरित[6] में भी किया गया है। बाणभट्ट ने कादम्बरी में महामुनि अगस्त्य[7] तथा शरीर में भस्म लगाये एवं मस्तक पर त्रिपुण्ड लगाये महर्षि जाबालि[8] का उल्लेख किया है जो अपने आश्रम में रहते हुए अन्य मुनिजनों से सेवित तथा धर्म पालन में निपुण समझे जाते थे। वशिष्ठ धर्मसूत्र में कहा गया है कि मुनिजन सबको अभय प्रदान करते चलते हैं, इसलिए उसे किसी से भय नहीं होता।[9]

तापसी

वैदिक धर्माचरण करने वाले तपस्वियों की भाँति कुलपति के आश्रम में नारी तापसी भी होती थी। वे तापसी पुत्रजीवक माला गले में धारण करती, वल्कल वस्त्र पहनती तथा हाथ में कमण्डलु लिए रहती थी।[10] वे तापसी तपाचरण से कृशगात कन्दमूल फल आदि खाकर अपनी वृत्ति चलाती थी।[11] वे कुलपति की आज्ञानुसार आचरण करती तथा उनकी वन्दना पूजा करती हुई तप-संयम आदि का आचरण करती थी।

समराइच्च कहा के इन उल्लेखों का समर्थन वैदिक परंपरा के ग्रंथों से भी होता है। पतंजलि ने शंकरा नाम की परिव्राजिका का उल्लेख करते हुए कहा है

---

१ वही १ पृ० १६ १७ २१–२२–२३–२४ २६, ३१, ३३ ४१ ५ पृ० ४१४ ४१८, ४४७ ७, पृ० ६६६ ६८९ ६९०।
२ वही १ पृ० १३, ५ पृ० ४३६ ४३८ ६ पृ० ५६६ ९ पृ० ९२० ९२२।
३ वही ४ पृ० २७२ ५ पृ० ४२३।
४ वही ५, पृ० ४३७।
५ रघुवंश १। ५।
६ उत्तररामचरित ३।४८।
७ कादम्बरी, अनुच्छेद १७
८ वही अनुच्छेद ३८।
९ वशिष्ठ धर्मसूत्र २।११।२५।
१० सम० क० ५ पृ० ४१०–११, ४२३–२४।
११ वही ५, पृ० ४२३।

कि कुणखाडव उसे शकरा कहते ह ।[१] वानप्रस्थों में कुमार और कुमारियाँ रहती थी ।[२] कुछ लोग विना गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट हुए सीधे बखानस व्रत ले लते थे। आपस्तम्ब घमसूत्र में इस प्रकार का विधान ह ।[३] इसीलिए अभिनान शाकु तल में दुष्य त शकु तला के विषय में जिज्ञासा करते ह कि क्या वह विवाह हाने तक ही वैखानस व्रत का पालन करेगी अथवा यावज्जीवन ।[४] पाणिनी ने कुमार श्रमणाभि ५ के श्रमणाद्गिण में पठित श्रमण, तापसी, प्रव्रजिता शब्द का उल्लख किया ह जिनका कुमार (कुमारी) शब्द के साथ तत्पुरुष-समास का विधान किया गया ह ।[६] कालिदास ने मालविकाग्निमित्र में पण्डिता कौशिकी का उल्लख स यासी के रूप में किया ह ।[७] इस प्रकार हम दखते ह कि समरा इच्च कहा में हरिभद्र क अनुसार जन श्रमण सघ की भाँति वदिक तपस्वियों के आश्रम में भी स्त्रियो के प्रवेश का जो उल्लेख ह वह वदिक परम्परा का उप युक्त विवरण ह ।

तापस भोजन-वस्त्र

समराइच्च कहा में उल्लिखित तपोवनवासी वल्कल वस्त्र पहनते[८] त्रिपुण्ड भस्म[९] (हवन की राख) लगाते तथा कमण्डलु लिए रहते थे ।[१०] वे क दमूल फलादि[११] खाते तथा मास पारण व्रत रहा करते थ[१२] (मास में एक बार भोजन करने तथा पारण के दिन प्रथम प्रविष्ट घर से ही भोजन मिलन अथवा न मिलने पर वापस लौट आने का विधान था) । पारण अथवा पारणा श द पार' से निकला है जिसका अथ किसी काय अथवा धार्मिक क्रिया विधि को पार करना

---

१ महाभाष्य ३।२।१४ प० २१२ ।
२ अष्टाध्यायी २।१।७० (श्रमणादिगण) ।
३ आपस्तम्ब घमसूत्र २।९।२१।१८, १९ ।
४ अभिनान शाकुतल १।२७ ।
५ अष्टाध्यायी २।१।७० ।
६ वही २।१।७० ।
७ मालविकाग्निमित्र १।१४ ।
८ सम० क० ५ पृ० ४१०, ४२४ ।
९ वही १ पृ० १२ ।
१० वही १, पृ० १२ ५ पृ०, ४१०, ४११ ४२३, २४ ।
११ वही ५ पृ० ४१०–४११, ४२३–२४ ।
१२ वही १ पृ० १४ २५, २९–३१, ३३ ।

अर्थात समाप्त करना है ।[1] विष्णुधर्मोत्तर में उल्लिखित है कि पारणा के साथ ही व्रत का अन्त करना चाहिए और उस समय ब्राह्मण को भोजन कराना चाहिए ।[2] यहां समराइच्च कहा में मासपारणा व्रत का उल्लेख है जो महीने भर का व्रत था जिसका अन्त महीने के अन्त में पारण (भोजन ग्रहण) के साथ समाप्त किया जाता था। कभी-कभी शरीर त्याग के लिए लोग महा-उपवास व्रत का भी पालन करते थे ।[3] धर्मसूत्रों में भी सन्यासियों के भोजन-वस्त्र आदि का उल्लेख है। बौधायन धर्मसूत्र से पता चलता है कि सन्यासी को सिर दाढ़ी तथा शरीर के सभी अङ्गों के बाल बनवा कर तीन दण्डों को एक में जोड़कर, एक वस्त्र खण्ड (जल छानने के लिए कपड़ा) एक कमण्डलु एवं एक भिक्षा-पात्र लेकर जप, ध्यान आदि में संलग्न रहना चाहिए ।[4] स्मृतियों में आया है कि सन्यासी को अपने पास कुछ भी एकत्र नहीं करना चाहिए। उसके पास केवल जीर्ण-शीर्ण परिधान जलपात्र तथा भिक्षा-पात्र होना चाहिए ।[5] महाभाष्य में श्यामाक कण और बेर आदि अकृष्टपच्य अन्न तथा फलादि खाने का उल्लेख है ।[6] वे तापसी चान्द्रायण आदि व्रत का पालन करते थे ।[7] सूत्रकार ने अनुताप को भी तप कहा है। यह मासिक अर्थात मास में पूर्ण होने वाला व्रत था। कादम्बरी के उल्लेख से भी पता चलता है कि साधु लोग उस समय चीर और वल्कल धारण करते त्रिपुण्ड भस्म लगाते तथा रुद्राक्ष माला लिए रहते थे ।[8]

ये सभी साक्ष्य समराइच्च कहा में उल्लिखित तपस्वियों के भोजन-वस्त्र एवं तपाचरण का समर्थन करते हैं जिससे स्पष्ट होता है कि तपस्वीजन आश्रमों एवं जंगलों में रहते, वल्कल पहनते, त्रिपुण्ड भस्म आदि लगाते, कमण्डलु तथा भिक्षा पात्र लिए रहते एवं फल-फूल, भिक्षा आदि पर अपना जीवन निर्वाह करते हुए तपाचरण में लीन रहते थे।

---

१ पी० वी० काणे—हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, वाल्यूम ५ पार्ट १, पृ० १२०।
२ वही पृ० १२०–२१ में उद्धृत।
३ वही १, पृ० ३५ ४०।
४ बौधायन धर्मसूत्र २।१०।११–३०।
५ मनु० ४।४३–४४, गौतम ३।१०, वशिष्ठ० १०।६।
६ महाभाष्य १।४।३ पृ० ३३१।
७ वही ५।१।७२ पृ० ३३७।
८ कादम्बरी, अनुच्छेद १७, ३६ ३७, ३८।

जैन दर्शन

दर्शन शब्द का अर्थ साधारणतया 'दृष्टि' अर्थात् बाह्य चक्षु से लगाया जाता है। किन्तु सर्वसाधारण लोग जहाँ दृष्टि का अर्थ बाह्य चक्षु से लगाते हैं वहीं विद्वान विचारक इसका अर्थ आंतरिक चक्षु से लगाते हैं। स्पष्टतया जब कभी भी हम किसी समस्या के समाधान के लिए सोचना प्रारम्भ करते हैं वहीं दर्शन प्रारम्भ हो जाता है।

समराइच्च कहा में जैन दर्शन का प्रधान लक्ष्य आत्मा को सांसारिक मायाजाल से मुक्त कराकर अनन्त सुख (मोक्ष) की प्राप्ति कराना है। इस ग्रन्थ में श्रमण और श्रमण आचार्य के अतिरिक्त कुछ दार्शनिक विचारों का भी विवेचन किया गया है जिसके अन्तर्गत लोक परलोक, जीव गति, कर्म गति आदि का विश्लेषण किया गया है।

संसार गति

समराइच्च कहा में संसार गति को दारुण बताया गया है।[1] यहाँ इस संसार गति का हेतु मानव जीवन के कर्मों की परिणति है।[2] अतः जीव कर्म संयुक्त पाप से दुख तथा धर्म कृत्य से सुख प्राप्त करता है।[3] भगवती सूत्र में इस संसार को शाश्वत बताया गया है।[4] भगवान महावीर के अनुसार लोक किसी न किसी रूप में विद्यमान रहता है। अतः वह नित्य है ध्रुव है, शाश्वत है एवं अपरिवर्तनशील है। यहाँ रहने वालों की कर्मगति के अनुसार कभी सुख की मात्रा बढ़ जाती है तो कभी दुख की।

इस संसार में जीव और अजीव नाम की दो वस्तुयें दिखाई देती हैं जो *किसी के द्वारा नहीं बनायी गयी है।*[5] *अतः यहाँ सभी प्राणी अपने कृत्यों के* परिणामस्वरूप ही संसार गति के हेतु बनते हैं।[6] जैन दर्शन में जीव दो तरह के माने गये हैं—संसारी जीव और मुक्त जीव। संसारी जीव अपने कर्मों के अनुसार बार बार इस संसार के हेतु बनते हैं किन्तु मुक्त जीव अपने कर्म बन्धन से मुक्त होकर निर्वाण (मोक्ष) को प्राप्त होते हैं।[7]

---

१ सम० क० ४, पृ० ३१४८ पृ० ८२६।
२ वही ४ पृ० ३४२ ५ पृ० ३९६ ४७५, ४८६ ७ पृ० ६२३।
३ वही १, पृ० १३, ३७, ५, पृ० ४९० ७, पृ० ७११ ८ पृ० ७८९।
४ भगवती सूत्र ९।३३।३८७।
५ सम० क० २ पृ० १०९।
६ वही ७ पृ० ६२१ ८, पृ० ८५१।
७ जकोबी–स्टडीज इन जैनिज्म पृ० २०।

परलोक

समराइच्च कहा में इहलोक के साथ-साथ परलोक की स्थिति पर भी विवेचन किया गया है। भूत अर्थात पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश से भिन्न चेतन स्वरूप जीव परलोक गामी होता है।[१] चेतन का अचेतन से भेद माना जाता था। अत भूत अर्थात देह से भिन्न चैतन्य की सिद्धि पर यह विश्वास किया जाता था कि परलोक भी है।[२] हर प्राणी की मृत्यु के पश्चात उसका चैतन्य रूप जीव परलोक गामी होता है। कर्म की सत्ता स्वीकार करने पर तत फलस्वरूप परलोक और पुनर्जन्म की सत्ता भी स्वीकार करनी पडती है।[3] जैसा कि सर्वविदित है ब्राह्मण एवं बौद्धों में भी परलोक (स्वर्ग एव नरक) की सत्ता में विश्वास किया जाता था।[४]

जैन दार्शनिक विचारधारा के अनुसार जीव दो प्रकार के माने गये हैं—संसारी जीव और मुक्त जीव। मुक्त जीव में कोई भेद नही माना गया है किन्तु संसारी जीव चार प्रकार के माने गये हैं—नारक, तिर्यक, मनुष्य एव देव। इस पृथ्वी के नीचे सात नरक की सत्ता स्वीकार की गयी है, उनमें जो जीव निवास करते हैं वे नारकीय कहलाते हैं। ऊपर स्वर्ग में जो निवास करते हैं वे देव, मनुष्य और पशु पक्षी कीडे, मकोडे आदि तिर्यक कहे गये हैं।[५] इन चारों विभेदों से भी परलोक की सत्ता स्पष्ट होती है।

समराइच्च कहा में परलोक की गति का विवेचन करते हुए बताया गया है कि जीव के अनैतिक कर्मों का परिणाम (मृत्यु के पश्चात) नरक वास है। नरक लोक के संदर्भ में स्पष्ट करते हुए हरिभद्र सूरि ने बताया है कि महान अपराध करने वाला पुरुष जो पापी राजा की आज्ञा से गृहीत है, भयंकर जेल रक्षकों के द्वारा लोहे की सांकल से जकडा हुआ शरीर वाला है, घोर अंधकार रूपी जेल में रहने वाला है तथा परतन्त्र है जिससे अत्यन्त स्वजन वर्गों का वह देख भी नही सकता शिक्षा देने की तो बात ही दूर है।[६] अत पाप कृत्य करने वाले प्राणी नरक लोक में अपने कृत्यों का परिणाम भोगते हैं। इसी प्रकार नरक-

---

१ समरा० क० ३ पृ० २०४।

२ वही १, पृ० ६० ३ पृ० २०५।

३ मोहन लाल मेहता—जैन दर्शन, प० ३५७।

४ वासुदेव उपाध्याय– सोसिओ रिलिजस कन्डीशन आफ नार्थ इंडिया, पृ० १८५।

५ मोहन लाल मेहता—जैन दर्शन, पृ० ३५७।

६ समरा० क० ३ पृ० २०८९।

जीव गति

समराइच्चकहा में जन दशन के प्रभावस्वरूप जीव गति का भी उल्लेख प्राप्त होता ह, जिसका विश्लेषण इस प्रकार है—

चित्त, चेतना, मना विनान धारणा तथा बुद्धि ईहा, मति एव वितक य सत्र जीव ह।[१] जिस प्रकार शब्द का कोई रोक नही सकता उसी प्रकार जीव को भी रोका नही जा सकता।[२] जीव की स्थिति के बारे में उल्लिखित ह कि वह जीव भूत (पचेंद्रिय) से भिन्न शरीर में उसी प्रकार अदृश्य रहता है जसे अरणि में अग्नि विद्यमान रहती है।[३] अत मृत्यु क पश्चात दह से भिन्न चेतन स्वरूप जीव परलोकगामी होता ह तथा उसका स्वरूप सूक्ष्म एव अतीन्द्रिय है।[४] इस प्रकार यह बात सिद्ध होती है कि जीव इन्द्रियों का विषय नही ह और न तो साधारण चम चक्षु स देखा ही जा सकता ह अपितु सिद्ध सवज्ञ तथा नाना साधुगण ही नानरूपी प्रकाश स दखते है।

इस चतन्य युक्त जीव की निश्चित पहचान व्यवहार में पाच इन्द्रियों, मन वचन काय रूप तीना बलों तथा श्वासोच्छवास और आयु आदि इन दश प्राण रूप लक्षणों की हीनाधिक सत्ता के द्वारा की जा सकती ह।[५] जीव के और भी अनेक गुण हैं। उनमें कतृत्व शक्ति ह और उपभाग का सामथ्य भी है तथा वह अमूत ह।[६] ससार में इस प्रकार के जीवा की सख्या अनन्त ह। प्रत्येक शरीर में विद्यमान जीव अपना स्वतत्र अस्तित्व रखता ह और उस अस्तित्व का कभी ससार में या मोक्ष मे विनाश नही हो सकता।[७]

समराइच्च कहा में जीव के दो भेद बताये गये ह—स्थावर और जगम। पृथ्वी, जल, ज्वलन, मारुत और वनस्पतिकाय का स्थावर तथा कृमि, कीट, पतग महिष, गा तथा वृषभ आदि का जगम बताया गया ह।[८] स्थावर स जगमत्व दुलभ ह। जीव यदि जगमत्व का प्राप्त करता भी ह ता अनेक भेद

---

१ सम० क० ३, पृ० २१३।
२ वही ३, पृ० २११।
३ वही ३ पृ० २०५, २१३।
४ वही ३ पृ० २०४ २०५।
५ गाम्मट सार—जीवकाण्ड—१२९ (पच वि इन्दियपाणा मन वचकायेसु तिण्णिवलयाणा। आणप्पाणप्पाणा आउगयाणेण होंति दस पाणा)।
६ हीरालाल जन—भारतीय सस्कृति में जन धम का यागदान पृ० २१८।
७ वही पृ० २१८।
८ सम० क० ४ पृ० ३४७।

वाले कृमि कीट पतग आदि योनियों में चला जाता ह और फिर उनमें घूमते घमते पचेन्द्रियत्व को प्राप्त करता ह । उन पचेन्द्रिय जीवों में गौ, ऊँट आदि योनिया में भ्रमण करते हुए सयोगवश मनुष्यत्व को प्राप्त करता है ।[1]

भगवती सूत्र में जीव की पहचान गधरहित, गधरहित स्वादरहित स्पश हीन, अरूप, शाश्वत और ब्रह्माण्ड में सवदा स्थित रहने वाले चतय से की गयी ह जिसे जाव जीवास्तिकाय, प्राण भूय सत्य विनु, सेया जेया और आया आदि विभिन्न नामा से जाना जाता ह ।[2] जीव की इस परिभाषा के फलस्वरूप यह स्वाकार किया जाता ह कि चतय रूप जीव किसी रूप में सास लेता है और किसी रूप म साम नही भी लेता ह ।[3] अत समराइच्च कहा की भाँति यहाँ भी जीव का अमर एव शाश्वत बताया गया ह । अर्थात न इसे कोई मार सकता है और न जला सकता ह ।[4] जीव के दा भद बताये गये ह—ससारी और मुक्त जीव । यहाँ ससारी जीव के भी दा भेद बताये गये ह—त्रस (चलने फिरने वाले) और स्थावर (अचल) । समराइच्च कहा में उल्लिखित जगम को त्रस कहा गया ह । इन्द्रियों की गणना के अनुसार इन दोना में भी कई भेद बताये गये ह । स्थावर को पाँच भागों में विभाजित किया गया ह—पथ्वीकाय अपकाय (जलकाय) वायुकाय, तेजकाय और वनस्पतिकाय ।[5] इसी प्रकार त्रस के भी चार भेद माने गये ह—द्विन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय जीव ।[6]

समराइच्च कहा में जीव का परिणाम भी मल एव कलक मुक्त स्वण की भाति शुद्ध बताया गया ह ।[7] इस प्रकार का जीव स्वभाव से उचित कर्मों के विपाक को जानकर अपराघ करने वाले पर भी उपशम के कारण कभी क्राध नही करता ह और जीव भाव से इहलौकिक तथा पारलौकिक सुख को दुख ही मानता हुआ वह मुक्ति के अतिरिक्त किसी अय वस्तु की प्राथना नही करता ।[8] ममत्व रूपी विषवेग से रहित होना हुआ निर्वेद के द्वारा नारक तियक, नर और देव

१ सम० क० ४, पृ० ३४७ ४८ ।
२ भगवती सूत्र—२०।२।६६५ ।
३ वही ६।१०।२५६ ।
४ वही ८।३।३२५ ।
५ वही ३३।१।८१४ ।
६ भगवती सूत्र—३३।१।८१४ ।
७ सम० क० १, प० ६० ।
८ वही १, पृ० ६० ।

भवा में वास का वह दुख ही मानता है तथा वह जीव भयकर भवसागर में दुख से पीडित प्राणी समुदाय को देखकर सामान्य रूप से अपनी शक्ति के अनुसार बाहर और भीतर से अनुकम्पा करता है।[1]

इस प्रकार वह प्राणी (जीव) अपरिमित परिग्रह से दूर रहता है तथा देश विरति परिणाम से युक्त अणुव्रतों को स्वीकार करके अतिचारो को नही करता। भाव मे भी उसके परिणाम का पतन नही होता और आचरण के प्रभाव से जीव अन्त में परम पद (मोक्ष का अनुगामी) का भागी हो जाता है। भगवती सूत्र के अनुसार भी भावव्युत्सग (विचारो का त्याग) तथा द्रव्यव्युत्सग (शरीर, काम ससार एव अन्य प्रकार के सासारिक बन्धन से युक्त कर्मों का त्याग) से यह जीव मोक्ष को प्राप्त होता है।[2] इस प्रकार सम्यक-ज्ञान एव सम्यक चरित्र से पूर्णता को प्राप्त होकर वह अनन्त सुख का भागी होता है।

कर्मगति

समराइच्च कहा में जीव के सुख-दुख तथा पाप पुण्य आदि का कारण कर्म परिणति बताया गया है।[3] इस ससार में व्यक्ति पूर्वकृत कर्म के प्रभाव से ही क्लेश का भाजन बनता है दारिद्र्य दुख का अनुभव करता है अथवा सुख समृद्धि का हेतु बनता है। इस प्रकार जीव अनादि कर्म सयुक्त पाप से दुख तथा धर्म काय से सुख का अनुभव करता है।[4] कर्म की महत्ता स्वीकार करते हुए हरिभद्र ने इसकी आठ मूल प्रकृतियाँ बतायी है। इन्ही आठ मूल कर्म प्रकृतियो के ही परिणामस्वरूप अनुकूल एव प्रतिकूल फल प्राप्त होते है। ये आठ मूल प्रकृतियाँ है—ज्ञानावरणीय (जीव के सभी ज्ञान पर परदा डाल कर उसका घात कराने वाली), वेदनीय (सुख दुख का अनुभव कराने वाली) मोहनीय, (क्रोध, मान, माया लोभ, मोह और चरित्र आदि मे आत्मा का बध करके उसका घात करने वाली) आयु (देवायु, मनुष्यायु तिर्यचायु और नरकायु में भ्रमण करने वाली), नाम (शुभ और अशुभ नाम प्रकृत बँध द्वारा आत्मा का घात कराने वाली) गोत्र (उच्चगोत्र और निम्नगोत्र के बन्धन द्वारा आत्मा का घात कराने वाली) और अन्तराय (दान लाभ एव भोग उपभोग आदि से दूर रख कर आत्मघात कराने वाली)[5]। इन आठों मूल कर्म प्रकृतियों की स्थिति दो प्रकार

---

१ सम० क० १ पृ० ६० ६१।
२ भगवती सूत्र—२५।७।८०३।
३ सम० क० ४ पृ० ३४२ ५ पृ० ३९६ ४७५, ४८६, ७ पृ० ६२३।
४ वही १ पृ० १३ ३७ ५ पृ० ४९० ७ पृ० ७११, ८ पृ० ७९८।
५ वही १, पृ० ५८, ९, पृ० ४४५-४६ ४७।

की बतायी गयी हैं—उत्कष्ट और जघन्य स्थिति । उत्कष्ट स्थिति नानावरणीय, दर्शनावरणीय वेदनीय और अन्तराय की तीस कोडा कोडी सागरोपम, नाम और गात्र की वीस कोडा कोडी सागरोपम, मोहनीय का सत्तर कोडा-कोडी सागरोपम और आयु की तैंतीस सागरोपम की स्थिति मानी गयी ह ।[1] जघन्य स्थिति वेदनीय का बारह मुहूत नाम गोत्र की आठ मुहूत और शेष की अन्तर मुहूत ह ।[2]

साधारणतया जन दर्शन में कर्मों की यह स्थिति जीव के परिणामस्वरूप तीन प्रकार की मानी गई ह—जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट । नानावरणीय दर्शना वरणीय और अन्तराय इन तीन कर्मों की जघन्य अर्थात कम स कम स्थिति अतमुहूत और उत्कृष्ट अर्थात अधिक से अधिक स्थिति तीस कोडा-कोडी सागर की होती ह । वेदनीय की जघन्य स्थिति बारह मुहूत और उत्कृष्ट स्थिति तीस कोडा-कोडी सागर की ह । मोहनीय कम की जघन्य स्थिति अतमुहूत और उत्कष्ट स्थिति सत्तर कोडा-कोडी सागर की ह । आयु की जघन्य और उत्कष्ट स्थिति क्रमश अतमुहूत और तैंतीस सागर की तथा नाम और गात्र दोनों की अतर्मुहूत और वीस कोडा कोडी सागर की कहा गयी ह । जघन्य और उत्कृष्ट के बीच की समस्त स्थितियाँ मध्यम कहलाती ह ।[3]

समराइच्च कहा की भाँति भगवती सूत्र में भी कम बन्ध का चार प्रकार का बताया गया ह—प्रकृति बन्ध स्थिति बन्ध अनुभाग बन्ध और प्रदेश बन्ध ।[4] इनकी प्रकृति के अनुसार कम की आठ मूल प्रकृतियाँ बतायी गयी हैं—ज्ञाना वरणीय दर्शनावरणीय वेदनीय मोहनीय आयु नाम, गात्र और अन्तराय ।[5] भेद प्रभेद से इन्हें एक सौ अट्ठावन प्रकार का बताया गया ह ।[6] जिस प्रकार भोजन शरीर में पहुँच कर विभिन्न रूपों में परिवर्तित हो जाता ह और उसके (शरीर के) विकास में सहायक होता ह इसी प्रकार कम के गुण भी आत्मा में

---

१ सम० क० १ पृ० ५८ ।
२ वही १ पृ० ५८ ।
३ हीरालाल जन—भारतीय सस्कृति में जैन धम का योगदान पृ० २३४ ३५ (एक मुहूत का प्रमाण आधुनिक कालगणना के अनुसार अडतालीस मिनट होता है तथा सख्यातीत वर्षों के काल को सागर कहते हैं) ।
४ भगवती सूत्र १।४।३८ ।
५ वही १८।३।६२१ ।
६ जे० सी० सिकदार—स्टडीज इन दी भगवती सूत्र, पृ० ६०० ।

मिलकर उसे मूल रूप में आठ प्रकार से बाधित करते ह ।[1] प्रत्येक कम प्रकृति की कुछ निश्चित अवधि हाती ह जिसक अन्दर वह अपना प्रभाव दिखाती है और अवधि समाप्त हाने पर पुन आत्मा स अलग हा जाती ह ।[2]

समराइच्च कहा में कम के सयोग स दुख तथा कम की निवृत्ति से सुख की प्राप्ति बताया गया है ।[3] जरा दुख ह उसकी निवृत्ति सुख ह मरण दुख ह और उसकी निवृत्ति सुख ह, क्लेश दुख ह उसकी निवृत्ति सुख प्रिय दुख ह और उसकी निवृत्ति सुख ह। अत अनादि कम सयोग स य प्राणी गण सुख के स्वरूप को नही जानते। इसी प्रकार जन्म, जरा मरण राग, इच्छा प्रिय सक्लेश आदि का भी समझना चाहिए।

उपरान्त प्रकार के परिणाम का प्राप्त हाने पर काई जीव एसा हाता ह जो इसका भदन करता ह और काई ऐसा भी ह जो इसका भेदन नही करता ह ।[4] कम भेदन क परिणाम स्वरूप जीव सम्यक्त्व का प्राप्त हाता ह तथा वह वहुकम मलमुक्त हाकर अपने स्वरूप भाव का प्राप्त हाकर प्रसन्न, दयावान, तथा ससार से उद्विग्न हो सभी भवापग्राही कमाश का नाश करक और जन्म जरा, मरण, रोग शोक आदि स रहित हाकर परम पद को प्राप्त करता ह ।[5] समराइच्च कहा की भांति भगवती सूत्र में भी जीव का विभिन्न गतियों का कारण कमबन्ध ही बताया गया ह और जीव इन कम क गुणा स मुक्त हो कर पूणता का प्राप्त होना ह ।[6] यही पूणता की स्थिति सर्वाथ सिद्धि (मोक्ष) की स्थिति जानी जाती ह जिस प्राप्त कर लने पर जीव का पुन जन्म नही लेना पडता।

बन्धनों स मुक्त जीव पूणता को प्राप्त हाकर मुक्ति (आवा गमन से रहित) का प्राप्त हाना ह ।[7] जब आत्मा क समस्त कम अलग हो जाते ह तब जीव कममलमुक्त होकर मोक्ष को प्राप्त हाता ह ।[8]

चार्वाक दशन-जीव

हरिभद्र सूरि ने समराइच्च कहा क तीसर भव में आस्तिकवाद क साथ

---

१ जकोबी—स्टडीज इन जनिज्म, पृ० २५ २६।

२ वही पृ० २६।

३ समः क० ३, पृ० २१७।

४ वही १, पृ० ५९।

५ वही १, पृ० ५९ ६० ६५, ४, पृ० ३३३ ९, पृ० ६९३।

६ भगवती सूत्र ७।१।२५५।

७ जकोबी—स्टडीज इन जनिज्म, प० २०।

८ मोहनलाल महता—जन दशन, पृ० ३४८।

साथ नास्तिकवाद का भी उल्लेख किया है। नास्तिकवाद को चार्वाक सिद्धान्त माना जाता है जिसका सिद्धान्त सांसारिक सुखों का पूर्णतः उपभोग करना था। क्योंकि उनके अनुसार इस भौतिक जीव का पुनर्जन्म नहीं होता।

चार्वाक शब्द का व्युत्पत्त्यर्थ—चारु अर्थात मनोरम तथा वाक अर्थात उपदेशमय वचन से लगाया जाता है। जिसमें से ही प्राणी को परोक्ष की अपेक्षा प्रत्यक्ष सुख की प्राप्ति के लिए तथा प्रत्यक्ष दुख से निवृत्ति पाने के लिए प्रवृत्ति होती है।[1] चार्वाक के दार्शनिक सिद्धान्त में एकमात्र जड तत्त्व की मान्यता है।[2] इसके सिद्धान्त में भूमि, जल अग्नि और वायु ये ही चार तत्त्व प्रमेय रूप में स्वीकृत किये गये हैं। इन्हीं चार भूतों का उचित मात्रा में संयोग होने से स्वभावतः चेतना उत्पन्न हो जाती है जिस प्रकार किण्वादि तथा गुड और महुआ आदि मादक द्रव्यों का संयोग होने पर मादकता[3] एवं चूना, पान-सुपारी के एकत्र होने पर रक्तिमा की उत्पत्ति हो जाती है।[4] इस सिद्धान्त के अनुसार मैं स्थूल हूँ, मैं कृश हूँ आदि साधारण उक्तियों से तथा स्थूलता और कृशता आदि विशेषणों के योग से देह के अतिरिक्त अन्य किसी भी अतीन्द्रिय आत्मा की सिद्धि नहीं होती है।[5]

समराइच्चकहा में चार्वाक विचारधारा के अनुसार पाँच भूतों अर्थात पृथ्वी, जल तेज, वायु और आकाश के मेल से ही पैदा हुए चैतन्य को जीव कहा गया है और जब ये भूत नष्ट हो जाते हैं तो यह कहा जाता है कि जीव मर गया।[6] ऊपर के उल्लेखानुसार चार्वाक मत में चार तत्त्वों को ही प्रधानता बतायी गयी है जब कि समराइच्चकहा में आकाश नामक तत्त्व का भी जोड दिया गया है। पृथ्वी जल, तेज, आदि भूतों में एक ऐसी परिणाम की विचित्रता पायी जाती है जिससे चेतनता शरीर में ही आती है अन्यत्र नहीं।[7] आस्तिकवाद जहाँ यह मानता है कि ये भूत अचेतन हैं जो शरीर रूप में परिणत होने पर प्रत्यक्ष रूप में चेतना नहीं आने लगे, क्योंकि जो वस्तु जिनके अलग रहने में नहीं पायी जाती वह उनके समूह में भी नहीं पायी जा सकती। अर्थात उनके अनुसार इस

---

१ सर्वानन्द पाठक—चार्वाक दर्शन की शास्त्रीय समीक्षा पृ० ८।
२ बार्हस्पत्य सूत्र २ ३।
३ वही पृ० ४।
४ शंकराचार्य—सर्व सिद्धान्त संग्रह ७।
५ सर्वानन्द पाठक—चार्वाक दर्शन की शास्त्रीय समीक्षा, पृ० २७।
६ सम० क० ३, पृ० २०१ २०४।
७ सम० क० ३ पृ० २०६।

अचेतन भूत के अतिरिक्त चैतन्य जीव का अलग अस्तित्व है।[१] जब कि नास्तिक वाद के अनुसार इन्द्रियों का गुण ही जीव है तथा उसकी अधिमान्यता में शरीर से भिन्न जीव नाम की दूसरी वस्तु नही है।[२] आदि पुराण में चार्वाक मत की व्याख्या में बताया गया है कि पाप, पुण्य तथा परलोक आदि सत्य नही है। शरीर के विनष्ट होते ही आत्मा भी नष्ट हो जाती है।[3] अर्थात यहाँ भी शरीर से भिन्न जीव नामकी कोई वस्तु नही मानी गयी है।

लोक परलोक वाद

प्राचीन आस्तिकवाद के अनुसार जहाँ लोक तथा परलोक में विश्वास किया जाता था, वही नास्तिक वाद मात्र भौतिक लोक में विश्वास करता था। नास्तिक मत में स्वर्ग-नरक आदि कोई वस्तु नही है क्योंकि पचभूतों के मेल से उत्पन्न चैतन्य को ही जीव कहते हैं और भूतों के नष्ट हो जाने पर वह जीव भी शरीर के साथ नष्ट हो जाता है, जिसके लिए स्वर्ग नरक आदि परलोक गमन का प्रश्न ही नही उठता।[४] नास्तिक वाद का यह भी विचार था कि कोई भी जीव मृत्यु के पश्चात लौट कर अपना स्वरूप नही दिखलाता जिससे यह सिद्ध होता है कि परलोक नाम की कोई वस्तु है ही नही।[५] अत नास्तिक विचारधारा के अनुसार यह ससार ही सब कुछ है जहाँ जीव का हर प्रकार के भोगोपभोग का सेवन करना चाहिए।

महाभारत में भी चार्वाक मत के प्रतिपादन में परलोक में अविश्वास किया गया है। यहाँ तपस्वी वेषधारी चार्वाक ने युधिष्ठिर से पारलौकिक सुख को व्यर्थ बताते हुए कहा है कि परलोक नाम की कोई बात है ही नही तो परलोक सुख कहाँ से सम्भव है।[६] चार्वाक मत के अनुसार यदि आत्मा का परलोक गमन यथार्थ है तब कभी कभी वा धवों के स्नेह से आकृष्ट होकर वह परलोक से लौट भी आता है पर ऐसा नही होता है। अतएव आगत परलोकक्रिया के अभाव में परलोक की सत्ता सिद्ध नही होती जिससे स्पष्ट होता है कि यह सम्प्रदाय अपर लोकगामी है।[७] इस तथ्य का समर्थन समराइच्च कहा से भी होता है।

---

१ समर० क० ३, पृ० २०४, २०६।
२ वही ३, पृ० २०८ २१० ११।
३ आदि पुराण ५।६५ ६८।
४ समर० क० ३ पृ० २०२।
५ वही ३, पृ० २०२।
६ महाभारत—शान्तिपर्व ३८।२२ २७, ३९।३ ५।
७ सर्वानन्द पाठक—चार्वाक दर्शन की शास्त्रीय समीक्षा पृ० २७।

वाहस्पत्यसूत्र में उल्लिखित ह कि इस चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा अनुभूयमान लाक के अतिरिक्त किसी भी परलोक की सत्ता नही है।[1] व्यय में स्वग की कामना कभी भी नही करनी चाहिए क्योंकि स्वग नामक पदाथ का कही भी अस्तित्व नही ह।[2] इन सभी उल्लेखों से स्पष्ट होता ह कि नास्तिकवाद की विचारधारा में जो पदाथ दृष्टिगत होते हैं वे ही सत्य हैं। चक्षु हो तो दृष्टि का उत्कृष्टतम साधन हैं।

पुराणों में भी कही-कही नास्तिकवाद की व्याख्या में परलोक की सत्ता म अविश्वास प्रकट किया गया ह। पद्मपुराण में एक जगह उल्लिखित ह कि न कही स्वग का अस्तित्व हैं और न किसी प्रकार के मोक्ष का व्यय ही लोग इनकी उपलब्धि के लिए कष्ट उठाते ह।[3] रामायण में भी पिता की मृत्यु के पश्चात शाक में व्याप्त राम को आश्वासन देते हुए जाबालि नामक एक द्विज ने आस्तिकवादी परपरा क विचारों को ही व्यक्त करते हुए कहा ह कि हे महामते। वास्तव में इस प्रत्यक्ष लाक के अतिरिक्त अन्य परलोक आदि कुछ नही ह। अत जो प्रत्यक्ष ह उस ग्रहण कीजिए और जो परोक्ष है उसे उपेक्षित कीजिए।[4] सव सिद्धान्त सग्रह में भी कहा गया ह कि इस प्रत्यक्ष दृश्यमान ससार के अतिरिक्त अन्य कोई भी लोक (स्वग नरक आदि) तत्त्व नही ह।[5]

हरिभद्र सूरि ने षडदशन समुच्चय में लोकायत मत के सिद्धान्तों को प्रस्तुत करने में परलाक का खण्डन करते हुए कहा ह कि जितना स्पशन रसन, घ्राण, चक्षु, और श्रात्र इन इद्रियों के द्वारा प्रत्यगाचर हा रहा ह उतना ही दूभर ह और यदि कहा जाय कि परलोक की भी सत्ता ह तो वह केवल शशक क शृग तथा वन्ध्या क पुत्र के ही समान ह। आगे बताया गया ह कि वह परलोक सत्ता वृक पद क समान ह। माना जा यथाथ में प्रकृत वृक पद का चिह्न न होकर कृत्रिम मात्र ह, अर्थात राजमाग की धूलि में अपनी अगुलियां स चित्रित एक कृत्रिम वृक का चिह्न निर्मित कर कोई लोक प्रतिष्ठित अनुभवी पडित लागा को उसे दिखला कर यह कहता ह कि रात में एक वृक आया था उसी का यह पद चिह्न ह और अन्य लोग भी इस पर विश्वास कर लेते ह।[6]

१ वाहस्पत्य सूत्र २९ (नास्ति परलोक) देखिए—त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित १।१।३३०।
२ वाहस्पत्य सूत्र १२ (नत्र दियाच्च)।
३ पद्मपुराण—सृष्टि खण्ड १३।३२३।
४ रामायण २।१०९।१७ (स नास्ति परमित्येत कुरु बुद्धि महामते। प्रत्यक्ष यत्तदातिष्ठ परोक्ष पृष्ठत कुरु)।
५ शकराचाय—सवसिद्धान्त सग्रह ८।
६ षड्दशन समुच्चय श्लोक ८१।

उपरोक्त उल्लेखों से स्पष्ट होता है कि चार्वाक विचार धारा के लोग परलोक की सत्ता में विश्वास नहीं करते थे। उनका विचार था कि जब तक जीवन है तब तक शरीर को हर प्रकार से सुख देना ही उचित है।

मृत्यु

आस्तिक विचारकों के अनुसार मृत्यु हमेशा मारने के लिए तैयार रहती है,[1] जिसे नास्तिक चिन्तकों ने निराधार माना है। उनका विचार है कि घर घर छोड़ कर साधु बनने वाले के पास मृत्यु नहीं जाती। उनके अनुसार जगत की स्थिति ही ऐसी है कि मूर्ख, पंडित, साधु गृहस्थ आदि सभी को मरना पड़ता है और अंत में मरकर श्मशान जाना ही पड़ता है। इसलिए प्रारम्भ से ही श्मशान वास करना उचित नहीं।[2] पंचभूतों (पृथ्वी, जल, तेज वायु और आकाश) के नष्ट हो जाने पर शरीर के साथ ही साथ जीव भी नष्ट हो जाता है।[3] चार्वाक विचारधारा के अनुसार घड़े में रहने वाली चिड़िया की भाँति कोई आत्मा शरीर में नहीं रहती जो मृत्यु के पश्चात् परलोक की यात्रा करे।[4] आदिपुराण में भी चार्वाक मत के संदर्भ में उल्लिखित है कि शरीर के नष्ट होते ही आत्मा भी नष्ट हो जाती है। इसलिए जो व्यक्ति प्रत्यक्ष का सुख छोड़कर परलोक की कामना करता है वह इस लोक के भी सुखों से वंचित हो जाता है।[5] शरीर की स्थिति प्राणमय है। अतः प्राणवायु के निकल जाने पर शरीर और इन्द्रिय समूह मृत हो जाते हैं तथा प्राणवायु के रहने पर शरीर जीवित रहता है।

देह इंद्रिय, मन और प्राण ये भौतिकवाद पर आधारित हैं। भूतों में ही इस मत के समस्त विचार निहित हैं। इन स्थूल भूतों के आगे जाने पर भौतिकवादी दृष्टि असमर्थ हो जाती है। उपनिषदों आदि में कालवाद, नियतिवाद, स्वभाववाद, यदृच्छावाद, भूतवाद और पुरुषवाद आदि का प्रसंग मिलता है।[6] मृत्यु अर्थात इस जड़ तत्व विनिर्मित देह का नाश ही मोक्ष है।[7] इस प्रकार चार्वाक दर्शन में इन पंचभूतों के (पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश) संयोग से ही जीव की उत्पत्ति होती है तथा इनके नष्ट हो जाने पर मृत्यु की सत्ता

---

१ सम० क० ३ पृ० २०२।
२ वही ३, पृ० २०२।
३ वही ३, पृ० २०१।
४ वही ३, पृ० २०१।
५ आदि पुराण ५।६५ ६८।
६ श्वेताश्वरोपनिषद्—(शंकर भाष्य सहित-गीता प्रेस) १।२।
७ बार्हस्पत्य सूत्र ८ (मरणमेवापवर्ग)।

स्वीकार की जाती ह । चार्वाक सिद्धान्त मृत्यु के पश्चात परलोक (स्वग-नरक) तथा मोक्ष आदि में विश्वास नही करता, क्याकि वह दृश्य नही ह ।

विषय-सुख

आस्तिक चिन्तकों के अनुसार जहाँ विषय परिणाम भयानक माना जाता था वही नास्तिक विचारधारा के लोग यह कह कर विषयों के उपयोग की स्वीकृति देते ह कि आहार का परिणाम भी तो भयानक ह ता क्या इस भी छाड देना चाहिए ।[१] उनक विचार म जगत की स्थिति ऐसी ह कि उपाय जानने वालों के लिए दारुणत्व का सभावना नही ह । जीव भूता का मिश्रित चतन्य रूप ह । जिसकी मृत्यु क पश्चात उसके नरक-स्वग आदि लाक में जाने का प्रश्न ही नही उठता । इस भस्मीभूत शरीर का पुनगमन नही होता । अत विषया का सेवन उचित ह, क्योकि सुख सवन म ही सुख की उपलब्धि हाती ह न कि तप, व्रत, सयम आदि कष्टा स ।[२]

आस्तिकवादी सप्रदाय में धम अथ, काम और मोक्ष—ये चार पुरुषाथ माने गये ह, पर नास्तिकवादी एक मात्र काम अर्थात विषयासक्ति को ही पुरुषाथ मानते ह ।[४] बाहस्पत्य सूत्र में एक स्थान पर कहा गया ह कि एक मात्र काम क्रीडा ही प्राणिया की उत्पत्ति का कारण ह ।[५] मदान्मत तथा कामिनी सुन्दरिया का सगम करने म सकाच नही करना चाहिए, क्योंकि उसम सद्य तथा प्रत्यक्ष आनन्दानुभूति हाती ह[६] और सुन्दरी तथा मदमाती कामिनिया का दशन करना चाहिए क्याकि इससे प्रत्यक्ष मानसिक प्रसन्नता प्राप्त होती ह ।[७]

आचाय वात्स्यायन ने विषय-सुख का चयन उचित बताया ह । उनके अनुसार कामाचार भी दैनिक आहार के समान ही सेवनीय ह । जिस प्रकार दनिक आहार का अजीर्णादि दोषा के उत्पादक होने पर शरीर की रक्षा के लिए उपयोगी मानकर सेवन किया जाता ह उसी प्रकार कामाचार का भी सेवन करना विधेय

---

१ सम० क० ३ प० २०२ ३ ।
२ वही ३ प० २०२ ३ ।
३ वही ३ प० २०२ २०४ ।
४ बाहस्पत्य सूत्र ५ (काम एवक पुरुषाथ) ।
५ वही १६ (काम एव प्राणिना कारणाम) ।
६ वही १५ (मत्त कामिन्य सन्या) ।
७ वही १६ (दिव्य प्रमन्दादशनच्च) ।

है। कामाचरण के सवथा परित्याग से उन्मादि आदि दोषों की उत्पत्ति की सभावना रहती ह, जिसमे शरीर की स्थिति भी उपद्रवित हो सकती है।[1]

सवसिद्धान्तसग्रह में चार्वाक दशन के विवरण के अनुसार षोडशी कामलागी रमणी का सगम सुन्दर वस्त्र तथा सुगधित माला का धारण और श्वत चदन के अनुलेपन में ही स्वग सुख की अनुभूति हाती ह शत्रुओ के शस्त्रघात जनित पीडा आदि उपद्रवो में ही नरक अर्थात दुख की अनुभूति हाती ह और प्राणवायु का निकल जाना अर्थात मृत्यु ही मोक्ष ह।[2] प्रबोध चन्द्रोदय में बताया गया ह कि 'विषय सगम जनित अनुपम सुख दुख मिश्रित होने के कारण त्याज्य ह यह मूर्खों का विचार ह। भला ऐसा कौन आत्महितपी व्यक्ति हागा जा रूक्ष भूसी से छिपे श्वेत-स्वच्छ और उत्तम तण्डुल कणों से युक्त धान्य अन्न का त्यागना भी चाहेगा।[3]

मनुष्यत्व

आस्तिक वाद जहा धम अथ-काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों की प्राप्ति को ही मनुष्यत्व का आधार मानता ह तथा उस सुकृत कम का परिणाम बताता ह वहीं नास्तिकवाद मनुष्यत्व का भूतों अर्थात पथ्वी जल तेज वायु और आकाश की ही परिणति बताता ह।[4] बाहस्पत्यसूत्र में बताया गया ह कि अथ अर्थात धनापाजन तथा कामाचरण—ये दो ही पुरुषाथ मान्य हैं अर्थात यहा धम और मोक्ष की मान्यता नही दी गई ह।[5] इस प्रकार चार्वाक विचारधारा म मनुष्यत्व की प्राप्ति सुकृत अथवा दुष्कृत कम का परिणाम न हाकर पच भूतों का ही परिणाम है जिसकी साथकता धनापाजन तथा कामाचरण म ही ह।

धमकृत्य और विश्वास

दान

समराइच्च कहा में व्यक्ति का महानतम लक्ष्य परमाथ की सिद्धि बताया गया है। इस परमाथ की सिद्धि के लिए दान, शील और तप ये तीन प्रमुख

१ वात्स्यायन-कामसूत्र—जय मगला टीका १।२।४६।
२ शकराचाय—सवसिद्धान्त सग्रह ९,१०।
३ चन्द्रोदय २।५०।
४ सम० क० ३, पृ० २०२।
५ बाहस्पत्य सूत्र २७ (अथकामौ पुरुषार्थौ)।

साधन माने गये ह ।[1] इसी ग्रथ में आगे यहाँ तक उल्लेख ह कि दान और परो पकार रहित सम्पत्ति का उपभोग करना लोक विरुद्ध ह ।[2] अत स्पष्ट ह कि तत्कालीन समाज में दान देने की प्रवृत्ति अधिक थी। व्यापारिक वग के लोग तो निज भुजोपार्जित धन से महादान दते थ ।[3] काण के अनुसार दान उसे कहते ह जिसके द्वारा किसी दूमर का अपनी वस्तु का स्वामी बना दिया जाता ह ।[4] देवल ने शास्त्रोक्त दान की परिभाषा इस प्रकार दी ह—शास्त्र द्वारा उचित ठहराये गये व्यक्ति को शास्त्रानुमादित विधि स प्राप्त धन का दान कहा जाता ह ।[5]

दान की महत्ता के प्रमाण वदिक काल स प्राप्त होते ह । वदिक काल में विविध प्रकार के दानों का उल्लेख हैं, यथा—गौ दान अश्व दान, रत्नदान, ऊँट दान, नारी दान, (दासी के रूप में) तथा भोजन दान आदि ।[6] ऋग्वद में आया ह कि—जो गायो का दान करता ह वह स्वग में उच्च स्थान पाता ह, जो अश्व दान करता है वह सूय लोक में निवास करता ह, जो स्वण दान करता ह वह देवता होता ह, जो परिधान का दान करता ह वह दीघ जीवन प्राप्त करता ह ।[7] तत्तिरीय ब्राह्मण में सोने, परिधान गाय अश्व मनुष्य पयक एव अन्य कई प्रकार की वस्तुओं का दान देने का उल्लेख ह ।[8] तत्तिरीय सहिता में उल्लेख ह कि व्यक्ति जब अपना सवस्व दान कर देता ह तो वह भी एक प्रकार का तप ही ह ।[9] वृहदारण्यक उपनिषद् म दम दया और दान नामक तीन विशिष्ट गुणो को गिनाया गया ह ।[10] छान्दाग्य उपनिषद् में बताया गया है कि जानश्रुति ने साम्वग विद्या के अध्ययन हतु रैक्व को एक सहस्र गाय एक सोने की सिकडी एक रथ जिसमें खच्चर जुते थे, अपनी कन्या (पत्नी के रूप) एव

१ सम० क० ५, प० ४४० ।
२ वही ८ पृ० ७४७ ।
३ वही ६, पृ० ४९७ ।
४ पी० वी० काणे—धम शास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० ६४८ ।
५ देवल—अपरार्क, प० २८७ दान क्रिया कौमुदी, प० २ हेमाद्रि दान खण्ड, प० १३ आदि (काणे—धमशास्त्र का इतिहास भाग १, पृ० ४४७ में उद्धत)।
६ पी० वी० काणे—धमशास्त्र का इतिहास, भाग १ पृ० ४४७ ।
७ ऋग्वेद १०।१०७।२७ ।
८ तत्तिरीय ब्राह्मण २।२।५ ।
९ तत्तिरीय सहिता ६।१।६।३ ।
१० वृहदारण्यक उपनिषद् ५।२।३ ।

कुछ गाँव दान में दिये थे।[१] महाभारत के प्राय सभी पर्वों में दान का उल्लेख है।[२] पुराणों में भी दान के महत्व आदि का उल्लेख प्राप्त होता ह।[३]

पतजलि ने भी परलोक के साधनों में यज्ञ यागादि का उल्लेख किया है और कहा ह कि दान और तीथ स्वग प्राप्ति में सहायक समझे जाते थ। महाभाष्य में गोदान का उल्लेख कई बार आया ह।[४] पुत्र ज म के अवसर पर दस सहस्र तक गायें दान किये जाने का उल्लेख ह।[५] भोजन दान बडा ही पुण्य कृत्य माना जाता था। दूसरों को भोजन करने से स्वग की प्राप्ति हो सकती है।[६] वृहस्पति स्मृति में भूमि दान का उल्लेख ह जिसमें बताया गया है कि इस दान से या तो स्वग अथवा राजपद प्राप्त होता है।[७] अत्रि सहिता के अनुसार दवता भी भूमि दान देने वालों की प्रशसा करते ह।[८]

इस साक्ष्यों से स्पष्ट होता ह कि दान का महत्व वदिक काल स चला आ रहा ह। प्राचीन काल में दान को इस लोक तथा परलोक में सुख एव समृद्धि का हेतु समझ कर अत्यधिक महत्व दिया गया था। उत्सव महोत्सव आदि के अवसर पर दान का विधान था जिसका उल्लेख आगे किया गया ह।

दाता तथा ग्राहक

समराइच्च कहा में दान देने वाले तथा दान लेने वाले के गुण-अवगुण का भी उल्लेख ह। शुद्ध दान देने वाला मनुष्य उसी प्रकार अमर तथा शिव सुख सम्पत्ति का जनक माना जाता था जसे उत्तम क्षेत्र में बोया हुआ बीज अधिक फलदायक होता ह।[९] इसी प्रकार विशुद्ध ग्राहक उसे ही स्वीकार किया जा सकता ह जो नियमत पाच महाव्रतों को धारण करने वाला, गुरु सेवा म रत

---

१ छान्दोग्य उपनिषद ४।२।४ ५।

२ देखिए—महाभारत-सभा पव वन पव विराट पव आदि।

३ अग्नि पुराण, अध्याय २०८, २१५ तथा २१७, मत्स्य पुराण अध्याय ८२ ९१ तथा २७४ २८९, वराह पुराण-अध्याय ९९ १११।

४ महाभाष्य—२, ३ ६९ पृ० ४५५ ३ ३, १२ पृ० २९१।

५ वही—१, ४, ३, पृ० १३१—यस्मिन् दस सहस्राणि पुत्रे जात गवां ददौ।

६ वही ३ ३, ७, पृ० २८७।

७ वृहस्पति स्मृति १३।१५— स नर सवदा भूप यो ददाति वसुधराम। भूमि दानस्य पुण्येन फल स्वग पुरदर।'

८ अत्रि स्मृति—दानफलवणन, श्लोक ३३५—आदित्यो वरुणा विष्णु-ब्रह्मा सोमो हुताशन। शूल पाणिस्तु भगवानभिनन्दन्ति भूमिदम।

९ सम० क० ३, पृ० १९१।

तथा ध्यान में चित्त लगाने वाला हो।[१] समराइच्च कहा के इस उल्लेख में जन प्रभाव दिखाई पड़ता है। महाव्रतों के उल्लेख से सूचित होता है कि अन्य धर्मों के अनुयायी श्रेष्ठ पात्रा के रूप में नहीं स्वीकार किये गये। दान के सुपात्र तथा कुपात्र ग्राहकों का विवेचन करते हुए समराइच्च कहा में बताया गया है कि कुपात्र को दिया गया शुभ दान उसी प्रकार अशुभदायक हो जाता है जैसे सर्प को पिलाया हुआ दूध विष के रूप में परिणत हो जाता है तथा सुपात्र को दिया गया अल्प दान भी उसी प्रकार फलवान होता है जैसे गाय को दिया हुआ तृण दूध में बदल जाता है।

दान के दाता और ग्राहक के गुण-अवगुण तथा सुपात्रता एवं कुपात्रता का उल्लेख अन्यत्र भी मिलता है। जैन ग्रंथ तत्वार्थ सूत्र में भी दान की विधि, देय वस्तु, दाता और ग्राहक की विशेषता पर बल दिया गया है। दान देने वाले पात्र के प्रति श्रद्धा का होना और तिरस्कार या असूया का न होना तथा दान देते समय या बाद में विषाद न करना इत्यादि बातें दाता के गुणों के अन्तर्गत आती हैं।[३] दान लेने वाले का सत्पुरुषार्थ जागरूक रहना पात्र की विशेषता है।[४] जैन ग्रन्थों के अतिरिक्त ब्राह्मण ग्रन्थों में भी दाता और ग्राहक के गुण-अवगुण का उल्लेख प्राप्त होता है। देवल के अनुसार दाता को पाप रोग से हीन धार्मिक दित्सु (श्रद्धालु) दुर्गुणहीन, शुचि तथा निन्दित व्यवसाय से रहित होना चाहिए।[५] दक्ष ने लिखा है कि माता पिता गुरु, मित्र चरित्रवान व्यक्ति, उपकारी, दरिद्र, असहाय तथा विशिष्ट गुण वाले व्यक्ति को दान देने से पुण्य प्राप्त होता है, किन्तु धूर्तों बन्दियों (वन्दना करने वाले) मल्लों (कुश्ती लड़ने वाले) कुवैद्यों, जुआरियों बचकों चाटों, चारणों और चोरों को दिया गया दान निष्फल होता है।[६] मनु स्मृति[७] तथा विष्णु धर्मसूत्र[८] में कपटी तथा वेद न जानने वाले ब्राह्मणों को दान का पात्र नहीं बताया गया है। दक्ष ने तो एक अन्य स्थान पर बताया है कि अयोग्य व्यक्ति को दान देने से उस दान का पुण्य नष्ट हो जाता है।[९]

---

१ सम० क० ३ पृ० १९० १९२।
२ वही ३ पृ० १९३।
३ तत्वार्थ सूत्र—विवेचन सहित पृ० २७८।
४ वही पृ० २७८।
५ पी० वी० काणे—धर्मशास्त्र का इतिहास भाग १ पृ० ४५०।
६ दक्षस्मृति ३।१७ १८।
७ मनु० ४।१९३ २००।
८ विष्णु धर्मसूत्र ९३।७ १३।
९ दक्ष० ३।२९—विधि हीने तथाऽपात्रे यो-ददाति प्रतिग्रहम्। न केवलं हि तद्दानं शेषमप्यस्य नश्यति।

ब्राह्मण धर्म की परम्परा में दान के ग्राहक बहुधा विद्वान ब्राह्मण ही हुआ करते थे।[1] कलचुरी के दान पत्र में वेदशास्त्र जानने वाले ब्राह्मणों को ही दान का योग्य पात्र (ग्राहक) बताया गया है।[2] प्राचीन काल में दान देते समय इस बात का ध्यान रखा जाता था कि दान में दी गई वस्तु का दुरुपयोग न होकर उसका सदुपयोग हो। सुपात्र ही दान में प्राप्त वस्तु आदि का सदुपयोग कर सकते थे इसलिए विद्वान् ब्राह्मण तथा श्रमण आदि को दान दिया जाता था। ब्राह्मण तथा जैन ग्रन्थों के उल्लेख इस बात को स्पष्ट कर देते हैं कि प्राचीन काल में अधिकतर योग्य (विद्वान् आदि) तथा चरित्रवान व्यक्ति ही दान का सुपात्र ग्राहक था।

समय

समराइच्चकहा में दान देने के विभिन्न अवसरों का उल्लेख प्राप्त होता है। पुत्र के जन्मोत्सव पर[3] विवाहादि[4] संस्कार के समय तथा प्रव्रज्या ग्रहण करते समय[5] राजा महाराजा तथा धनी सम्पन्न वर्ग के लोग दान देते थे। इसके अतिरिक्त महाकार्तिकी महोत्सव[6] के अवसर पर तथा तपस्वी जनों के देहोपचार (आवश्यकतानुसार भोजन वस्त्र आदि से सेवा करना) के समय अत्यन्त विशुद्ध समयानुसार दिया हुआ दान उसी प्रकार महाफल दायक माना जाता था जिस प्रकार समय पर किया गया कृषिकर्म अधिक फलदायक होता है।[7] जैन तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में दान के उचित अवसरों की महत्ता का प्रतिपादन है। पूर्व मध्य कालीन अभिलेखों से ज्ञात होता है कि जात-कर्म (पुत्र जन्मोत्सव), नाम कर्म, तथा श्राद्ध (मृतक संस्कार) आदि संस्कारों के समय तथा धार्मिक उत्सव एवं त्योहारों के अवसर पर दान वितरित किया जाता था।[8] याज्ञवल्क्य स्मृति में

१ वासुदेव उपाध्याय–दी सोसियो–रिलिजस कन्डीशन आफ नार्थ इंडिया पृ० ३०३।

२ इपि० इडि० ११ पृ० १९२८।

३ सम० क० ४, पृ० २८७, ६ पृ० ४९७, ७, पृ० ६४४।

४ वही ९ पृ० ८९७।

५ वही १, पृ० ६८ ३, पृ० २२१ २२, ४, पृ० ३४६ ३५३ ५, पृ० ४७५, ४७८, ६, पृ० ५६४, ८ पृ० ८३७, ८४५ ९, पृ० ८९७ तथा ९७८।

६ वही ४ पृ० २३९ (प्रति वर्ष कार्तिक मास की पूर्णिमा के दिन महोत्सव मनाया जाता था तथा उक्त अवसर पर खुशी में लोग दान देते थे)।

७ वही ५, पृ० १९३।

८ वासुदेव उपाध्याय—दी सोसिओ–रिलिजस कण्डीशन आफ नार्थ इण्डिया, पृ० ३११।

उल्लेख है कि प्रतिदिन के दान-कर्म से विशिष्ट अवसरों के दान कम अधिक सफल एवं पुण्य कारक माने जाते हैं।[१] विष्णु धर्म सूत्र में पूर्णिमा के दिन विभिन्न प्रकार के पदार्थों के दान करने से उत्पन्न फलों की चर्चा है।[२]

पूर्व मध्य काल में पुत्र जन्मोत्सव के समय दान देने का उल्लेख प्राप्त होता है।[३] गाहड़वाल वंशीय राजा जयचन्द ने अपने पुत्र के नामकरण के समय दो गावों का दान किया था।[४] इसी वंश के गोविन्दचन्द नामक शासक ने श्राद्ध के समय दान की स्वीकृति दी थी जो अश्विना कृष्ण पक्ष के पन्द्रहवें दिन पड़ता था।[५] कल्चुरी दान-पत्र में भी राजा[६] और रानी[७] के श्राद्ध के अवसर पर दान देने का उल्लेख है। प्राचीन धार्मिक विश्वासों के आधार पर सूर्य ग्रहण[८] तथा चन्द्र ग्रहण[९] के अवसर पर दान दिया जाता था।[१०] इसके अतिरिक्त अक्षय ततीया (वैशाख शुक्ल पक्ष तृतीया), माघ की पूर्णिमा, श्रावण पूर्णिमा[११] तथा कार्तिक पूर्णिमा[१२] के अवसर पर भी दान दिये जाते थे।

दान के भेद

समराइच्च कहा के कथा प्रसंग में दान के तीन भेद गिनाये गये हैं। ये हैं—ज्ञान दान, अभय दान और धर्मोपग्रह दान[13]। जैन परम्परा में दस प्रकार के दान गिनाये गये हैं, यथा—अनुकम्पा दान, संग्रह दान, भयदान, कारुण्य दान

---

१ याज्ञवल्क्य स्मृति १।२०३।

२ विष्णु धर्मसूत्र—अध्याय ८९।

३ जर्नल आफ दी एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल ७, पृ० ४०, इपि० इंडि० ४, पृ० १२८।

४ इंडि० ऐंटी० १८ पृ० १३० राजपुत्र श्री हरिश्चन्द्र नामकरण।

५ वही १९, पृ० ३५१ इपि० इंडि० ४ पृ० ९८ तथा १०५।

६ इपि० इंडि० २ पृ० ३१०—गांगेय देवस्य संवत्सर श्राद्धे।

७ इंडि० ऐंटी० १६, पृ० २०५—आत्मीय मातृ राज्ञि श्री संवत्सरीके।

८ इपि० इंडि० ३ पृ० ३५५, १३ पृ० २० २१, पृ० २१२, देखिए—इंडि० ऐंटी १८ पृ० १५।

९ इंडि० ऐंटी० १६, पृ० २०१ ६।

१० वही १५, पृ० ६ इपि० इंडि० ४ पृ० १०७ ८, पृ० १५२।

११ इपि० इंडि० ४, पृ० ११०।

१२ वही २६ पृ० ७२, १० पृ० ७५।

१३ सम० क० ३ पृ० १८८।

लज्जा दान गौरव दान अधम दान धर्म दान करिष्यति दान और कृत दान[1]। जिनका तुलनात्मक विश्लेषण इस प्रकार है—

ज्ञान दान

समराइच्च कहा में ज्ञान दान को अन्य दानों में श्रेष्ठ बताया गया है, क्योंकि ज्ञान ही शिव सुख सम्पत्ति का बीज होने के साथ साथ परम निर्वाण की प्राप्ति का प्रमुख साधन माना जाता था।[2]

स्मृतिकार वशिष्ठ ने गोदान भूमिदान तथा विद्या दान (ज्ञान दान) में ज्ञान दान को श्रेष्ठ बताया है।[3] महाभारत[4] में इन तीनों प्रकार के दानों में भूमि दान की श्रेष्ठता बताया गया है जबकि अत्रि ने वशिष्ठ के समर्थन में ज्ञान दान की ही महत्ता स्वीकार की है।[5] मानव जीवन की सारी क्रियायें मस्तिष्क से उत्पन्न बुद्धि के अनुसार सचालित होती है। ज्ञान के आधार पर किया गया कर्म श्रेष्ठ होता है जो कि जीव को शाश्वत सुख की ओर ले जाता है। चूंकि परमानन्द की प्राप्ति ही जीव का चरम लक्ष्य है इसलिए ज्ञान दान को सभी दानों से श्रेष्ठ कहा जा सकता है।

धर्मोपग्रह दान

समराइच्च कहा में नवकोटि[6] से परिशुद्ध तथा आचार के अनुकूल धार्मिक जनों को दिया गया द्रव्य तथा बुद्धिमानों को दिया गया अशन-पान वस्त्र, पात्र योग्य औषधि और उत्तम आसन आदि धर्मोपग्रह दान बताया गया है।[7] धर्मोपग्रह दान के भी दो भेद गिनाये गये हैं—प्रथम साधारण द्रव्यादि दान तथा दूसरा महादान। देवी-देवताओं के पूजन के अवसर पर दिया गया द्रव्य

---

१ जैन सिद्धान्त बोल संग्रह तृतीय भाग पृ० ४५०।

२ सम० क० ३, पृ० १८८।

३ वशिष्ठ स्मृति १९।२०—त्रिण्याहुरतिदानानि गाव पृथ्वी सरस्वतीम्। अतिदान हिरण्यानां विद्यादान ततो अधिकम।'

४ महाभारत अनुशासन पर्व ६२।११—अतिदानानि सर्वाणि पृथ्वीदान उच्यते।

५ अत्रि० दानफल वर्णन, श्लोक ३३८—'सर्वदामेव दानाना विद्यादान ततो अधिकम।'

६ मन वचन और काया (शरीर) से हिंसा न करना, न कराना तथा न तो करने वाले का समर्थन करना ही नव-कोटि से परिशुद्ध कहा गया है।

७ सम० क० ३, पृ० १००।

दान साधारण दान की श्रेणी में रखा गया है।[1] विवाह के अवसर पर दिया गया दान[2] किसी गुणी तथा कलाकार की कला पर प्रसन्न होकर दिया हुआ दान[3], साधारण दान कहा जा सकता है। दूसरा धर्मोपग्रह दान महादान बताया गया है जिसका विवेचन आगे किया गया है। जैन परम्परा से ज्ञात होता है कि धर्म कार्यों में दिया गया दान धर्म दान कहलाता है।[4] जिनके लिए तृण, मणि मोती आदि एक समान हैं ऐसे सुपात्रों को जो दान दिया जाता है वह धर्मदान कहा जाता है और वह दान कभी व्यर्थ नहीं जाता क्योंकि वह अनन्त सुख का कारण होता है।[5] धर्मोपग्रह दान धार्मिक तथा ज्ञानी जनों को दिया जाता है जिसका सदुपयोग महत्त्व के कार्यों में होता है। इसलिए इसे अन्य प्रकार के दानों से श्रेष्ठ किन्तु ज्ञान दान से निम्न बताया जा सकता है।

अभयदान

समराइच्चकहा में तीसरे प्रकार का दान अभय दान बताया गया है। जीवों पर दया करके उन्हें अभय दान देना धन दौलत, रत्न तथा द्रव्यादि दान से श्रेष्ठतर बताया गया है।[6] अभय दान का विश्लेषण करते हुए समराइच्च कहा में जीव हिंसा का विरोध दर्शाया गया है जिससे यहाँ जैन प्रभाव स्पष्ट होता है। वर्णन में उल्लिखित है कि जिसने जल, तेज, वायु तथा वनस्पति जीवों की ओर द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा पंचेन्द्रियों की सम्यक् मन वचन और काया के योग से हिंसा नहीं होता वही अभय दान है।[7] जैन परम्परा से पता चलता है कि शोकग्रस्त जीवों को दया दान देना कारुण्य दान है।[8] प्राणियों पर करुणा करके तथा उन्हें कष्ट न देकर निर्भय कर देना ही अभय दान कहा जा सकता है।

महादान

समराइच्चकहा में साधारण दान के अतिरिक्त महादान का भी उल्लेख है।

---

१ सम० क० ३ पृ० १७३।
२ वही ६ पृ० ५७८, ९ पृ० ८९६।
३ वही ८, पृ० ७४६ ४७।
४ जैन सिद्धान्त बोल संग्रह तृतीय भाग पृ० ४५२।
५ वही पृ० ४५२।
६ सम० क० ३, पृ० १८८-९ ४, पृ० ३२४ ५ पृ० ४४१, ९ पृ० ९५६।
७ सम० क० ३ पृ० १८९।
८ जैन सिद्धान्त बोल संग्रह तृतीय भाग, पृ ४५१।

यह महादान क्रिया कार्तिक पूर्णिमा के दिन महाकार्तिकी महोत्सव पर[1], विवाह के अवसर पर[2], पुत्र के भावी कुशल क्षेम के लिए उसके जन्मोत्सव पर[3] देवपूजन के अवसर पर[4], प्रव्रज्या ग्रहण करते समय[5], स्वय उपार्जित धन से अन्य शुभ अवसरों पर[6] सम्पन्न की जाती थी। समराइच्च कहा में महादान का विधि आदि का उल्लेख नहीं है। किन्तु ब्राह्मण ग्रंथों में महादान के भेद, विधि आदि पर प्रकाश डाला गया है।

अग्नि पुराण में दस महादानों का उल्लेख है यथा—सोना, अश्व, तिल, हाथी, दासियाँ, रथ, भूमि, घर दुल्हिन (पत्नी रूप में स्त्री) एव कपिला गाय।[7] धर्मशास्त्रकार के अनुसार पुराणों में महादानों की संख्या सोलह दी गयी है—तुला पुरुष (पुरुष के बराबर सोना या चाँदी तौल कर ब्राह्मणों को बाँट देना), हिरण्यगर्भ ब्रह्माण्ड कल्पवृक्ष, गोसहस्र कामधेनु हिरण्याश्व हिरण्याश्वरथ (या केवल रथ) हेम हस्ति रथ, पचलागल, धरा दान (या हेमधरा दान), विश्वचक्र कल्पलता (या कहाकल्प) सप्त सागर रत्नधेनु और महा भूतघट।[8] महाभारत में महादानानि[9] शब्द का उल्लेख आया है। कलिंगराज खारवेल के हाथी गुम्फा अभिलेख में कल्पवृक्ष दान का नाम आया है।[10] अन्य अभिलेखों में भी तुलापुरुष[11] नामक महादान का उल्लेख कई बार आया है। प्राचीन काल में राजा-महाराजा तथा धनिक लोग महादान में ग्रहीता को उसके वजन के बराबर स्वर्णदान करते थे। इस प्रकार का महादान तुलापुरुष दान[12]

---

१ सम० क० ४, पृ० २३९।

२ वही ९ पृ० ८९७।

३ वही ४ पृ० २८७ ६, पृ० ४९७, ७, पृ० ६४४।

४ वही ८, पृ० ८१५।

५ वही १, पृ० ६८ ३, पृ० २२१ २२ ४, पृ० ३४६, ३५३, ५ पृ० ४७५, ४८७ ६ पृ० ५६४ ८, पृ० ८३७, ८४५, ९, पृ० ८९७ ९७८।

६ वही ८, पृ० ७६५।

७ अग्नि पुराण २०९।२३-२४।

८ पी० वी० काणे—धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १ पृ० ४६०।

९ महाभारत–आश्रमवासि पर्व ३।३१ १३।१५।

१० इपि० इडि० २० पृ० ७९।

११ वही ७ पृ० २६ १०, पृ० ११२, ९, पृ० २४, ११, पृ० २० १४, पृ० १९७।

१२ इंडि० एंटी० १८ पृ० १५।

हेमारमतुल्यदान[1] तथा कनकतुलापुरुषदान[2] कहा जाता था।

समराइच्च कहा में उल्लिखित महादान का समर्थन ब्राह्मण ग्रन्थों तथा अभिलेखों में होता है। महादान का शाब्दिक अर्थ सबसे बड़ा दान है। प्राचीन काल के लोग धार्मिक भावना से प्रेरित होकर शुभ अवसरों पर कभी-कभी प्रसन्नता से अपना सर्वस्व दान कर देते थे। उस समय अपनी सबसे मूल्यवान वस्तु यथा—सोना, चाँदी अश्व, रथ, गौ आदि को अधिक संख्या या मात्रा में दान करना महादान कहा जाता था। महादान के समय दाता प्रेय की चिन्ता न कर श्रेय को ही प्राथमिकता देता था।

कर्मपरिणाम

समराइच्च कहा से ज्ञात होता है कि उस काल में कर्मवाद के सिद्धान्तों में काफी विश्वास किया जाता था। तत्कालीन समाज में यह धारणा थी कि प्रमाद चेष्टित कर्म की परिणति बड़ी ही दारुण होती है।[3] अशुभ कर्म परिणाम से शीतल जल भी अग्नि का रूप ले लेता है चन्द्रमा की धवलता अंधकार रूप में बदल जाता है मित्र शत्रु के रूप में परिणत हो जाता है और अर्थ की बात अनर्थ के रूप में परिवर्तित हो जाती है।[4] अतः प्रमाद चेष्टित कर्म उभयलोक विरुद्ध माना जाता था।[5] जहाँ प्रमाद चेष्टित कर्म उभय लोक विरुद्ध था वहीं अप्रमाद चेष्टित कर्म के आचरण का परिणाम शुभ माना जाता था। सुख एवं आनन्द के हेतु शुभ कार्य से विष भी अमृत हो जाता है अयश भी सुयश में परिणत हो जाता है एवं दुर्वचन भी सुवचन का रूप ले लेता है।[6] सुकृत के ही आधीन उपभोग एवं परिभोग रूपी सुख समझे जाते थे।[7] भगवती सूत्र में धार्मिक कृत्यों एवं विचारों से युक्त कर्म को सत् कर्म बताया गया है जिसका परिणाम शुभ दायक माना जाता था।[8] इसी ग्रंथ में एक अन्य स्थान पर उल्लेख है कि अपने किये गये पाप कृत्यों के ही परिणाम स्वरूप लोग दुख के

---

१ इपि० इंडि० ४ पृ० ११८, १३ पृ० २१८।
२ वही १४, पृ० २७८।
३ सम० क० ७ पृ० ७२१, ८ पृ० ८११, ८२५, ९, पृ० ९५५ ५६।
४ वही ७ पृ० ६११।
५ वही ७ पृ० ७१९ २० ७२२ ७२४, ९, पृ० ९३०।
६ वही ७ पृ० ६१२ ७२२।
७ वही ६ पृ० ५८७ ८८, ९ पृ० ८६२ ६३ ९४१।
८ भगवती सूत्र १२।२।४४३।

भागी बनते हैं और इन पाप पूर्ण कृत्यों के नष्ट हो जाने पर ही सुख का उपलब्धि कर सकते है।[1]

कर्मवाद की भावना अति प्राचीन काल से हो चली आ रही है। रामायण में भी कर्म फल का वर्णन प्राप्त होता है। जिस तरह का कर्म होगा परिणाम भी उसी तरह का भोगना पड़ेगा। यहाँ बताया गया है कि कौसल्या को पुत्र वियोग सम्भवत इसलिए हुआ होगा कि उन्होंने पूर्व जन्म में स्त्रियों का पुत्रों से विग्रह कराया होगा।[2] महाभारत में भी बताया गया है कि जो दोनों लोकों (यह लोक तथा परलोक) को प्राप्त करने का आकांक्षी हो उसे धर्माचरण में मन लगाना चाहिए।[3] अष्टाध्यायी से भी पता चलता है कि सुकर्म से पुण्य फल मिलता है।[4] अच्छे-बुरे कर्म करने वालों के लिए विशेष शब्द थे यथा—पुण्यकृत सुकर्मकृत, पापकृत आदि।[5] मार्कण्डेय पुराण में उल्लिखित है कि कर्म की शक्ति मानव की सबसे बड़ी शक्ति है। यही उसकी सबसे बड़ी विजय है तथा इसीलिए तो स्वर्ग के देवता भी पृथ्वी पर मनुष्य देह में जन्म लेना चाहते है।[6] आगे यह भी कहा गया है कि जिन मनुष्यों का चित्त, इन्द्रिय और आत्मा अपने वश में है एवं जो कर्म करने में उद्यत है उसके लिए स्वर्ग में या पृथ्वी में कुछ भी ऐसा नहीं है जो ज्ञान और कर्म की उपलब्धि से बाहर हो, जिसे वे चाहें तो न जान सकें या न पा सकें अथवा न पहुँच सकें।[7] जो मानव कर्म करुणा से प्रेरित है, जिसमें अभिमान या कपट का भाव नहीं है उसमें कर्म का बन्धन नहीं होता। उसे करने वाले मनुष्य की आत्मा भी शुद्ध हो जाती है।[8] अभिलेखों से भी ज्ञात होता है कि सातवीं से बारहवीं शताब्दी में उत्तर भारत में पुण्य अपुण्य कृत्यों का परिणाम स्वर्ग लोक एवं नरक लोक प्राप्ति माना जाता था।[9] इस प्रकार कर्मवाद का सिद्धान्त प्राचीन काल की अनुपम उपलब्धि है।

---

१ भगवती सूत्र १०।२।३९६।

२ रामायण २।५३।१०, नून जात्यन्तरे तात स्त्रियः पुत्रैर्वियोजिता। जनन्या मम सौमित्रे तदद्यैतदुपस्थितम्।

३ सुखमय भट्टाचार्य–महाभारत कालीन समाज पृ० २७२।

४ अष्टाध्यायी ६।२।१५२।

५ वासुदेवशरण अग्रवाल–पाणिनि कालीन भारतवर्ष, पृ० ३७९।

६ मार्कण्डेय पुराण ५७।६२ ६३।

७ वही २०।३६-३७।

८ वही ९५।१५।

९ वासुदेव उपाध्याय—सोसियो-रिलिजस कन्डीशन आफ नार्थ इंडिया पृ० १८५।

परलोक (देवलोक तथा नरकलोक)

हरिभद्र के काल में कम की परिणति ही परलोक की आधारशिला समझी जाती थी। समराइच्च कहा में उल्लिखित है कि पुण्यकम से चक्री, देवता तथा सिद्धिगामी महान सुख भोगते हैं।[१] यहाँ सुकृत कम के फलस्वरूप मृत्योपरांत जिस देवलोक की प्राप्ति[२] में विश्वास किया जाता था उस देवलोक का वर्णन इस प्रकार से किया गया है—वहाँ किरण युक्त सुन्दर महल दर्शनीय है, गोशीष, सरस रक्त चन्दन, नाना प्रकार के सुगन्धित द्रव्य तथा पुष्प वहाँ भरे पड़े हैं, काला अगरु तथा अन्य सुगन्धित धूप वहाँ सुगन्ध फैलाते रहते हैं जगह-जगह पर उत्तम देव वृक्ष तथा पुष्प मालाएँ वहाँ दिखाई देती हैं, वहाँ के देव मनोहर सुरूप महान ऋद्धि वाले द्युतिमान यशस्वी, बलवान प्रतापी, सुखी उत्तम वस्त्र एवं आभूषण वाले दिव्य शरीर वाले उत्तम वर्ण तथा गन्ध वाले तथा अपने तेज से दसों दिशाओं को प्रकाशित करने वाले होते हैं संगीत नाटक आदि से युक्त दिव्य भोगों को भोगते हुए आनन्द से रहते हैं, वहाँ का आकाश शीतल, मन्द सुगन्ध वायु से व्याप्त तथा कीचड एवं अन्धकार से रहित होता है, जल और वृक्ष सदा पुष्पित रहते हैं वहाँ इन्द्रियों के विषय मनोज्ञ होते हैं शृंगार युक्त सुन्दर देवियों के साथ क्रीडा करते हुए वहाँ के देव गतागत समय को भी नहीं जानते।[३]

समराइच्च कहा में स्वर्गलोक के साथ नरक लोक में भी विश्वास प्रकट किया गया है। तत्कालीन समाज में जहाँ सत्कम की परिणति (मृत्यु के पश्चात) देवलोक मानी जाती थी वहीं पाप कम की परिणति नरक लोक की प्राप्ति समझी जाती थी।[४] अतः शुद्ध भाव से तपस्या एवं उत्तम काय न करने पर नरक की प्राप्ति में विश्वास किया जाता था।[५] यहाँ हरिभद्र सूरि ने पाप कृत कम दोष से नरक लोक में विभिन्न प्रकार की यातनाओं का उल्लेख इस प्रकार किया है—वहाँ नारकी को कभी वज्रशिला पत्थरों पर विदीर्ण किया जाता था तो कभी नित्य दीपित कुम्भीपाक तथा लौह के कड़ाहों में पकाया जाता था पवत यन्त्रों से आरा से तथा अन्य तेज शस्त्रों से चीरा जाता था, भयंकर त्रिशूल से भेदा जाता था वज्रतुण्ड वाली पक्षियों से नोचा जाता था तपे हुए बड़े बड़े रथों में

---

१ सम० क० ३, पृ० २२१।

२ वही ६, प० ५३३ ५८३, ८ पृ० ८१४।

३ वही ९ प० ९६६ से ९६९ तक।

४ वही ३, प० २२१ ५ पृ० ३८६, ७, प० ७२२, ८, प० ८०५।

५ वही ८, प० ८५३ से ८५५।

आँखों को निकाल कर जाड़ा जाता था नरकपालों द्वारा नारकी के हिंसात्मक कार्यों के प्रतिफल में शरीर के तिल के बराबर-बराबर टुकड़े काटकर पक्षियों को लुटा दिया जाता था, झूँठ बोलने का फल जिह्वा छेदन था पर द्रव्य हरण करने का फल असिचक्र से शरीर को काटकर गृद्धों को लुटाना था परस्त्री गमन का फल नरकाग्नि में सतप्त समर के वृक्ष से आलिंगन कराकर यन्त्रणा से अधिक कष्ट पहुँचाया जाता था, परिग्रह आदि दोषों के फलस्वरूप कौए कुत्ते और गृद्धों से शरीर का मांस नोचा जाता था, मांस भक्षण के परिणाम स्वरूप स्वशरीर का ही मांस काटकर उसे ही खिलाया जाता था और मद्यपान के फलस्वरूप शीसा को तपा कर पिलाया जाता था।[1] यहाँ इस वर्णन में स्पष्ट रूप से जैन प्रभाव दिखाई पड़ता है।

समराइच्च कहा में नारकी की यातनाओं के साथ-साथ नरकलोक के स्वरूप का भी उल्लेख है। नरकलोक अन्दर से गोलाकार और बाहर से चौरस है, नीचे उस्तरे के समान है, नित्य अन्धकारयुक्त चन्द्र और सूर्य की ज्योति से रहित होता है, चर्बी रुधिर तथा पिव के कीचड़ से उसका तल लिप्त रहता है, वह नरक अशौच पदार्थों की सृष्टि, परम दुर्गन्ध वाला कबूतर और अग्नि के वर्ण वाला अत्यन्त ही दुःसह तथा स्पर्श वाला होता है थिम थिम शब्द वाले क्षार जल चल-चल शब्द वाला ठण्डी रस धर धर शब्द वाले चर्बी का कीचड़, फिस फिस शब्द वाले पिव कीटों से व्याप्त रुधिर के झरने, जलती हुई चिनगारियाँ कण-कण शब्द से युक्त असि के वृक्ष फुंकार करने वाले भयंकर सर्प रेत मिश्रित आँधी और कर-कर करते हुए यंत्र वहाँ अपना स्वच्छन्द प्रदर्शन करते रहते हैं इसके अतिरिक्त नरक में तीक्ष्ण गोखरू के काँटे से भरे हुए विषमार्ग होते हैं असि, चक्र भाला बर्छी त्रिशूल आदि वहाँ प्रचुर मात्रा में भरे रहते हैं वह स्थान काँटों के वन माला दुर्गन्धित तथा दूषित रस वाला कठोर स्पर्श वाला और दुष्ट शब्दों से युक्त होता है। यहाँ समराइच्च कहा में नरकलोक के स्वरूप के साथ ही नारकी के स्वरूप का भी वर्णन इस प्रकार किया गया है—नारकी वर्ण से 'अत्यन्त काले बेडौल रोम वाले भयंकर भय प्रदान करने वाले होते हैं। वे सदा डरते रहते हैं सदा उद्विग्न रहते हैं तथा सदा परम अशुद्ध सम्बद्ध नरक के भय का अनुभव करते रहते हैं नरक की वेदनाएँ विचित्र कर्म जनित और दारुण होती हैं यथा—उत्तमांगों का छेदन शूलवेध, विषम जिह्वा रोग, अस्थि छेद, तप्त हुए ताँबे आदि का पान वज्रतुण्डों से भक्षण अंगों का छेदन, गर्वीले हिंसक जीवों का भय हड्डी निकालना, तपाई

१ सम० क० ८ पृ० ८५३ से ८५५ तक।
२ वही०, प० ०६५–६६।

हुइ लोहे की स्त्री से आलिंगन, चारों तरफ से शस्त्राघात, जलती हुई शिला पर गिराया जाना तथा इसके अतिरिक्त और भी अतुलनीय उष्ण और शीत की वेदना होती है।[१]

प्राचीन भारतीय परम्परा में वदिक काल से ही परलोक में विश्वास किया जाता था। ऋग्वेद में एक स्थान पर ग्यारह देवों को स्वर्ग का देवता बताया गया है।[२] इसी प्रकार अथर्ववेद में भी स्वर्ग तथा पृथ्वी पर रहने वाले देवों की कल्पना की गयी है।[३] वदिक काल के विचारों में परलोक की कल्पना का आभास होता है जिसमें स्पष्ट होता है कि उस समय के लोगों में लोक-परलोक की भावना विद्यमान थी। सभी आस्तिक सम्प्रदायों में इस लोक के अतिरिक्त परलोक में भी विश्वास किया जाता था। जीव अपने पूर्व कृत कर्म के अनुसार सुख एवं दुःख को प्राप्त होता है।[४] इसी विचार को लेकर जैन बौद्ध तथा वैदिक सम्प्रदाय में स्वर्ग-नरक की मान्यता स्वीकार की गयी है।

जैन मत में हिंसक परिग्रही लोभी मुनि निन्दक मिथ्याभाषी परस्त्री लम्पट तथा चोर आदि नरक के पात्र माने गये हैं जिनके विभिन्न प्रकार के पापपूर्ण कृत्यों का फल समराइच्च कहा में गिनाया गया है जिसका वर्णन नरक गति के अन्तर्गत तत्त्वार्थ सूत्र में भी आया है कि नारकी और देवों का उपपात (देवता अथवा नारकी जिस नियत स्थान में उत्पन्न होते हैं उसे उपपात कहा गया है) जन्म से होता है।[५] नारकी जीवों के निवास स्थान को नरक भूमि कहा गया है। उस भूमि के सात विभाग माने गये हैं यथा—रत्नप्रभा (रत्नों की अधिकता वाला भाग) शर्करा (कंकण पत्थर वाला भाग) बालुका प्रभा पंक प्रभा धूम्रप्रभा तथा तमप्रभा।[६] ये नरकवास निरन्तर अशुभतर लेश्या अशुभतर परिणाम अशुभतर देह एवं पीडा वाले हैं।[७] उन नरकवासों में नारकी जीव परस्पर दुःख पैदा करने वाले होते हैं।[८] इसी ग्रन्थ में देवों के चार निकाय

---

१ सम० क० ९ पृ० ९५६।
२ ऋग्वेद १।१३९।११ १०।१५८।१।
३ अथर्ववेद १०।९।१२।
४ ऋग्वेद १।१६४।१९ गरुण पुराण २।१४।१८, महाभारत—दान पर्व ७१। ८१।
५ तत्त्वार्थ सूत्र २।३५।
६ वही २।१।
७ वही २।३।
८ वही २।४।

बताए गये हैं—कल्पोत्पन्नपर्यन्त चार निकायों के देवता अनुक्रम से दस, आठ, पाँच और बारह भेद वाले होते हैं।[1] आगे बताया गया है कि भवनपति से ईशानपर्यन्त तक के देव मनुष्य सदृश शारीरिक सुख भोगने वाले होते हैं।[2] शेष देवों में दो-दो कल्पवासी देव अनुक्रम से स्पर्श, रूप, रस और शब्द द्वारा विषय सुख भोगते हैं।[3] व्याख्या प्रज्ञप्ति के छठें उद्देशक में नरकस्थ पृथ्वी कायिक जीव की सौधर्म आदि देवलोक में उत्पत्ति होने की चर्चा है तथा सातवें उद्देशक में स्वर्गस्थ पृथ्वी कायिक जीव की नरक में उत्पत्ति होने की बात कही गयी है।[4] इससे स्पष्ट होता है कि जैन विचारधारा में परलोक के अन्तर्गत स्वर्ग एवं नरकलोक की मान्यता थी जो क्रमशः पुण्य एवं अपुण्य कृत्यों की परिणति समझी जाती थी।

महाभारत में भी कर्म के आधार पर परलोक के अस्तित्व में विश्वास प्रकट किया गया है।[5] गीता में भी भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को समझाते हुए कहते हैं कि पापाचारी तथा नराधमों को मैं बार-बार घोर नरक में गिराता हूँ। अतः हे अर्जुन! काम, क्रोध तथा लोभ यह तीन प्रकार के नरक के द्वार आत्मा का नाश करने वाले हैं और इन तीनों विकारों से दूर हुआ जीव परम गति को प्राप्त होता है।[6] पुराणों में भी परलोक की बात पुष्ट होती है। मार्कण्डेय पुराण में महारौरव की व्याख्या करते हुए बताया गया है कि वह तांबे जैसी लाल रंग जलती हुई भूमि का लोक है निरन्तर धू-धू करता हुई अग्नि अपने ताप से उसे तपाया करता है।[7] स्वर्ग और नरक दोनों ही परलोक अन्तर्गत थे। पाणिनि ने भी महारौरव का उल्लेख किया है[8] जिसे नरकलोक माना गया है। पतञ्जलि ने भी ऐसे कार्यों को जो परलोक जप के साधन हैं स्वर्ग्य कहा है।[9] इसीलिए ब्राह्मण अधिक जप करते थे[10] और अग्नि के समक्ष

१ तत्त्वार्थ सूत्र ४।३।

२ वही ४।८।

३ वही ४।९।

४ जैनसाहित्य का वृहद् इतिहास भाग १ पृ० २०८।

५ सुखमय भट्टाचार्य—महाभारत कालीन समाज पृ० २७२।

६ गीता १६।२०–२१–२२।

७ मार्कण्डेय पुराण १२।४–५।

८ अष्टाध्यायी ६।२।३८।

९ महाभाष्य ५।१।१११, पृ० ३४५।

१० वही ३।१।३२ पृ० ६४।

तप करते थे।[1] अभिलेखों से ज्ञात होता है कि सातवीं से बारहवीं शताब्दी में भी उत्तर भारत में स्वर्ग और नरकलोक के विचार विद्यमान थे।[2] उस समय स्वर्गलोक का महत्त्व इस लोक की अपेक्षा अधिक था इसीलिए स्वर्ग प्राप्ति के लिए राजाओं द्वारा भूमि-दान दिया जाता था।[3] धार्मिक कृत्य ही स्वर्ग प्राप्ति का कारण समझा जाता था।[4] किन्तु अनैतिक कृत्यों का फल नरकलोक की प्राप्ति समझा जाता था।[5]

इस प्रकार हम देखते हैं कि उस काल में परलोक की भावना विद्यमान थी। परलोक दो तरह का माना जाता था—स्वर्ग एवं नरकलोक। पुण्य एवं सत्कर्मों का फल देवलोक तथा अपुण्य एवं दुष्कृत्यों का परिणाम नरकलोक था जहाँ जीव को नाना प्रकार के कष्ट भोगने पड़ते थे। समराइच्च कहा में नरक और नारकीय लोगों का वर्णन यह स्पष्ट करता है कि उस समय समाज में व्याप्त हिंसा, चोरी, व्यभिचार आदि दुष्कर्मों की तरफ से घृणा पैदा करके लोगों को अहिंसा सत्य अचौर्य एवं सदाचार की ओर आकर्षित करना था।

शकुन

समराइच्च कहा के उल्लेखानुसार तत्कालीन समाज के लोग शुभ एवं अशुभ सूचक शकुन में भी विश्वास करते थे। पुरुष की दाहिनी भुजा तथा दाहिनी आँख एवं स्त्री की बायीं आँख फड़कने पर शुभ शकुन की सम्भावना में विश्वास विश्वास किया जाता था।[6] इसके अतिरिक्त असमय में पुष्प का खिलना शास्त्रों के अनुसार अशुभ की सम्भावना में विश्वास किया जाता था।[7] जैन सूत्रों में अनेक शुभ एवं अशुभ शकुनों का उल्लेख मिलता है। अनेक वस्तुओं का दर्शन शुभ तथा अनेक का अशुभ माना जाता था। रोगी विकलांग आतुर वैद्य कषाय वस्त्रधारी धूल में धूसरित, मलिन शरीर वाले जीर्ण वस्त्रधारी बायें

---

१ महाभाष्य २।१।१५ पृ० ५५।

२ वासुदेव उपाध्याय—दी सोसिओ रिलिजस कंडीशन आफ नार्थ इण्डिया, पृ० १८९।

३ इपि० इंडि० ३ पृ० २६६।

४ वही ११ पृ० ८।

५ वही ४ पृ० १३३ १२ पृ० २४।

६ सम० क० २ पृ० १२४ ४ पृ० ३४० ८ पृ० ७६२ ५ पृ० ४०९—'एत्थन्तरम्मि फुरियं मे दाहिण भुयाये। तओ मये चिंतियं। न अन्नहारिसिवयण ति हायव्व मणेईण। अणुकूला सउण संघाओ।

७ वृहत्कल्प भाष्य १५४७ ४८ आधनियुक्ति भाष्य ८२–४।

हाथ से दायें हाथ की ओर जाने वाले स्नेहाम्यक्त श्वान कुब्जक और बौने गर्भवती नारी बड्ड कुमारी (जो बहुत समय तक कुमारी हो), काष्ठभार का वहन करने वाले आदि के दर्शन को अशुभ माना जाता था जिनके दर्शन से कार्य की सिद्धि में अविश्वास प्रकट किया जाता था। पक्षियों में जवूक, चाम मयूर भरद्वाज और वकुल शुभ माने जाते थे। यदि वे दक्षिण दिशा में दिखाई पड़े तो सब सम्पत्ति का लाभ समझना चाहिए।[1]

शकुन का उल्लेख स्मृतियों में भी किया गया है। दक्ष स्मृति में गुरुजनों का दर्शन, दर्पण या घन में मुख दर्शन केश सवारना आँख में अंजन लगाना तथा दूर्वास्पर्श आदि मंगल सूचक बताया गया है।[2] गोभिल स्मृति में बताया गया है कि यदि वेदज्ञ ब्राह्मण सौभाग्यवती स्त्री गाय, वेदी (जहाँ आहुति के लिए अग्नि जलाई जाती हो) आदि दिखाई पड़े तो विपत्ति से छुटकारा मिल जाता है।[3]

पराशर ने भी वैदिक यज्ञ करने वाले, कृष्ण पिंगल वर्ण की गाय, राजा, संन्यासी तथा समुद्र को शुभ सूचक बता कर प्रतिदिन उनका दर्शन करने की बात कही है।[4] इसी प्रकार गोभिल स्मृति में बहुत-सी वस्तुओं का देखना अशुभ माना गया है यथा—पापी, विधवा अछूत, नंगा तथा नकटा आदि।[5] यद्यपि समराइच्च कहा में पुरुष की दाहिनी आँख और दाहिनी भुजा तथा स्त्री की बायी आँख फड़कना शुभ तथा अकाल कुसुमोद्गम अशुभ सूचक शकुन बताया गया है फिर भी उपरोक्त साक्ष्यों से स्पष्ट होता है कि शुभ एवं अशुभ शकुन में लोगों का विश्वास था चाहे वह किसी भी रूप में रहा हो।

तन्त्र मन्त्र

हरिभद्र कालीन समाज के लोग तन्त्र मन्त्र में भी विश्वास करते थे। समराइच्च कहा में मन्त्र जाप से महाविद्या की सिद्धि में विश्वास प्रकट किया गया है।[6] मन्त्र जाप से पिशाचिका का प्रकट होना इस बात को सिद्ध करता है कि उस समय के लोग भूत प्रेत में विश्वास करते थे। समराइच्च कहा में पिशाचिका

१ व्यवहारभाष्य १।२।
२ दक्षस्मृति २।३०।
३ गोभिलस्मृति २।१६३ ६५।
४ पराशर स्मृति १२।४७।
५ गोभिल स्मृति २।१६३–६५।
६ सम० क० ५ पृ० ४४३, ४४६ ४४९।

में उल्लिखित अजितवला विद्या से की जा सकती है जिसकी सिद्धि से सम्पूर्ण आपत्ताओं के समाप्त होने में विश्वास किया जाता था। उत्तराध्ययन टीका में एक अन्य स्थान पर वताली विद्या का भी उल्लेख है। कहा जाता है कि इस विद्या के प्रभाव में अचेतन काष्ठ भी खड़ा हो जाता और चेतन की भांति प्रवृत्ति करने लगता था। अशनिघोष विद्याधर अपनी कन्या सुतारा को इस विद्या के द्वारा हरण करके लाया था।[1] वेगवती विद्या भी अपहरण करने के काम में प्रयुक्त समझी जाती थी।[2] इन सभी विद्याओं की सिद्धि के लिए मन्त्र का जाप करना पड़ता था। वशीकरण मन्त्र को पाणिनि ने 'बन्धन ऋषि' अर्थात मन को बांधने वाला वेद मन्त्र कहा है।[3]

अभिलेखों से ज्ञात होता है कि ७०० ई० से १२०० ई० तक के काल में तन्त्र और मन्त्र का विशेष प्रचार था। समाज में लोग अनेक प्रकार के तान्त्रिक पूजन एवं जादुई शक्ति में विश्वास करते थे।[4]

गुरुमहत्व

समराइच्च कहा में गुरु की महत्ता में भी विश्वास प्रकट किया गया है। गुरु ही परलोकोपकार का कारण तथा शाश्वत सिद्धि का हेतु समझा जाता था।[5] गुरु की निन्दा अथवा उसकी आलोचना करना धर्म विरुद्ध समझा जाता था।[6] गुरु की वन्दना एवं पूजा धर्म लाभ का कारण समझा जाता था।[7] गुरु देवता को साक्षी करके समाज में विवाह आदि पुण्य सम्बन्ध स्थापित किये जाते थे।[8] गुरु की आज्ञा के अनुसार ही आचरण करने पर अलंघनीय को भी लांघ जाने में विश्वास करता था।[9] गुरु ही ज्ञान का मुख्य कारण था जिस ज्ञान को प्राप्त कर लेने पर सभी अपने उद्देश्य को प्राप्त कर सकते थे।

---

१ उत्तराध्ययन टीका १८ पृ० २४२।
२ वही १८ पृ० २४७।
३ वासुदेवशरण अग्रवाल—पाणिनि कालीन भारतवर्ष पृ० ३७९।
४ वासुदेव उपाध्याय—दी सोसिओ रिलिजस कन्डीशन आफ नार्थ इण्डिया पृ० १८३।
५ सम० क० ७ पृ० ६१९ २० ६ पृ० ५७६ ७७।
६ वही ६ पृ० ५७५।
७ वही ४, पृ० २२१ ५, पृ० ४०५ ४७० ६ पृ० ५६७ ७ पृ० ६३५ ८, पृ० ७५२ ८३६, ८४५ ९ पृ० ९१७ ९२८ ९७२।
८ वही ७ पृ० ६७६ ७७ ९२।
९ वही ७ पृ० ६२६ ८ पृ० ८०२–३, ८१२ ९ पृ० ८९३ ९४।

गुरु महत्व एव उसके आदर सत्कार का उल्लेख धर्मसूत्रों में भी मिलता है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में वर्णित है कि गुरु का आदर ईश्वर की भांति करना चाहिए।[1] मनु ने भी गुरु के प्रति आदर भाव रखने की बात कही है।[2] रामायण में गुरु को प्रज्ञा चक्षु प्रदान करने वाला बता कर उसे माता पिता से भी श्रेष्ठतर कहा गया है।[3] राम ने माता पिता की ही भांति गुरु को भी अर्चना का पात्र बताया है।[4] जैन ग्रन्थ भगवतीसूत्र में भी गुरु (धर्मगुरु) तथा जिन की पूजा का उल्लेख है।[5] ये सभी साक्ष्य समराइच्च कहा में उल्लिखित गुरु के महत्त्व एव उसकी पूजा का समर्थन करते हैं। इस प्रकार स्पष्ट होता है गुरु का महत्व सभी धार्मिक परम्पराओं में समान रूप से मिलता है। गुरु ही ज्ञान विज्ञान का कारण था जिसके सहारे व्यक्ति सदाचार का आचरण करते हुए लोक एव परलोक में सुख का भागी होता था।

आतिथ्य सत्कार

समराइच्च कहा के उल्लेखानुसार हरिभद्र के काल में अतिथ्य सत्कार का बहुत महत्त्व समझा जाता था। आगन्तुकों को आसन प्रदान कर कुशल क्षेम पूछा जाता था।[6] साधु-साध्वियों का स्वागत सत्कार उनकी वन्दना-पूजा आदि के साथ किया जाता था।[7] आतिथ्य सत्कार के साथ-साथ शरणागत की रक्षा को भी धार्मिक महत्त्व दिया जाता था।[8]

भगवती सूत्र में भी अतिथि सत्कार का उल्लेख कई स्थानों पर किया गया है।[9] किसी साधु सन्यासी के आ जाने पर लोग उठकर अगवानी लेते तथा

---

१ आपस्तम्ब धर्मसूत्र १।२।६।१३।

२ मनु० २।७२।

३ रामायण, २।१११।३।

४ वही २।३०।३३।

५ भगवती सूत्र, १।३।३०।

६ सम० क० १ पृ० १२-१३, ५ पृ० ४०२ ३ ४४३ ६ पृ० ५४९ ५५२।

७ वही ३ पृ० १८१ २०० ४ पृ० २८२ ५ पृ० ३६६ ४७३ ६, पृ० ५६४ ७ पृ० ६१०।

८ वही ५ पृ० ३८५।

९ भगवती सूत्र १२।१।४३८, १५।१।५४१ १५।१।५५७।

आपिशल शिक्षा सूत्र—सम्पादक—युधिष्ठिर, भारतीय प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान अजमेर स० २०२४।
आवश्यक चर्णी—जिनदास मणि कृत, रतलाम, १९२८।
आवश्यक सूत्र—टीका, मलय गिरि, रतलाम, १९२८ तथा आगमोदय समिति बम्बई, १९१६।
आवश्यक नियुक्ति दीपिका—सूरत १९०९, तथा चूर्णी रतलाम १९२८।
आदिपुराण—जिनसेन कृत—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी—भाग १ १९५१ तथा भाग २, १९६५।
औपपातिक सूत्र—टीका अभयदवकृत—द्वितीय संस्करण, वि० स०१९
उपमितिभवप्रपंचा कथा—सिद्धर्षिकृत—स० पी० पीटसन १८९९।
उत्तराध्ययन—स० ज० शार्पेण्टियर उपासला १९२२।
उत्तराध्ययन टीका—बम्बइ १९३७।
उत्तररामचरित—भवभूति कृत—मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी १९६३।
उवासग दसा—स० पी० एल० वद्य, पूना १९ १८८९ ९०।
ऐतरय ब्राह्मण—स० टी० आफ्रेक्ट बान (ज त्रिव द्रम १९४२।
कठोपनिषद—निर्णय सागर प्रेस बम्बई १९३०।
कथाकोष—अनुवादक सी० एच० टानी लंदन १८
कथा सरित्सागर—सामदेवकृत—अनुवादक सी० ५
काशिका वृत्ति—बनारस १९३१।
कामन्दक नीतिसार—स० गणपति शास्त्री, ि
कामसूत्र—वात्स्यायन कृत—जयमंगला टीका बम्बई १९००।
कादम्बरी—बाणभट्टकृत—चौखम्भा संस्कृत रि १९५० ५१ तथा अंग्रेजी अनुवाद—सी० १८९६।
कुमारपाल चरित—हेमचन्द्र कृत पूना १९३६।
कुट्टनीमतम—दामोदर कृत—बनारस १९२४।

कर्पूरमंजरी—राजशेखरकृत—कैम्ब्रिज १९०१ तथा सं० राजकुमार आचार्य, बनारस, १९५५।
कूर्मपुराण—सं०, नीलमणि मुखोपाध्याय कलकत्ता १८९० तथा भाग १ और २ संस्कृत संस्थान बरेली, १९७०।
कृत्यकल्पतरु—लक्ष्मीधर कृत—सं०, कं० वी० रंगस्वामी आयंगर बड़ौदा १९४१ ५३।
कुवलयमाला कहा—उद्योतन सूरि बड़ौदा, १९२७।
कालिदास ग्रन्थावली—(रघुवंश, कुमारसम्भव, मेघदूत अभिज्ञानशाकुन्तल, मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशी)—सं० सीताराम चतुर्वेदी अखिल भारतीय विक्रम परिषद, काशी, सं० २००७।
किरातार्जुनीयम—भारविकृत—निर्णय सागर मुद्रणालय, बम्बई, १९५८।
कालिकापुराण—वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई।
काव्य मीमांसा—राजशेखर कृत—सं०, कं० यस० रामस्वामी शास्त्री बड़ौदा १९३४ तथा बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना।
कल्पसूत्र—बम्बई १९३८ तथा श्री अमर जनागम शोध संस्थान सिवाना १९६८।
कृत्य रत्नाकार—चंडेश्वर कृत—कलकत्ता १९२५।
कुमारपाल प्रतिबोध—जिनमण्डन कृत—गायकवाड आरियन्टल सीरीज १४, १९२०।
गौतम धर्मसूत्र—चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस वाराणसी १९६६।
गोपथ ब्राह्मण—कलकत्ता १८७२।
गोभिल स्मृति—आनन्दाश्रम प्रेस पूना १९०५।
गोम्मटसार—जीव काण्ड—अंग्रेजी अनुवाद सहित—रामचन्द्र शास्त्रमाला, बम्बई, १९२७ २८।
चरक संहिता—भाग १ तथा भाग २—चौखम्बा विद्या भवन वाराणसी १९६२।
छान्दोग्य उपनिषद्—निर्णय सागर प्रेस बम्बई १९३० तथा गीता प्रेस गोरखपुर सं० १९९४।
जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति—टीका—शान्ति चन्द्र कृत बम्बई १९२०।
जैन सिद्धान्त बाल संग्रह—तृतीय भाग—जैन पारमार्थिक संस्था बीकानेर (राजस्थान) वि० सं० २००५।
जातक—कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस लन्दन १८९५ १९०७।

तत्त्वार्थ सूत्र--विवेचन कर्ता प० सुखलालजी सघवी--भारत जन मण्डल वर्धा तथा रायचन्द जैन शास्त्रमाला बम्बई १९३२।

तिलोय पण्णति--सालापुर सस्करण।

तिलक मजरी--धनपालकृत--निर्णय सागर प्रेस बम्बई १९०३।

तत्तिरीय ब्राह्मण--स० राजेन्द्रलाल, कलकत्ता १८५५ ७०।

तैत्तिरीय सहिता--सायण भाष्य सहित, पूना १९४०।

तैत्तिरीयारण्यक--स० हरिनारायण आप्टे पना १८९८।

तत्तिरीय उपनिषद--गीता प्रस गोरखपुर स० १९९४।

थेरिगाथा--स० रिजडेविडस ल्दन १९०९।

दशकुमार चरित--दण्डी कृत--चौखम्बा सस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, १९४८।

दशवकालिक चूर्णी--रतलाम १९३८।

दशवैकालिक सूत्र नियुक्ति सहित--बबई १९१८ १९५४।

दान प्रकाश--जाम नगर विक्रम स० १९९७।

दिव्यावदान--स० ई०बी० कावल तथा आर०ए० नील, कम्ब्रिज १८८६।

दीघनिकाय--पाली टेक्स्ट सोसायटी आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लदन १८९० १९११।

देशीनाममाला- हेमचन्द्र कृत--द्वितीय सस्करण--स० पी० वी० रामानुज स्वामी, विजयानगरम् १९२८।

धम्मपद--ओरियण्टल बुक सप्लाइग एजेंसी पूना १९२३।

नायाधम्मकहा--आगमोदय समिति बबई १९१९।

नाट्यशास्त्र--भरत मुनिकृत--चौखबा सस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, १९२९।

नीतिवाक्यामृत--सोमदेव सूरि कृत--प्रकाशक प० सुखलालशास्त्री दिल्ली १९५० ।

नैषधीयचरित--श्रीहर्षकृत--स०, यन० यम० पी० बबई १९३३।

निशीथ सूत्र--भाष्य तथा चूर्णी--स मनि ज्ञानपीठ आगरा १९५७ ६०।

पद्मपुराण--कलकत्ता १९५७ तथा गुरु मडल ग्रन्थ माला १८।

पन्नवन सुत्त--टीका मलय गिरि बबई १९१८ १९ ।

प्रबन्ध चितामणि--मेरुतुग --बबई १९३२ तथा सिंघी जन ग्रथमाला १।

प्रबोध चन्द्रोदय--कृष्णमिश्र कृत--निर्णय सागर प्रेस बबई १९०४।

प्रश्न व्याकरण--टीका अभयदेव बबई १९१९।

प्रज्ञापना सूत्र--टीका, मलयगिरि, बबई १९१२ १९।

प्रश्नोपनिषद्—गीता प्रेस गोरखपुर, संवत १९९४।
प्रियदर्शिका—रूपकृत, मद्रास १९३५।
पृथ्वीराज विजय—जयानक कृत—अजमेर १९४१।
पराशर स्मृति—वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई १९५८।
पारस्कर गृह्यसूत्र—सम्पादक, गोपाल शास्त्री चौखंबा संस्कृत सीरीज वाराणसी १९२६।
विद्धशाल भंजिका—राजशेखर कृत—संपादक जितेन्द्र विमल चौधरी कलकत्ता १९४३।
वृद्धहारीत स्मृति—आनन्द सागर प्रेस, संस्कृत ग्रंथमाला ४८ के अन्तर्गत।
वैखानस स्मार्त सूत्र—म०, डा० कलेण्ड, कलकत्ता १९२७।
वैशाख श्रौत सूत्र—कलकत्ता १९४१।
वृहत्कथा कोष—हरिषेण कृत—बम्बई १९४३।
विविध तीर्थ कल्प—जिनप्रभ सूरि कृत—सिंघी जनग्रंथ माला १० १९३४।
वैजयन्ती—यादव प्रकाश—मद्रास १८९३।
बौधायन धर्मसूत्र—चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस वाराणसी १९३४।
,, स्मृति—आनन्द सागर संस्कृत ग्रंथमाला ४८ के अन्तर्गत।
बार्हस्पत्य सूत्र—प्रकाशक—मोतीलाल बनारसीदास।
वृहदारण्यक उपनिषद्—गीता प्रेस, गोरखपुर संवत् २०१२।
वृहत् कल्पभाष्य—संघदास गणि कृत—टीका मलयगिरि और क्षेम कीर्ति—सं०, पुण्य विजय, आत्मानन्द जैन सभा, भावनगर, १९३३ ३८।
वृहत् कल्पभाष्यवृत्ति—आत्मानन्द जैन ग्रंथमाला।
वृहत् संहिता—वाराणसी १९५९, तथा प्रकाशक सुधाकर द्विवेदी, बनारस १८९५ ९७।
ब्रह्माण्ड महापुराण—श्री वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई १९०६।
ब्रह्मवैवर्त पुराण—श्री वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई १९०६, तथा कलकत्ता १९५५।
वराह पुराण—बम्बई १९०२।
वृहस्पति स्मृति—आनन्द सागर संस्कृत ग्रंथमाला ४८ के अन्तर्गत।
वसिष्ठ स्मृति—आनन्द सागर संस्कृत ग्रंथमाला ४८ के अन्तर्गत।
व्यवहार भाष्य तथा टीका—मलयगिरि भावनगर १९२६।
वृहत् कथा मंजरी—क्षेमेन्द्रकृत—बम्बई १९३१।
वृहत् कथा श्लोक संग्रह—बुद्धस्वामी कृत—पेरिस १९०८ १९२०।

व्याख्या प्रज्ञप्ति टीका —अभयदव कृत—आममान्य समिति, वम्बई १९२१।
बेणी सहार—भट्ट नागयण कृत—स० जीवान द विद्या सागर, कलकत्ता, १८७५।
वास स्मतियाँ—भाग १ तथा २, सस्कृत सस्थान बरली, १९६६।
भर्तृहरि शतक त्रयी—(नीति शतक शृगार शतक तथा वराग्य शतक) वम्बइ १९४६।
भगवती सूत्र—आगमोदय ममिति वम्बई १९२१।
भरद्वाज गृह्यसूत्र—स० जे० डब्लू० सल्मनस १९१३।
भविसयत्त कहा—धनपाल कत वडौदा १९२३।
भागवत पुराण—निणय सागर प्रेस, वम्बई १९४०।
मज्झिम निकाय—महाबाधि सभा, सारनाथ वाराणसी १९६४ तथा ल्दन १८८८, १८९९।
मनुस्मृति—चौखम्बा प्रकाशन, वाराणमी १९६५।
महाभारत–गीता प्रेस गारखपुर तथा भण्डारकर आरियण्टल रिसच इन्स्टीच्यूट, पूना १९३३, १९६६।
महाभाष्य पतजलिकृत—स० आम्यगर शास्त्री पूना तथा स०, यफ० कीलहान, बम्बइ १८९२ १९०६।
मानव घम शास्त्र—अग्रजी अनु० सर डब्लू० जास ल्दन १८२५।
मानव गृह्यसूत्र—स०, अष्टावक्र यफ० सेंटपीटसवग १८२५।
मालतीमाधव—भवभूतिकृत—निणय सागर प्रेस १९३६।
मानसोल्लास—सामेश्वरकृत—खण्ड १ २—गायकवाड ओरियण्टल सीरीज, बटौदा १९२५ १९३९।
मिलिन्द पन्ह—आक्सफाड यूनिवर्सिटी प्रेस, १८९०।
मार्कण्डेय पुराण—अनु० पार्जिटर बगवासी एडीशन, कलकत्ता १९०४ तथा सस्कृत सस्थान, बरेली १९६७।
मत्स्य पुराण—कलकत्ता १९५४ तथा (भाग १ २)—सस्कृत सस्थान बरेली, १९७०।
महावग्ग—स० जगदीश कश्यप, नालन्दा १९५६।
महावग्ग—हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, हिन्दी सस्करण।
मेघदूत—कालिदास कृत—टीका मल्लिनाथ कृत गापाल नारायण क०, वम्बइ १९४९।
महावीरचरित—भवभूतिकृत—बम्बई १९०१।

मनुस्मृति (मेधातिथि भाष्य सहित)—कलकत्ता १९३२ ३९।
यजुर्वेद संहिता—बम्बई १९२९।
यशस्तिलक—(पूर्व खण्ड तथा उत्तर खण्ड)—निर्णय सागर प्रेस बम्बई १९०१ तथा १९०३।
यशस्तिलक चम्पू महाकाव्य—महावीर जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी १९६०।
याज्ञवल्क्य स्मृति—चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी १९६७।
युक्तिकल्पतरु—भोजकृत सं० ईश्वरचन्द्र शास्त्री कलकत्ता १९१७।
योगिनीतन्त्र—प्रकाशक रसिक मोहन चट्टोपाध्याय, कलकत्ता।
रत्नावली—हर्षकृत—मद्रास १९३५।
राजतरंगिणी—कल्हणकृत—अनुवादक—आर० यस० पंडित, इलाहाबाद १९३५, तथा बम्बई १८९२।
राजप्रश्नीय सूत्र—आगमोदय समिति सूरत, तथा बम्बई १९२५।
रघुवंश—कालिदास कृत—चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी १९६१।
रामायण—वाल्मीकि कृत—कल्याण प्रेस, बम्बई १९ ५ तथा सं० वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री—निर्णय सागर प्रेस, बम्बई १९३०।
लीलावती—भास्कराचार्य-सम्पादक यच० सी० बनर्जी, कलकत्ता १८९३।
व्यास स्मृति—कलकत्ता, १८७६।
विनय पिटके महावग्ग—सं० जगदीश कश्यप नालंदा, १९५६।
विष्णु धर्मसूत्र—कलकत्ता तथा आक्सफोर्ड १८८१।
विष्णु धर्मोत्तर पुराण—बम्बई १९१२।
वायुपुराण—(प्रथम तथा द्वितीय खण्ड)—संस्कृत संस्थान बरेली १९६७ तथा गीता प्रेस गोरखपुर।
विपाक सूत्र—टीका—अभयदेव बड़ौदा, विक्रम संवत १९२२।
वासुदेव हिण्डी—प्रकाशक आत्मानन्द सभा, भावनगर।
व्यवहार सूत्र—भाष्य सहित सम्पादक—घासीलाल मुनि।
वाजसनेयी संहिता—सम्पादक—ए० वेबर, लंदन १८५२।
स्थानाङ्ग—मलय गिरि टीका—बम्बई १९१९।
समवायाङ्ग—आगमोदय समिति बम्बई सन् १९१८ २० ई०।
सर्व दर्शन संग्रह—भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट, पूना, १९२४।
सदेशरासक—अब्दुलरहमान-कृत—बम्बई १९४५।
समरांगणसूत्रधार—भोजकृत—बड़ौदा, १९२५।

समराइच्च कहा—हरिभद्रसूरि कृत—प० भगवानदास कृत सस्कृत छाया नुवाद सहित—जन सोमायटी, अहमदाबाद, भाग १,१९३८, भाग २,१९४२।

समराइच्च कहा—हरिभद्रकृत, स० हमन जकोबी कलकत्ता, १९२६।

समराइच्च कहा—हरिभद्र कृत स०, यम० सी० मादी अहमदाबाद १९३५, १९३६।

सुमगल विलासिनी—पाली टक्स्ट सोसायटी लन्दन १८८६ १९३२।

सौर पुराण—पूना १९२४।

स्कन्द पुराण—आनन्द आश्रम मुद्रणालय पूना १९२४।

सयुत्त निकाय—पाली टेक्स्ट सोसायटी लन्दन १८८४ १९०४।

सूत्र कृताङ्ग टीका—वाराणसी, १९६४।

स्मृतिना समुच्चय—(अगिरा अत्रि स्मृति, अत्रि सहिता आपस्तम्ब औश नस गोभिल दक्ष देवल प्रजापति बृहस्पति, यम, लघुहारीत, वशिष्ठ, वेद व्यास, गखलिखित, शख शतातप सम्वत तथा बौधायन स्मृति आदि) सपादित विनयगणेश आप्टे, पूना १९२९।

श्रीमदभागवत पुराण—गीताप्रेस गोरखपुर, तथा पेरिस १८४०।

श्रीमदभगवदगीता—गीता प्रेस, गोरखपुर स० २०२०।

शखायन धमसूत्र—भण्डारकर आरियन्टल रिसच इन्स्टीच्यूट, पूना।

शतपथ ब्राह्मण—आक्सफोर्ड १८८२-१९००।

शक्तिसगम तत्र—गायकवाड आरियन्टल सीरीज।

श्वेताश्वरोपनिपद—शकर भाष्य सहित—गीता प्रेस गोरखपुर।

षडदशन समुच्चय—हरिभद्रसूरि कृत—एशियाटिक सोसायटी आफ बगाल कलकत्ता, १९०५।

हषचरित—बाणभट्ट कृत—अग्रेजी अनुवाद—ई० बी० कावल तथा यफ० डब्लू० थामस, लन्दन,१८९७, तथा निणय सागर प्रस बम्बई १९१२।

हरिवश पुराण—ज्ञानपीठ सस्करण, काशी १९६२ तथा क्षेमराज वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई, १९४७।

हरिभद्र सूरि चरितम—हरगोविन्द दास कृत—जन विविध साहित्य शास्त्र माला।

हितोपदेश—सपादक काशीनाथ पाण्डुरग परब, बम्बई।

त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित—हेमचन्द्र कृत—प्रसारक सभा भाव नगर, १९०५ ६ तथा—यच० यम० जानसन द्वारा अनूदित, बडौदा १९३१,३७,४९ ५४।

शातृधम कथा—टीका-अभयदेव कृत—आगमोदय समिति वम्बई १९१९ई०
तथा यन० सी० वद्य-पूना १९४० ।
ऋतु संहार—कालिदास कृत—बम्बई १९३८ ।
ऋग्वेद संहिता—वैदिक संशोधन मंडल पूना १९३६ १९४६ ।

आधुनिक सहायक ग्रन्थ

अग्रवाल, वासुदेवशरण—पाणिनिकालीन भारत वर्ष विहार राष्ट्र भाषा
परिषद्, पटना वि० सं० २०१२ ।
अग्रवाल वासुदेवशरण—कादम्बरी एक सांस्कृतिक अध्ययन—चौखम्बा
विद्या भवन वाराणसी १९५८ ।
अग्रवाल, वासुदेवशरण—हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन-विहार राष्ट्र
भाषा परिषद् पटना १९५३ ।
अग्रवाल वासुदेवशरण—प्राचीन भारतीय लोकधर्म नानोदय ट्रस्ट
अहमदाबाद, १९६४ ।
अग्निहोत्री, प्रभुदयाल—पतंजलि कालीन भारत, विहार राष्ट्रभाषा परिषद्
पटना १९६३ ।
आचार्य पी० के०—आर्कीटेक्चर आफ मानसार—आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी
प्रेस, १९३५ ।
अल्तेकर ए०यस०—राष्ट्रकूटाज एण्ड देयर टाइम्स—आरियन्टल बुक
एजेंसी पूना १९६७ ।
—प्राचीन भारतीय शासन पद्धति—भारतीय भण्डार, लीडर प्रेस,
इलाहाबाद १९५९ ।
" , —स्टेट एण्ड गवनमण्ट इन ऐंसियन्ट इण्डिया, दिल्ली, १९५८ ।
ओमप्रकाश—फूड एण्ड ड्रिंक्स इन ऐंसियन्ट इण्डिया—मुंशीराम मनोहर
लाल ओरियन्टल बुक सेलर्स एण्ड पब्लिशर्स दिल्ली १९६१ ।
अवस्थी, ए०वी० यल०—स्टडीज इन स्कन्दपुराण कैलाश प्रकाशन
लखनऊ १९६६ ।
इलियट एण्ड डाउसन—हिस्ट्री आफ इण्डिया एज टोल्ड वाई हर ओन
हिस्टोरियन्स वाल्यूम न० १, और न० २, लन्दन १८६६ ।
उपाध्याय भरत सिंह—बुद्ध कालीन भारतीय भूगोल—हिन्दी साहित्य
सम्मेलन, प्रयाग शक सं० १८८३ ।

उपाध्याय भगवतशरण—भारतीय कला और संस्कृति की भूमिका—रणजीत प्रिंटस एण्ड पब्लिशर्स, चांदनी चौक, दिल्ली, १९६५।
उपाध्याय वासुदेव—प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन, प्रज्ञा प्रकाशन पटना १९७०।
, —सोसिओ रिलिजस कण्डीशन आफ नार्थ इण्डिया चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी १९६४।
कनिंघम, अलेक्जेंडर—आर्कियालोजिकल सर्वे आफ इण्डिया ऐनुअल रिपोर्ट्स।
—ऐंसियण्ट ज्याग्राफी आफ इण्डिया लंदन, १८७१।
काणे पी०वी०—धर्मशास्त्र का इतिहास—हिन्दी अनुवाद (अनुवादक अर्जुन चौबे कश्यप)—भाग १ २ तथा ३ हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश लखनऊ।
काणे पी०वी०—हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र वाल्यूम १ से ५ तक भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट, पूना १९३० ६२।
कुमार स्वामी, ए० के०—यक्षाज, वाशिंगटन १९२८।
खरे सुशीला—प्राचीन भारतीय संस्कृति में सरस्वती काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी १९६६।
—गोपीनाथ कविराज अभिनन्दन ग्रन्थ अखिल भारतीय संस्कृत परिषद् लखनऊ सितम्बर १९६७।
गुप्त, परमेश्वरीलाल—गुप्त साम्राज्य का इतिहास–विश्वविद्यालय प्रकाशन चौक वाराणसी १९७०।
गोपाल लल्लन जी—इकोनामिक लाइफ आफ नार्दन इण्डिया मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली पटना वाराणसी १९६५।
घोषाल यू० यन०—ए हिस्ट्री आफ इण्डियन पोलिटिकल एडियाज आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस १९५९, तथा १९६६।
घुर्ये फेलिसिटेशन वाल्यूम—संपादक के० यम० कपाडिया पापुलर बुक डिपोट बम्बई ७।
जैन, गोकुलचन्द्र—यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन—भारतीय ज्ञानपीठ।
जैन जगदीशचन्द्र तथा मोहनलाल महता—जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग २—बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी, १९६६।
जैन, जगदीशचन्द्र—जैनागम साहित्य में भारतीय समाज चौखम्बा भवन चौक वाराणसी १९६५।
जैन हीरालाल—प्राचीन भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान—मध्य प्रदेश साहित्य परिषद् व्याख्यान माला भोपाल १९६३।

जैन, श्रीचन्द्र—हमारे पशु-पक्षी—आत्माराम एण्ड सस कश्मीरी गेट दिल्ली १९६७।

जैन श्रीचन्द्र—जैन कथाओं का सास्कृतिक अध्ययन, बोहरा प्रकाशन, जयपुर, १९७१।

जैन, कामताचन्द—जैन और बौद्ध आगमों में नारी जीवन सोहनलाल जैन धर्म प्रचारक समिति, अमृतसर, १९६७।

जैकोबी, हर्मन—स्टडीज इन जैनिज्म—जैन साहित्य संशोधक कार्यालय अहमदाबाद।

चक्रवर्ती, पी० सी०—आर्ट आफ वार इन ऐंसियन्ट इण्डिया यूनिवर्सिटी आफ ढाका १९४१।

चक्रवर्ती सी० एच०—दी तन्त्राज-स्टडीज इन दियर रिलिजन एण्ड-लिट रचर-पुन्थी पुस्तक कलकत्ता १९६३।

चकलादार एच० सी०—सोसल लाइफ इन ऐंसियन्ट इण्डिया—स्टडीज इन कामसूत्र—वृहत्तर भारत परिषद कलकत्ता १९२९।

चन्द्र, रायगोविन्द—प्राचीन भारत में लक्ष्मी प्रतिमा, हिन्दी प्रचारक सस्थान वाराणसी १९६४।

चौधरी गुलाबचन्द्र—पालिटिकल हिस्ट्री आफ नार्दन इण्डिया फ्राम जैन सोर्सेज (६५० १३००), सोहनलाल जैन धर्म प्रकाशक समिति अमृतसर १९६३।

टार्न डब्लू० डब्लू०—ग्रीक्स इन बक्ट्रिया एण्ड इंडिया कम्ब्रिज १९५१।

डे०, एन० एल०—ज्यॉग्राफिकल डिक्शनरी आफ ऐंसियन्ट एण्ड मेडिकल इंडिया, लन्दन १९२७।

टकाकुसू जे० ए०—रिकार्ड्स आफ बुद्धिस्ट रिलिजन ऐज प्रक्टिज्ड इन इंडिया एण्ड मलाया आर्कपिलागो बाई इत्सिंग आक्सफोर्ड १८९६।

दत्ता, बी० एन०—हिन्दू ला आफ इनहेरिटेंस—कलकत्ता १९६७।

दास गुप्त टी० सी०—ऐस्पेक्ट आफ बंगाली सोसायटी—कलकत्ता ११३५।

दास बेचर—जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग १ पार्श्वनाथ शोध सस्थान वाराणसी १९६६।

दीक्षितार—आर्ट आफ वार इन ऐंसियन्ट इंडिया—मकमिलन एण्ड कम्पनी लिमिटेड—लन्दन १९४८।

द्विवेदी, हजारीप्रसाद—प्राचीन भारत के कलात्मक मनोविनोद हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय बम्बई १९५८।

मजूमदार आर० सी०—सुवर्णद्वीप, पार्ट १—ढाका १९३७ पार्ट २, कलकत्ता १९३८ ।

मजूमदार जी० पी०—सोसिओ इकोनामिक हिस्ट्री आफ नादन इडिया कलकत्ता—१९६० ।

मजूमदार ए० के०—चालुक्याज आफ गुजरात, भारतीय विद्या भवन बम्बई १९५६ ।

मलाल शेखर—डिक्शनरी आफ पाली प्रापर नम्स, इडियन टक्स्ट सीरीज, लन्दन १९३७ ३८ ।

मुनि जिनविजय जी—हरिभद्राचायस्य समय निणय जन साहित्य सशाधक समाज पूना ।

यम० हिरियन्ना—भारतीय दशन की रूपरखा (हिन्दी अनुवाद)—राज कमल प्रकाशन, दिल्ली—१९६५ ।

मेहता, माहनलाल—जन आचार, पाश्वनाथ विद्याश्रम शाध सस्थान बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी १९६६ ।

मेहता मोहनलाल -जन दशन—श्री सन्मतिज्ञानपीठ आगरा, १९५९ ।

एव हीरालाल जन—जन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग ४—पाश्वनाथ विद्याश्रम शाध सस्थान—बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी १९६८ ।

महता रतिलाल—प्री बुद्धिस्ट इडिया—बाम्बे इक्जामिनर प्रस १९३९ ।

मेहता माहनलाल एण्ड डा० के० रिषभचन्द्र—प्राकृत प्रापर नेम्स पार्ट १ एल० डी०—इन्स्टीच्यूट आफ इन्डोलाजी अहमदाबाद १९७० ।

मकक्रिण्डिल—इनवेजन आफ इडिया—वेस्टमिनिस्टर कांस्टेबुल एण्ड क० १८९३ ।

—ऐंसियन्ट इडिया ऐज *डिस्क्राइब्ड बाई टोलेमी कलकत्ता* १९२७ ।

ऐंसियन्ट इडिया ऐज डिस्क्राइब्ड बाई मेगस्थनीज एण्ड एरियन कलकत्ता १९६० ।

मक्डोनल ए० ए०—वदिक माइथालोजी, स्ट्रसबग १८९७ ।

मक्डोनल ए० ए० एव कीथ—वदिक इडेक्स आफ नेम्स एण्ड सब्जक्टस, वाल्यूम १ २, मोती लाल बनारसी दास दिल्ली, पटना वाराणसी १९६७ ।

मिश्र, राजेंद्र लाल--ऐंटीक्विटीज आफ उडीसा, वाल्यूम १, कलकत्ता, १९६१।

मिश्र, शिव शेखर--मानसोल्लास एक सांस्कृतिक अध्ययन--चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी १९६६।

मोतीचन्द--सार्थवाह--बिहार राष्ट्र भाषा परिषद् पटना, १९६३।

,, --प्राचीन भारतीय वेश भूषा, भारती भण्डार, प्रयाग सं० २०१२।

यूल सर हेनरी--दी बुक आफ सर मार्कोपोलो--ट्रान्सलेटेड एण्ड एडीटेड बाई सर यच० यूल २ वाल्यूम लन्दन १९०३ तथा लंदन १९२०।

रैप्सन, ई० जे०--कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया, दिल्ली १९५५।

राय चौधरी, एच० सी०--पालिटिकल हिस्ट्री आफ इंडिया--कलकत्ता १९३८।

राव विजय बहादुर--उत्तर वैदिक समाज एवं संस्कृति भारतीय विद्या प्रकाशन, वारणसी, १९६६।

राव, गोपीनाथ--एलीमेन्टस आफ हिन्दू आइक्नोग्राफी मोतीलाल बनारसी दास दिल्ली पटना वाराणसी १९६८।

ला, बी० सी०--हिस्टारिकल ज्योग्राफी आफ ऐंसियन्ट इंडिया, पेरिस १९६८।

--ज्याग्राफी आफ अर्ली बुद्धिज्म--लंदन १९३२।

--ज्योग्राफिकल एसेज--लंदन १९३७।

--इंडिया ऐज डिस्क्राइब्ड इन दी अर्ली टेक्स्टस आफ बुद्धिज्म एण्ड जनिज्म--लन्दन १९४१।

लैगे जे० एच०--ट्रैवल्स आफ फाहियान--आक्सफोर्ड १८८६।

वाकर बेन्जामिन--हिन्दू वर्ल्ड, जार्ज एलेन एण्ड अनविन लिमिटेड, लंदन १९६८।

विद्याप्रकाश--खजुराहो--बम्बई १९६७।

वासल सी० जे० डी०--ग्रीक फिलासफी--ई० जे० ब्रिल लीडेन १९५९।

वाटर्स, थामस--आन युवान च्वांग्स ट्रैवेल्स इन ऐंसियन्ट इंडिया लन्दन १९०४५।

विंटरनित्स यम०--हिस्ट्री आफ इंडियन लिटरेचर भाग २--नयी दिल्ली १९७२।

सरकार डी० सी०--दी शक्ति कल्ट एण्ड तारा यूनिवर्सिटी आफ कलकत्ता १९६७।

सरकार डा० सा०—लक्ष्मी एण्ड सरस्वती इन आर्ट एण्ड लिटरेचर—यूनिवर्सिटी आफ कलकत्ता—१९७० ।

सरकार डी० सी०—स्टडीज इन दी ज्याग्राफी आफ ऐंसियन्ट एण्ड मेडिवल इण्डिया—मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली, पटना वाराणसी १९६० ।

सरकार डा० सी०—सलेक्ट इन्सक्रिप्सन्स, कलकत्ता १९४२ तथा मोतीलाल बनारसी दास दिल्ली पटना, वाराणसी १९६६ ।

सरकार डा० सी०—इण्डियन इपिग्रफिकल ग्लासरी, मोतीलाल बनारसीदास १९६६ ।

सचाऊ ई० सी०—अलबरुनीज इण्डिया वाल्यूम १ २ लंदन १९१० तथा १९१४ ।

स्टीवेंसन एस०—दी हर्ट आफ जैनिज्म मुन्शीराम मनोहरलाल, नई दिल्ली १९७० ।

सिकन्दर ज० सी०—स्टडीज इन दी भगवतीसूत्र रिसर्च इन्स्टीट्यूट आफ प्राकृत जैनालाजी एण्ड अहिंसा, मुजफ्फरपुर (बिहार) १९६४ ।

सिंहल सी० आर०—बिबलियोग्राफी आफ इंडियन क्वायन्स बम्बई १९५० ।

सिंह आर० सा० पी०—किंगशिप इन नार्दर्न इण्डिया (सन् ६०० १२००) मोतीलाल बनारसी दास १९६८ ।

सुकथांकर—वर्णित काल—बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी १९६३ ।

सेन, मधु—ए कल्चरल स्टडी आफ निशीथ चूर्णी, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी ।

शर्मा, दशरथ—अर्ली चौहान डायनेस्टीज एस० चन्द एण्ड कम्पनी दिल्ली जालन्धर–लखनऊ १९५९ ।

शर्मा आर० एस०—इण्डियन फ्यूडलिज्म, यूनिवर्सिटी आफ कलकत्ता १९६ ।

शर्मा आर० एस०—भारतीय सामन्तवाद—राजकमल प्रकाशन, दिल्ली १९७३ ।

शर्मा, ज० पी०—रिपब्लिक्स इन ऐंसियन्ट इण्डिया ई० जे० ब्रिल लाइडन १९६८ ।

शर्मा, बृजनारायण—सोशल लाइफ इन नार्दर्न इण्डिया मुन्शीराम मनोहरलाल नई सड़क दिल्ली १९६६ ।

शास्त्री, कैलाशचन्द्र—जैन धर्म, भारतीय दिगम्बर जैन संघ मथुरा १९६६ ।

शास्त्री के० ए० एन०—हिस्ट्री आफ इण्डिया आर साउथ इण्डिया मद्रास १९३० ।

शास्त्री, के० ए० नीलकण्ठ—दी चोलाज, यूनिवर्सिटी आफ मद्रास, १९५५।

शास्त्री, नेमिचन्द्र—हरिभद्र के प्राकृत कथा साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन प्राकृत जनशास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान, वैशाली, मुजफ्फरपुर १९५५।

शास्त्री नेमिचन्द्र—आदि पुराण में प्रतिपादित भारत श्री गणेश प्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला वाराणसी १९६८।

ह्यू, एफ० एव राफहिल, डब्लू० डब्लू०—चाऊ जू कुआ—सेंटपीटर्स वर्ग १९११।

हसन, अबू जैद एण्ड सुलेमान—एंसियन्ट एकाउन्टस आफ इण्डिया एण्ड चाइना लन्दन १७३३।

हापकिंस, ई० वाशबन—इपिक माइथालाजी, स्ट्रेसबर्ग १९१५।

हडाकी के० के०—यशस्तिलक एण्ड इंडियन कल्चर, सोलापुर, १९६८।

त्रिपाठी हरिहरनाथ—प्राचीन भारत में अपराध और दण्ड—चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, १९६४।

त्रिपाठी हरिहरनाथ—प्राचीन भारत में राज्य और न्यायपालिका—मोती लाल बनारसीदास दिल्ली पटना वाराणसी १९६५।

पत्र-पत्रिकाएँ

आर्कियालोजिकल सर्वे आफ इंडिया, एनुअल रिपोर्ट।

ओरियन्टल कान्फ्रेन्स बनारस।

एपिग्रफिया इण्डिका।

एपिग्रफिया कर्नाटिका।

इंडियन ऐण्टीक्वेरी।

इंडियन हिस्टारिकल क्वाटर्ली, कलकत्ता।

कार्पस इंस्क्रिप्शनम इण्डिकरम।

कुमायूँ आसाम डिस्ट्रिक्ट गजेटियर।

जर्नल आफ दी बाम्बे ब्रांच आफ रायल एशियाटिक सोसायटी, बाम्बे।

जर्नल आफ दी नुमिस्मेटिक सोसायटी आफ इण्डिया वाराणसी।

जर्नल आफ दी रायल एशियाटिक सोसायटी लन्दन।

जर्नल आफ दी एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल।

जर्नल आफ इण्डियन हिस्ट्री।

जर्नल आफ दी बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी।

डिस्टिक्ट गजेटियर पूनिया १९११ ।
पूना आरियण्टल ।
बाम्बे गजेटियर ।
भागलपुर विहार डिस्ट्रिक्ट गजेटियर ।
राजस्थान भारती, बीकानेर ।
जैन ऍटीक्वेरी ।

कोश

सस्कृत हिन्दी काश—आप्टे वामन शिवराम—मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली पटना वाराणसी ।
सस्कृत इगलिश काष--आप्टे वी० एस०--पूना १९६७ ।
हलायुध काष--म० जयशकर जाशी, पब्लिकेशन ब्यूरो, लखनऊ ।
पाइअ-सद्द महण्णवा (प्राकृत शब्द महार्णव)--प्राकृत ग्रन्थ परिषद् वाराणसी १९६३ ।



शब्दानुक्रमणिका

च

ज

●